जैन परम्परा और श्रमण संस्कृति

डॉ॰ हीरालाल जैन

सम्पादक

डॉ॰ धरमचंद जैन

संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण विकास और उससे उत्पन्न अवस्था है। भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। भारतीय संस्कृति की जैन परंपरा का प्रस्थान बिन्दु भगवान महावीर के तीर्थ-प्रवर्तन में दिखाई देता है। श्रमण संस्कृति के रूप में यह परंपरा महावीर पूर्व और आर्य संस्कृति की प्रतिष्ठा से बहुत पहले प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तक पहुंचती है।

डॉ० हीरालाल जैन ने 'जैन परंपरा और श्रमण संस्कृति' के इतिहास, जैन परंपरा के शलाका पुरुषों के सोच और उनकी जीवन पद्धति, जैनधर्म के सिद्धान्त और श्रमण संस्कृति की सामासिक प्रकृति पर प्रकाश डालते हुये जैनधर्म की विशेषताओं का उद्घाटन किया है। पुस्तक में सहस्राधिक पृष्ठों की उनकी शोध-सामग्री से लिये गये गिनेचुने निबन्धों का संकलन अपनी प्रामाणिकता के कारण महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है।

इस कृति में डॉ० हीरालाल जैन की सामासिक दृष्टि जैनधर्म की राष्ट्रीय चेतना को रेखांकित करती है और उसकी आत्मा 'अहिंसा' को भारतीय संस्कृति की प्राणधारा के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

Rs. 600/-

स्वर्गीय (डॉ०) हीरालाल जैन

जैन परम्परा और श्रमण संस्कृति

प्रणेता :

प्राच्यविद्याचार्य (डॉ०) हीरालाल जैन

संकलन संपादन :

प्रोफेसर (डॉ०) धरमचंद जैन

SHARADA

शारदा पब्लिशिंग् हाउस

दिल्ली-110035

2002

डॉ॰ हीरालाल जैन जन्मशताब्दी समारोह के अंतर्गत
शतवार्षिकी प्रकाशन की पांचवीं प्रस्तुति

संस्करण : 2002 ई.

मूल्य : 600/-

ISBN : 81-85616-82-5
© डॉ॰ हीरालाल जैन जन्मशताब्दी समारोह समिति, जबलपुर

प्रकाशक :
शारदा पब्लिशिंग् हाऊस
40, आनन्द नगर, इन्द्रलोक, दिल्ली-110035
दूरभाष : 3657538

लेसर टाईप सेंटिग :
प्रणव ग्राफिक्स
58, वीर नगर, जैन कालोनी,
दिल्ली-7 दूरभाष : 7252384

मुद्रक : सन्तोष ऑफसैट, दिल्ली-35

विषय-सूची

प्राक्कथन *(vii)*

अनुभाग—१ : शलाका पुरुष

आदि तीर्थंकर की प्राचीनता और उनके धर्म की विशेषता 1-6

पुण्य स्मृति—मल्लि, मुनिसुव्रत और नमि 7-10

भगवान् महावीर 11-15

भगवान् महावीर के जीवन से शिक्षा 16-19

भारतीय संस्कृति के निर्माण में भगवान् महावीर का योगदान 20+24

अनुभाग—२ : सिद्धान्त

सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार 27-45

सत्प्ररूणा-विभाग व वर्गणा-खण्ड-विचार 46-70

सासादन सम्यक्त्व के सम्बन्ध में शासन-भेद 71-97

वीरसेनविरचित जयधवला टीका
रचना का इतिहास जयधवलाटीका : मूल संस्कृत
छाया व भाषानुवाद 98-110

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की त्रुटिपूर्ति पर विचार 111-117

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की त्रुटिपूर्ति संबंधी प्रकाश
पर पुनः विचार 118-136

अनुभाग—३ : आचार्य

श्री कुन्दकुन्दाचार्य 139-143

महाकवि पुष्पदन्त के समय पर विचार 144-158

महाकवि पुष्पदन्त का समय 159-168

महाकवि पुष्पदन्त कृत महापुराण का परिचय 169-174

राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष की जैनदीक्षा 175-182

अनुभाग—४ : इतिहास
इतिहासातीत काल का नागपुर 185-190
गिरिनगर की चन्द्रगुफा 191-195
चंदेल राजा परमाल (परमार्दिदेव) के समय का
एक जैन शिलालेख 196-200
लंका में बौद्ध धर्म व जैन धर्म के प्रवेश का काल 201
महाकौशल की संस्कृति 202-205
अनुभाग—५ : संस्कृति
हमारी सांस्कृतिक संस्थाएँ और उनका भविष्य 209-211
रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसा 212-248
अमरकीर्तिगणिकृत षट्कर्मोपदेश 249-259
प्राकृत पंचसंग्रह का रचना काल 260-262
श्रुतकीर्ति और उनकी धर्मपरीक्षा 263-268
जैन साहित्य की विशेषता 269-278
अनुभाग—६ : भारतीय संस्कृति की प्राणधारा
अहिंसा 281-291
अहिंसा और अपरिग्रह की प्रतीक—महावीर जयन्ती 292-295
अहिंसा बनाम स्वदेश रक्षा 296-300
अहिंसा, जैन दर्शन और आधुनिक युग 301-306
क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई
मौलिक भेद हैं? 307-310
जैनधर्म की विशेषताएँ 311-313

प्राक्कथन

डॉ. हीरालाल जैन प्राच्यविद्या के विशिष्ट क्षेत्र जैन सिद्धान्त तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा तथा साहित्य के अप्रतिम और समर्पित विद्वान थे। प्राच्य भारतीय इतिहास, संस्कृति, भाषा शास्त्र और शिलालेखीय साहित्य की सर्वाधिक जटिल दिशा में उनकी उपलब्धि अद्वितीय है। दूसरी शताब्दी में आचार्यद्वय पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा रचित षट्खंडागम और आठवीं शती में वीरसेनाचार्य द्वारा लिखी उसकी धवलाटीका के भाष्य, भाषानुवाद और शास्त्रीय भूमिका के साथ सोलह ग्रंथों में डॉ. जैन की षट्खंडागम नामक कृति ऐतिहासिक है। जैनधर्म साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान के कारण जैन मनीषा में उनका योगदान अतुलनीय है।

डॉ. हीरालाल जैन ने अपने जीवनकाल में सहस्राधिक पृष्ठों की शोध-सामग्री प्राच्यविद्या जगत को प्रदान की है। षट्खंडागम के अतिरिक्त जैन परम्परा के वास्तविक स्वरूप को गहराई तक समझने के लिये उनके द्वारा लिखित "भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान" नामक ग्रंथ बेजोड़ है। इस ग्रंथ के कन्नड़ और मराठी में अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं और अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशनाधीन है।

डॉ. जैन ने उत्तरमध्ययुगीन लुप्तप्रायः अपभ्रंश साहित्य की विभिन्न विधाओं यथा— चरित काव्य, रूपक काव्य, नीति-अध्यात्मकाव्य कथा-काव्य के प्रचुर साहित्य को खोजकर उनका मूल्यवान सम्पादन किया तथा विस्तृत भूमिका और भाष्य के साथ उनकी पुनारचना प्रस्तुत की है। हमारी क्षेत्रीय भाषाओं और आधुनिक हिन्दी भाषा की साक्षात् पूर्वज के रूप में अपभ्रंश भाषा और साहित्य का उद्धार कर उन्होंने भारतीय चिंताधारा की परम्परा को शृंखलाबद्ध किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि अपभ्रंश साहित्य की रचना में

जैनधर्म प्रेरक तत्व हैं। साहित्यिक सौंदर्य और भाषिक विकास की दृष्टि से अपभ्रंश रचनाओं को आधुनिक आर्यभाषाओं का पूर्ववर्ती साहित्य प्रमाणित कर उन्होंने भारतीय आर्य भाषाओं के विकास और साहित्य की परम्परा को ऐतिहासिक महत्व प्रदान किया है।

डॉ. हीरालाल जैन ने अपने जीवनकाल में सहस्राधिक पृष्ठों की शोध सामग्री प्राच्य विद्या जगत को प्रदान की है। वे जीवन के अंतिम क्षणों तक अध्ययन-अध्यापन और बहुआयामी अनुसंधान के लिये समर्पित रहे। अनेक अभिनंदन ग्रंथों, स्मृतिग्रंथों और शोध पत्र-पत्रिकाओं में उनकी प्रकाशित मौलिक प्रतिपत्तियाँ बिखरी हुई हैं। प्राच्य विद्या सम्मेलनों में उन्होंने प्रतिवर्ष हिस्सेदारी की और शोध पत्र पढ़े। अनेक शोध गोष्ठियों में अध्यक्ष पद से महत्वपूर्ण वक्तव्य दिये। इनमें बहुत सी सामग्री अभी भी अप्रकाशित है। १९७३, मार्च १३, को उनके देहावसान के पश्चात् उनके शिष्यों और उनके पुत्र कुलपति प्रोफेसर प्रफुल्लकुमार मोदी ने इस सामग्री के प्रकाशन की योजना बनाई किन्तु कार्यसिद्धि नहीं हो सकी। तब से बहुत सी सामग्री डॉ. विमलप्रकाश जैन के पास दिल्ली में सुरक्षित रही। ५ अक्टूबर १९९९ को डॉ. हीरालाल जैन के जन्म के सौ वर्ष पूरे होने पर उनके परिजनों, शिष्यों और सुधी पाठकों की प्रेरणा से उनकी जन्म-शताब्दी वर्ष में अनेक आयोजनों के साथ शतवार्षिकी प्रकाशन का कार्य भी समारोह समिति द्वारा अपने हाथ में लिया गया।

डॉ. विमलप्रकाश जैन ने अपने पास सुरक्षित अप्रकाशित सामग्री समिति के पास जबलपुर भेज दी। उन्होंने ही अहमदाबाद में श्री शाह से चर्चा कर इस सामग्री के आधार पर पुस्तक प्रकाशन की प्रेरणा भी दी। इसी सामग्री में से चयन कर, सुधी पाठकों की रूचि के अनुरूप, इस पुस्तक का पांडुलेख तैयार किया गया है।

जैन परम्परा और श्रमण संस्कृति की विषय सामग्री छः अनुभागों में विभाजित है। शलाका पुरुष शीर्षक अध्याय में डॉ. हीरालाल जैन के लेख प्रथम और अंतिम तीर्थंकर ऋषभ और महावीर पर केन्द्रित हैं। इतिहास सम्मत तीर्थंकर त्रय मल्लिनाथ, मुनिसुब्रतनाथ और नमिनाथ का पुण्य स्मरण स्वतंत्र लेख में किया गया है। दूसरा अध्याय सिद्धान्त संबंधी विवेचन पर आश्रित है। सिद्धान्त का स्वरूप और उनके अध्ययन के अधिकारी से सम्बन्धित लेख के साथ सासादन सम्यकत्व पर दिगम्बर और श्वेताम्बर शासनों के मत पर विशद् विवेचन है। वीरसेनाचार्य रचित जैनागमों की धवला और जयधवला टीकापर दो स्वतंत्र लेख हैं। एक लेख में गोम्मटसार के कर्मकांड सम्बन्धी विवेचन पर पंडितों द्वारा उठाई गई आपत्तियों और उसकी त्रुटियों पर विशद् विवेचन प्रस्तुत

है। तीसरे अध्याय में जैनधर्म के प्रथम और महानतम आचार्य और उनकी संघव्यवस्था पर विद्वतापूर्ण लेख हैं। महापुराण के यशस्वी रचयिता और अपभ्रंश के भवभूति महाकवि पुष्पदंत का समय और उस पर गवेषणात्मक चर्चा करने के साथ महापुराण का शास्त्रीय परिचय दिया गया है।

चौथा अध्याय इतिहास शीर्षक से है। इस अध्याय के लेखों में इतिहास पूर्व नागपुर और सोरठ में गिरिनगर की चन्द्रगुफा पर ऐतिहासिक प्रकाश डाला गया है। चन्देलराज परमार्दिदेव कालीन जैन शिलालेख के ऐतिहासिक विश्लेषण की प्रस्तुति के साथ महाकौशल की संस्कृति पर एक शोध-परक लेख है। साथ ही श्रीलंका में बौद्ध तथा जैनधर्म के प्रवेश काल का विवेचन करने वाले एक आलेख को सम्मिलित किया गया है। पांचवां अध्याय जैन साहित्य और सांस्कृतिक संस्थाओं की विवेचनापरक लेखों से संबंधित है। अंतिम अध्याय में जैन परम्परा और भारतीय संस्कृति की प्राणधारा अहिंसा पर आश्रित पांडित्यपूर्ण लेख सम्मिलित किये गये हैं। यहीं दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में मतभेद को केन्द्र में रखकर दोनों शासनों पर चर्चा की गई है। अंतिम लेख में जैनधर्म की विशेषताओं को रेखांकित किया गया है।

जैनधर्म अपनी विचार और जीवन संबंधी व्यवस्थाओं के विकास में कभी किसी संकुचित दृष्टि का शिकार नहीं बना। उसकी भूमिका राष्ट्रीय दृष्टि से सदैव उदार और उदात्त रही है। उसका यदि कभी कहीं अन्य धर्मों से विरोध व संघर्ष हुआ है तो केवल उसी उदार नीति की रक्षा के लिये। जैनियों ने देश के किसी एक भाग मात्र को कभी अपनी भक्ति का विषय नहीं बनने दिया। जैनियों की पवित्र भूमि का विस्तार उत्तर में हिमालय, पूर्व में मगध और पश्चिम में काठियावाड़ तक रहा है। इन सीमाओं के भीतर अनेक मुनियों व आचार्यों आदि महापुरुषों के जन्म, तपश्चरण, निर्वाण आदि के निमित्त से उन्होंने देश की पद-पद भूमि को अपनी श्रद्धा व भक्ति का विषय बना डाला है। समस्त भारत देश आज की राजनीतिक दृष्टिमात्र से नहीं किन्तु अपनी प्राचीनतम धार्मिक परम्परानुसार भी जैनियों के लिये इकाई और श्रद्धाभक्ति का भाजन बना रहा। इस प्रकार प्रान्तीयता की संकुचित भावना एवं देश बाह्य अनुचित अनुराग के दोषों से निष्कलंक रहते हुए जैनियों की देशभक्ति सदैव विशुद्ध, अचल और स्थिर रही है।

डॉ. हीरालाल जैन, जैन परम्परा के गहन अध्येता और जैन दर्शन के प्रकांड पंडित रहे हैं। जैन दर्शन सम्बन्धी उनके विशद् विवेचन को अत्यंत संक्षिप्त रूप में रखते हुए हम कह सकते हैं कि विश्व के मूल में जीव और

अजीव ये मुख्य तत्व हैं। इनका परस्पर संपर्क पाया जाता है। इस सम्पर्क द्वारा ऐसे बंधनों का निर्माण होता है जिनके कारण जीवन की नाना दशाओं का अनुभव होता है। यदि यह संपर्क धारा रोक दी जाय तो जीव अपनी शुद्ध व मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकता है। जैन दर्शन के ये सात तत्व हैं—जीव, अजीव, आस्रय, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव और अजीव का निरूपण जैन तत्वज्ञान का विषय है। आस्रय व बंध का विवेचन कर्म सिद्धांत में आता है और यही जैन धर्मगत आचार शास्त्र कहा जा सकता है। जैन धर्मानुसार मोक्ष जीवन की वह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है जिसे प्राप्त करना समस्त धार्मिक क्रिया व आचरण का अंतिम ध्येय है।

डॉ. हीरालाल जैन का जन्म ५ अक्टूबर, १८९९ को धर्मप्राण दिगम्बर जैन मोदी परिवार में हुआ था। नरसिंहपुर जिले की गाडरवारा तहसील में सीतारेवा नदी किनारे छोटा सा किन्तु ऐतिहासिक ग्राम गांगई नाम से है जहाँ गोंडल राजाओं के वंशधरों की जमींदारी आज भी है। इसी गांव के सुप्रसिद्ध मोदी बालचंद की छः संतानों में द्वितीय पुत्र हीरालाल थे। शिक्षा और अध्ययन में विशेष रूचि के कारण, ज्ञान प्राप्ति की कष्टसाध्य यात्रा पर, हीरालाल जी ने गांगई से प्राथमिक, गाडरवारा से माध्यमिक, नरसिंहपुर से मैट्रिक, जबलपुर से बी.ए. तथा आगरा और इलाहाबाद से एम.ए. (संस्कृत), एल.एल.बी. तक शिक्षा प्राप्त की और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में शोधवृत्ति पाकर प्राचीन जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्व में शोध कार्य किया। सन् १९२४ में अमरावती के किंग एडवर्ड कालेज में संस्कृत के सहायक प्रोफेसर नियुक्त होने के बाद इन्होंने प्राचीन साहित्य और सिद्धान्त ग्रंथों की खोज और उनके सम्पादन का ऐतिहासिक कार्य सम्पादित किया। जैन श्रुतांग षट्खंडागम और उसकी धवला टीका का सम्पादन, भाष्य और हिन्दी अनुवाद के साथ शास्त्रागार से उसका उद्धार-कार्य ऐतिहासिक महत्व के रूप में प्रसिद्ध हुआ। पाहुड़ दोहा, सावयधम्म दोहा, करकंड चरिउ, णायकुमार चरिउ प्रभृत ग्रंथों के सम्पादन के साथ अपभ्रंश भाषा को क्षेत्रीय भाषाओं और आधुनिक हिन्दी भाषा के साक्षात् पूर्वज के रूप में प्रतिष्ठित करने तथा पाठालोचन एवं सम्पादन के मानक स्थापित करने के कारण नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें डी. लिट्. उपाधि से विभूषित किया गया। डॉ. जैन १९५४ में मारिस कालेज नागपुर के प्राचार्य पद से सेवा निवृत्त हुये।

बिहार सरकार के आग्रह पर इन्होंने मुजफ्फरपुर (वैशाली) में प्रस्तावित जैन शोध संस्थान स्थापित कर पांच वर्ष के अथक श्रम से उसे विकसित किया। यहीं उनके द्वारा सोलह खंडों में रचित षट्खंडागम का अंतिम भाग

लिखा गया। इसी अवधि में लिखित उनकी कृति "भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान" इतनी लोकप्रिय हुई कि अनेक भारतीय भाषाओं में उसका अनुवाद किया गया। इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशनाधीन है। जबलपुर विश्वविद्यालय के विशेष आग्रह पर आपने यहां के संस्कृत के प्रोफेसर और संस्थापक अध्यक्ष का पद १९६१ में स्वीकार किया तथा विभाग को संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग के गरिमामय अध्ययन केन्द्र के रूप में विकसित कर उच्च स्तरीय शोध का केन्द्र बनाया। यहीं उन्होंने तत्व समुच्चय के प्रणयन के अतिरिक्त १५० शोध पत्रों का प्रकाशन और सुगंधदशमी कथा, सुदंसण चरिउ, मयण पराजय, कहकोसु, जसहर चरिउ, वीर जिणिंद जरिउ का सम्पादन भी किया। डॉ. जैन ने जबलपुर स्थित भाषा संस्थान का पुनर्गठन कर उसे सक्रिय बनाया। वे भारतवर्ष में प्रकाशित अनेक ग्रंथमालाओं के सम्पादक मण्डलों में प्रधान सम्पादक भी रहे।

डॉ. हीरालाल जैन अपने मोहक व्यक्तित्व, अगाध ज्ञान और उद्‌भट प्रतिभा के कारण विद्वत्‌जनों में वंदनीय थे। वे तत्वदर्शन की विलुप्त विपुल सामग्री को प्रकाश में लाकर उसका सटीक विवेचन करने वाले प्रज्ञापुरुष थे। मार्च १३, १९७३ में उन्होंने देह त्याग किया। अक्टूबर ५, १९९९ को सौ वर्ष पूरे होने पर राष्ट्रीय स्तर पर उनकी जन्मशताब्दी वर्ष का आयोजन किया गया। इसी प्रसंग में उनकी अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाशित करने का संकल्प हुआ। प्रस्तुत ग्रंथ की सामग्री का चयन डॉ. विमलप्रकाश जैन के पास सुरक्षित डॉ. हीरालाल जी के अनेक लेखों का अंश है। इसे सुरक्षित रख प्रकाशनार्थ उपलब्ध कराने हेतु उन्हें हार्दिक धन्यवाद। सामग्री को पुस्तक के रूप में सम्पादित करने के लिये आदरणीय प्रफुल्ल कुमार मोदी ने मुझे निर्देश दिया। उनके दिशा निर्देश से मैंने इस कार्य को सम्पन्न किया। अपने कार्य में त्रुटियां मेरी हैं। सफलता मेरे अग्रज प्रोफेसर मोदी के खाते में।

(डॉ. धरमचंद जैन)

१३.०७.२००१
७६१, अग्रवाल कालोनी,
जबलपुर - ४८२ ००२.

अनुभाग—१

शलाका पुरुष

आदि तीर्थंकर की प्राचीनता और उनके धर्म की विशेषता

यह तो सुप्रसिद्ध है कि जैनधर्म के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ थे; किन्तु लोग बहुधा यह बात भूल जाते हैं कि जिस प्रकार ऋषभदेव जैनियों के तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार वे हिन्दुओं के शास्त्रपुराणों में भी भगवान के अवतार माने गये हैं। इस अवतार का पूर्ण विवरण हमें भागवत पुराण के पंचम स्कंध में मिलता है। यहां भगवान की पांच पीढ़ियों की वंश परम्परा इस प्रकार बतलाई गई है—स्वयंभू मनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि और ऋषभ। इनके अवतार के सम्बंध में भागवत पुराण में यह वृत्तान्त पाया जाता है कि आग्नीध्र के पुत्र राजा नाभि के कोई पुत्र नहीं था। अतएव उन्होंने अपनी भार्या मेरुदेवी के साथ पुत्र की इच्छा से यज्ञ किया। भगवान प्रकट हुए। ऋत्विजों ने उनकी स्तुति की और बतलाया कि उनके यजमान राजर्षि नाभि भगवान के समान ही पुत्र पाने की अभिलाषा से आराधना कर रहे हैं। भगवान ने कहा 'मेरे समान तो मैं ही हूं, अन्य कोई नहीं। तथापि ब्रह्मवाक्य मिथ्या नहीं होना चाहिये, अत: मैं स्वयं ही अपनी अंशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहां अवतार लूंगा।" इसी वरदान के फलस्वरूप भगवान ने ऋषभ के रूप में जन्म लिया।

बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभि: प्रसादितोनाभे: प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो बातरशनानां श्रमणानाम् ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावततार।

"यक्ष में परम ऋषियों द्वारा प्रसन्न किए जाने पर हे विष्णुदत्त परीक्षित् स्वयं श्री भगवान् (विष्णु) महाराजा नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।"

भागवत पुराण के इस कथन में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनका भगवान् ऋषभदेव के भारतीय संस्कृति में स्थान तथा उनकी प्राचीनता और साहित्यिक परंपरा से बड़ा घनिष्ट और महत्वपूर्ण संबंध हैं। एक तो यह

कि ऋषभदेव की मान्यता और पूज्यता के संबंध में जैन और हिन्दुओं के बीच कोई मतभेद नहीं है। जैसे वे जैनियों के आदि तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार वे हिन्दुओं के लिए साक्षात् भगवान विष्णु के अवतार हैं उनके ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीन काल में इतनी बद्धमूल हो गई थी कि शिवमहापुराण में भी उन्हें शिव के अट्ठाइस योगावतारों में गिनाया गया है। (शिवमहापुराण, ७, २, ९) दूसरी बात यह कि प्राचीनता में वह अवतार राम और कृष्ण के अवतारों में भी पूर्व का माना गया है। इस अवतार का जो हेतु भागवत पुराण में बतलाया गया है उससे श्रमण धर्म की परंपरा भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से निःस्सन्देह रूप से जुड़ जाती है। ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करना बतलाया गया है। भागवत पुराण में यह भी कहा गया कि—

अयमवतारो रजसोपप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थम्

अर्थात् भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ था। किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी संभव है कि 'यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात्: रजो धारण (मल धारण) वृत्ति द्वारा कैवल्य प्राप्ति की शिक्षा देने के लिए हुआ था'। जैन मुनियों के आचार में अस्नान, अदन्त धावन: मल परीषह आदि द्वारा रजोधारण संयम का आवश्यक अंग माना गया है। बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे। बुद्ध भगवान् ने श्रमणों की आचार प्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक वार कहा था—

नाहं भिक्खवे संघाटिकस्य संघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि, अचेलकस्य अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्य रजोजल्लिकमत्तेन.....जटिलकस्य जटाधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि।

(मज्झिमनिकाय ४०)

अर्थात्—हे भिक्षुओं, मैं संघाटिक के संघाटी धारणमात्र से श्रामण्य नहीं कहता, अचेलक के चेलकत्वमात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिकत्व मात्र से और जटिलक के जटाधारणमात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता।

अब प्रश्न यह होता है कि जिन वातरशना मुनियों के धर्मों की स्थापना करने तथा रजोजल्लिक वृत्ति द्वारा कैवल्य की प्राप्ति सिखलाने के लिए भगवान् ऋषभदेव की अवतार हुआ था वे कब से भारतीय साहित्य में उल्लिखित पाये जाते हैं। इसके लिये जब हम भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों को देखते हैं तो हमें वहां भी वातरशना मुनियों का उल्लेख अनेक स्थलों में दिखाई देता है।

ऋग्वेद की वातरशना मुनियों के संबंध की ऋचाओं में उन मुनियों की साधनायें ध्यान देने योग्य हैं। एक सूक्त की कुछ ऋचायें देखिये—

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत।।
उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आतस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यू यं मर्तासो अभि पश्यथ।।

(ऋग्वेद १०, १३६, २-३)

विद्वानों के नाना प्रयत्न होने पर भी अभी तक वेदों का निःस्सन्देह रूप से अर्थ बैठाना संभव नहीं हो सका है। तथापि सायणभाष्य की सहायता से मैं उक्त ऋचाओं का अर्थ इस प्रकार करता हूं :— अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपने की महिमा से दीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।

पूर्व लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (उत्कृष्ट आनन्द सहित) वायु भाव को (अशरीरी ध्यानवृत्ति) को प्राप्त होते हैं और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यंतर स्वरूप को नहीं (ऐसा वे वातरशना मुनि प्रकट करते हैं)।

ऋग्वेद में उक्त ऋचाओं के साथ 'केशी' की स्तुति की गई है—

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिसच्यते।।

(ऋग्वेद १०, १३६, १)

केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है केशी ही प्रकाशमान (ज्ञान-) ज्योति (केवलज्ञानी) कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनियों के वर्णन के आदि में की गई है जिससे प्रतीत होता कि केशी वातरशना मुनियों के प्रधान थे।

ऋग्वेद के इन केशी व वातरशना मुनियों की साधनाओं का भागवत पुराण में उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि, उनके अधिनायक ऋषभ और उनकी साधनाओं की तुलना करना योग्य है। ऋग्वेद के 'वातरशना मुनि' और भागवत के 'वातरशना श्रमण ऋषि' एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं इसमें तो किसी को किसी प्रकार के सन्देह होने का अवकाश दिखाई नहीं देता। केशी का अर्थ केशधारी होता है, जिसका अर्थ सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियों

को धारण करने वाले' किया है और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है। किन्तु उसकी कोई सार्थकता व संगति वातरशना मुनियों के साथ नहीं बैठती जिनकी साधनाओं का उस सूक्त में वर्णन है। केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं जिनकी साधना में मलधारण, मौन वृत्ति और उन्माद भाव का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें ही 'मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः' अर्थात् देव देवों के मुनि व उपकारी और हितकारी सखा कहा है। वातरशना शब्द में और मल रूपी वसन धारण करने में उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी संकेत है। इसकी भागवत पुराण में ऋषभ के वर्णन से तुलना कीजिए।

उर्वरित-शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगन परिधानः प्रकीर्णकेशः आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज। जडान्ध-मूक-बधिर-पिशाचोन्मादकवद् आवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनवृत्तः तूष्णीं बभूव। .....परागवलम्बमानकुटिल-जटिल-कपिश-केशभूरि भारोऽवधूत मलिन निजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत।

अर्थात् ऋषभ भगवान के शरीर मात्र परिग्रह बच रहा था। वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी बिखरे हुए केशों सहित आह्वनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश में प्रब्रजित हुए। वे जड़, अन्ध, मूक, बधिर पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष में लोगों के बुलाने पर भी मौन वृत्ति धारण किए हुए चुप रहते थे। ...सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भार सहित अवधूत और मलिन शरीर सहित वे ऐसे दिखाई देते थे जैसे मानों उन्हें भूत लगा हो।

यथार्थतः यदि ऋग्वेद के उक्त केशी संबंधी सूक्त को तथा भागवत पुराण में वर्णित ऋषभदेव के चरित्र को सन्मुख रखकर पढ़ा जाय तो पुराण में वेद के सूक्त का विस्तृत भाष्य किया गया सा प्रतीत होता है। वही वातरशना या गगनपरिधान वृत्ति, केश धारण, कपिश वर्ण, मलधारण, मौन, और उन्माद भाव समान रूप से दोनों में वर्णित है। ऋषभ भगवान के कुटिल केशों की परम्परा जैन मूर्तिकला में प्राचीनतम काल से आज तक अक्षुण्ण पाई जाती है। यथार्थतः समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभ की ही मूर्तियों के सिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। इस संबंध में मुझे केसरिया नाथ का स्मरण आता है जो ऋषभनाथ का ही नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं 'सटा जटा केसरयोः' सिंह भी अपने केशो के कारण केसरी कहलाता है।

इस प्रकार केशी और केसरी एक ही केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं। केशरियानाथ पर जो केशर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है यह नाम-साम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि, तथा भागवत पुराण के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि एवं केसरियानाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रंथ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।

केशी और ऋषभ के एक ही पुरुषवाची होने के उक्त प्रकार अनुमान करने के पश्चात् हठात् मेरी दृष्टि ऋग्वेद की एक ऐसी ऋचा पर पड़ गई जिसमें वृषभ और केशी का साथ-साथ उल्लेख आया है। यह ऋचा इस प्रकार है :—

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्
अवावचीत् सारथिरस्य केशी
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस
ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।।

(ऋग्वेद १०, १०२, ६)

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो 'मुद्गलस्य दृतागावः' आदि श्लोक उद्धृत किए गए हैं उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गौवों को चोर चुरा ले गए थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया जिनके वचन मात्र से वे गौएं आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ीं। प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ और केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है। किंतु फिर प्रकारान्तर से उन्होंने कहा है :—

अथवा, अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्टकेशो वृषभोऽवावचीत् भ्रशमशब्दयत् इत्यादि।

सायण के इसी अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथा प्रसंग को भारतीय दार्शनिक परम्परानुसार ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का मुझे यह अर्थ प्रतीत होता है।

'मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रहीं थीं वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की और लौट पड़ीं।'

तात्पर्य यह कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियां पराङ्मुखी थीं वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं।

इस प्रकार केशी और वृषभ या ऋषभ के एकत्व का स्वयं ऋग्वेद से ही पूर्णतः समर्थन हो जाता है। विद्वान इस एकीकरण पर विचार करें। मैं पहले ही कह चुका हूं कि वेदों का अर्थ करने में विद्वान अभी पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। विशेषतः वेदों की जैसी भारतीय संस्कृति में पद-प्रतिष्ठा है उसकी दृष्टि से तो अभी उनके समझने-समझाने में बहुत सुधार की आवश्यकता है। मुझे आशा है कि केशी, वृषभ या ऋषभ तथा वातरशना मुनियों के वेदान्तर्गत समस्त उल्लेखों के सूक्ष्म अध्ययन से इस विषय के रहस्य का पूर्णतः उद्घाटन हो सकेगा।

पुण्य स्मृति — मल्लि, मुनिसुव्रत और नमि

जिन महापुरुषों ने संसार का कल्याण किया है उनमें जैनपुराणों के अनुसार तीर्थङ्करों का स्थान सर्वप्रथम हैं। चौबीस तीर्थङ्करों में कालक्रमानुसार उन्नीसवें, बीसवें और इक्कीसवें तीर्थंकर मल्लि, मुनिसुव्रत और नमि हुए हैं। ये तीनों तीर्थंकर बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ से पूर्व हो चुके थे। अतएव इनका काल महाभारत काल से पूर्व सिद्ध होता है। नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई थे, अतएव वे महाभारत काल में हुए माने जा सकते हैं। उक्त तीनों तीर्थङ्करों की एक विशेषता है जिससे उनका एक साथ उल्लेख करना अपनी एक सार्थकता रखता है। इन तीनों तीर्थङ्करों का जन्म बिहार राज्य में ही हुआ था। मल्लि और नमि की जन्म नगरी मिथिला थी एवं मुनिसुव्रत की राजगृही। तीनों ने इसी प्रदेश में तपस्या की और अन्त में सम्मेद-शिखर पर्वत पर से निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार इनके पांचों कल्याणक— गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण— बिहार में ही हुए माने जाते हैं।

मल्लि तीर्थंकर की पौराणिक परम्परा विशेष महत्त्व की इस कारण और भी है क्योंकि इनके सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में यह मतभेद है कि वे पुरुष थे या स्त्री! दिगम्बर समाज में मान्य पुराणों के अनुसार अन्य तीर्थंकरों के समान मल्लि जन्म में पुरुष थे और उनका नाम मल्लिनाथ निर्दिष्ट किया जाता है। उनके विवाह की तैयारियाँ हुईं किंतु उसी समय उन्हें संसार से विरक्ति उत्पन्न हो गई और वे तपस्या में संलग्न हो गए। श्वेताम्बर परम्परा में भी मल्लि का विवाह नहीं हुआ। किन्तु श्वेताम्बर जैनों की मान्यता है कि वे अपने समय की राजकुमारियों में अनुपम सौंदर्य से युक्त कहीं गईं हैं। उनके सौन्दर्य के वर्णन से मिथिला के आसपास के अनेक राजाओं ने उनके वरण का प्रस्ताव किया। इस परिस्थिति में मल्लिकुमारी ने जिस प्रकार न केवल अपना कौमार्य अक्षुण्ण रक्खा किंतु राजाओं को भी एक शिक्षा प्रदान की; इसका सुन्दर वर्णन हमें छठवें अङ्ग 'ज्ञाता धर्म कथा' के आठवें अध्याय में मिलता है। मल्लिकुमारी ने अपनी अशोक वाटिका में एक सुन्दर विशाल भवन बनवाया और उसकी मध्यशाला में अपनी आकृति की एक मूर्ति स्थापित कराई। यह मूर्ति पोली थी और उसके शिर पर ढक्कन था। मल्लिकुमारी

प्रतिदिन अपने भोजन में से बचाकर एक कौर अन्न इस पुतली के भीतर डाल दिया करती थी। यह अन्न इस पुतली के भीतर सड़ा करता था।

मल्लि जी के साथ छै राजा विवाह करने के इच्छुक थे, किंतु पिता ने इन्कार कर दिया। अतः उन्होंने उन पर आक्रमण किया। मल्लि ने हिंसा न हो, इसलिए स्वयं उनसे निबटने का भार लिया। छहों राजाओं को बुलाया और वह पुतली दिखाई, जिसे देखकर वे मुग्ध हुए। किंतु जब उसे खोला गया तो उसकी दुर्गन्धि से वे घबड़ा गए। तब मल्लिकुमारी ने उन्हें समझाया कि "देखिए इस पुतली में मैं अपने भोजन का केवल एक कौर प्रतिदिन डालती हूं जिससे उसमें इतनी दुर्गन्ध उत्पन्न हो गई। तब भला! इस मानव शरीर की क्या अच्छाई है जो नाना प्रकार के मलमूत्रादि दुर्गन्धित पदार्थों का भण्डार ही है। आप लोग जो मेरे इस भौतिक शरीर पर इतने मोहित हो रहे हैं वह भी इसी प्रकार का मल-मूत्रादि अनेक महा दुर्गन्धी पदार्थों का भण्डार है। इस पर आप विचार कीजिए, और छोड़िए अपने मोह को, प्रयत्न कीजिए जीतने की अपनी कामवासना को।" कुमारी के इन वचनों से उन राजाओं की आत्मचेतना जागी और वे विरक्त होकर यथा समय उन के साथ ही साथ तपस्या के मार्ग में अवतीर्ण हुए।

मल्लि तीर्थङ्कर से सम्बन्ध रखने वाले श्वेताम्बरीय आख्यान दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में नहीं पाए जाते। मल्लि तीर्थङ्कर के स्त्री होने की बात भी वे नहीं मानते। दोनों सम्प्रदाओं में यह एक बड़ाभारी सैद्धान्तिक मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय में स्त्री-पर्याय से मुक्ति होने की बात मान्य नहीं है जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीमुक्ति की बात स्वीकार करता है। मल्लि तीर्थंकर के सम्बन्ध में उक्त दोनों सम्प्रदायों के साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए यह निर्णय किया जाना सम्भव नहीं कि मल्लि यथार्थतः पुरुष थे या स्त्री[१]! किंतु मल्लि पुरुष हों या स्त्री, मुख्य बात तो यह है कि उन्होंने इस भौतिक शरीर को हेय समझकर मुनिवृत्ति धारण की, केवलज्ञान प्राप्त किया, तीर्थङ्कर पद पाया एवं अपने उपदेशों के द्वारा जन कल्याण करते हुए मोक्षपद प्राप्त किया।

मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर का काल इस कारण विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जैन पुराणानुसार इन्हीं के तीर्थं काल में रामायण के आदि पुरुष रामचन्द्र हुए थे।

---

१. निस्संदेह तीर्थङ्कर मल्लि का उल्लेख जैनतेर साहित्य में अभी तक देखने में नहीं आया है। किंतु उनकी मूर्तियाँ प्राचीनकाल से बनती आई हैं और वे सब पुरुषाकृति में हैं—श्वेताम्बरीय मन्दिरों में भी पुरुषाकृति में हैं। उनसे भगवान मल्लि पुरुष ही प्रमाणित होते हैं। श्वेताम्बर भी तीर्थंकरों को पुरुष मानते हैं। मल्लि की स्त्री मान्यता को कालदोष बताते हैं। —सं०

राम का चरित भारतीय साहित्य संस्कृति की और इतिहास की एक विशेष सम्पत्ति है। इस देश के सभी धर्मों और सम्प्रदायों में रामचन्द्र को किसी न किसी रूप में अपना महापुरुष माना है। हिन्दू पुराणानुसार तो वे स्वयं विष्णु के अवतार थे। बौद्ध परम्परानुसार स्वयं बुद्ध ने अपने पूर्वभवों में रामरूप से (दशरथ जातक में राम-पण्डित नाम से) अवतार लिया था। जैन पुराणों में रामचन्द्र की गणना त्रेसठ शलाका पुरुषों में की गई है। वे नौ बलभद्रों में से आठवें बलभद्र रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। उनके छोटे भ्राता लक्ष्मण आठवें नारायण माने गए हैं जिन्होंने अपने समय के प्रतिनारायण रावण का वध किया। ये सब महापुरुष मुनिसुव्रत तीर्थंकर के परमभक्त कहे गए हैं। इस प्रकार मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर का काल राम के काल से पूर्व माना गया है।

नमि तीर्थङ्कर का विशेष महत्व इस कारण भी है कि वे उन राजा जनक के पूर्वजों में हुए थे, जिन्होंने ब्रह्मविद्या को जन्म दिया एवं अनेक उपनिषद्कालीन महर्षि मुनियों को आश्रय दिया। नमि तीर्थंकर का वर्णन महापुराण के अतिरिक्त हमें उत्तराध्ययन[१] सूत्र के नमिप्रवृज्या नामक अधिकार में भी मिलता है। यहां नमि के वैराग्य की एक सुन्दर छटा हमको देखने को मिलती है। नमिराजा अपने पुत्र को राज्य देकर अभिनिष्क्रमण कर रहे हैं। इस अवसर पर मिथिला में भारी कोलाहल सुनाई दे रहा है। ऐसा कोलाहल कि जिससे इन्द्र का आसन भी कम्पायमान हो उठा। इन्द्र जानना चाहता है कि क्या बात हुई है? वह ब्राह्मण का रूप धारण कर मिथिलापुरी में आता है और नमि से प्रश्न करता है कि मिथिला के इस कोलाहल का कारण क्या है? नमि उसे बतलाते हैं कि मिथिला में एक चैत्य वृक्ष था। बड़ा मनोरम, शीतच्छाया युक्त, पत्र-पुष्प-फलों से समृद्ध और नाना गुणों से सम्पन्न! एक आंधी के आवेग ने इस चैत्य वृक्ष को झकझोर डाला। इसी कारण उस वृक्ष के आश्रित पक्षीगण दुःखी और असहाय होकर इस प्रकार आक्रन्दन कर रहे हैं। इन्द्र ने इस रूप के मर्म को समझा, और फिर प्रश्न किया, हे भगवन्! यह अग्नि और यह वायु इस मन्दिर को ढहा रहे हैं क्या बात है? कि आप अपने अन्तःपुर की चिन्ता नहीं कर रहे। इसके उत्तर में राजर्षि नमि कहते हैं—

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो णत्थि किंचण।
मिहिलाए उज्झाणीए न मे उज्झइ किंचण।।

'मेरा कोई परिग्रह नहीं है और इसीलिए मैं सुख से जीता और निवास

१. 'उत्तराध्ययन' (९)में जिन नमि का नाम उल्लेख है वह चार प्रत्येक बुद्धों में से एक थे, और तीर्थंकर नमि से भिन्न थे। — सं०।

कर रहा हूँ। मिथिला जलकर भस्म हो जाय उससे मेरा कुछ नहीं जल सकता।' नमि के ये वाक्य भारतीय साहित्य में अमर हो गए। और वे वाक्य यहां की आध्यात्मिक भूमिका की आधारशिला बनकर आज तक साधु पुरुष के हृदय में गूंजते हुए सुने जाते हैं। संस्कृत साहित्य में हमें मिलेगा :—

मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते।।

(म० भा०, शांतिपर्व)

और पालि-साहित्य के 'महाजनक' जातक में मिलेगा :—

सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं।
मिथिलायऽय्हमानाय न मे किञ्चि अऽय्हथ।।

नमि तीर्थङ्कर की यह आध्यात्मिक देन अपरिग्रह, अनासक्ति वा वीतरागता की वृत्ति की उत्कृष्टतम भावना का प्रतीक है।

भगवान् महावीर

जैनियों के इतिहास में सब से महत्वपूर्ण स्थल महावीर स्वामी के जीवन काल का है। इनके जीवन की घटनायें जैन इतिहास का प्राण और उसकी कुंजियां हैं। यह इसलिये नहीं क्योंकि महावीर को कुछ विद्वान जैनधर्म के संस्थापक मानते हैं और इसलिये भी नहीं कि वे जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर थे और इस समय उन्हीं का तीर्थ प्रवर्त रहा है। पर उनके जीवन का अतुल गौरव इसमें हैं कि वे जैन-इतिहास शृंखला की एक अद्वितीय कड़ी है। उक्त शृंखला के दोनों छोरों का पता नहीं। एक छोर भूतकाल के अनादि में लुप्त है तो दूसरा भविष्य की अनन्तता में मग्न होने के कारण अग्राह्य है। ऐसी शृंखला का माप करने के लिये हमें उसकी एक ऐसी कड़ी की आवश्यकता है जो अपरिचित चौराहे पर पथ-निदर्शक-स्तम्भ का काम करे, जो हमें बतला सके कि किस ओर कौन सा मार्ग है। महावीर स्वामी जैनियों के भूतकाल को वर्तमान से जोड़ते हैं और उन्हें पृथक् भी करते हैं। इतिहासकार उनके जीवनकाल में प्रविष्ट होकर सुलभता से वर्तमान व भूतकाल की ओर गमन कर सकता है। पर बिना उस स्थल पर पहुंचे इतिहासकार को यह भी नहीं ज्ञात हो सकता कि उसके पग किस ओर पड़ रहे हैं।

पर जब हम अपनी साहित्यक और ऐतिहासिक खोजों व लेखों को इस महत्ता के सम्मुख रखते हैं तब हमें पता चलता है कि लेखकों ने उक्त विषय के महत्व को कितना समझा है और उसे कितनी हीन और उदासीन दृष्टि से देखा है। इस समय महावीर स्वामी के जीवन पर जो साहित्य प्रकाशित हो चुका है उसकी ओर दृष्टिपात कीजिये। इसमें सब से प्रथम और उच्च स्थान उन पुराणों का है जिनमें अन्य तीर्थंकारों आदि के जीवन चरित्रों के अतिरिक्त महावीर स्वामी का जीवन चरित्र भी वर्णित है। ये बड़े-बड़े पूज्य, ज्ञानी, प्राचीन आचार्यों की कृतियां हैं अतएव उनके एक-एक शब्द हमारे लिये सारगर्भित और मनन करने योग्य हैं। पर वे उपदेश प्रधान हैं अतएव उनमें हमें वे बातें उपलब्ध नहीं होती जिनकी आधुनिक इतिहास के लिये हमें आवश्यकता है। महावीर स्वामी ने कैसी घोर तपस्या की, कैसा अपार ज्ञान प्राप्त किया, और

जीवों को कैसा कल्याणकारी उपदेश दिया, ये पुराणों के मूल विषय हैं। पर भगवान् का जन्म किस समय हुआ, वे कैसी परिस्थिति में रहे, उन्होंने अपने सिद्धान्त कहां से पाये, किन-किन बातों पर उन्होंने विशेष जोर दिया, वे कहां-कहां रहे और कब इस धरातल को छोड़ अनन्त सुख के भागी हुए, ये सब बातें पुराणों में केवल गौड़ रूप में आई हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इनमें मतभेद भी पाया जाता है। अत: इन बातों का निश्चय करने के लिये गहन और तुलनात्मक अध्ययन और निष्पक्ष विवेक की आवश्यकता है। महावीर स्वामी के विषय में दिगम्बर जैनियों के ग्रंथों में कुछ है, तो श्वेताम्बर ग्रंथों में कुछ और इसके साथ-साथ बौद्ध और ब्राह्मण ग्रंथों के प्रमाण कुछ भिन्न ही हैं। इस तरह यह विषय विवादग्रस्त है। नये लिखे ग्रंथों में डॉ० जैकोबी की कल्पसूत्र की प्रस्तावना बहुत मार्के की है। उससे जैन इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित हो गया है। पर इसमें डॉक्टर साहेब ने श्वेताम्बर ग्रंथों व बौद्ध ग्रंथों के आधार पर यह मत स्थापित किया है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० स० से ५२७ वर्ष पूर्व नहीं हुआ था, जैसा कि प्रचलित निर्वाण संवत् से विदित होता है, किन्तु ई० पूर्व ४६७ में हुआ था। इसी मत का और अधिक प्रमाण देकर खूब समर्थन हाल में डॉ० जार्ल चार्पेन्टीअर ने अपने एक लेख में किया है।[१] महावीर की सारी जीवनी व घटनाओं का वर्णन पाश्चात्य लेखकों ने श्वेताम्बर ग्रंथों के आधार पर किया है। अत: उसमें दिगम्बर ग्रथों से बहुत भेद पड़ता है।

हिन्दी और गुजराती में कई पुस्तकें महावीर के जीवन-चरित्र पर लिखी गई हैं। पर ये सब या तो पौराणिक अनुवाद मात्र है या किसी एक दिगम्बर या श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों पर से रची गई हैं। इस कारण निष्पक्ष इतिहासकार के लिये वे दोनों ही अधूरी और अमान्य है।

इस प्रकार अभी तक एक भी ग्रंथ ऐसा नहीं है जो महावीर स्वामी की जीवनी के विषय में पूर्ण, सर्वोपयोगी, और समस्त उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों को लिए हुए कहा जा सके। यहां संक्षेप में उन बातों का संकेत कर देना उचित प्रतीत होता है जिन पर खोजपूर्वक प्रकाश डाले जाने की बड़ी आवश्यकता है।

(१) महावीर स्वामी का निर्वाण काल

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय के अनेक ग्रंथों, जैसे **'विक्रम प्रबंध' 'विचार सार प्रकरण' 'स्थविरावली'** आदि यह प्रतिपादन करते हैं कि

---

१. इंडियन एन्टीक्वेरी, जिल्द ४३।

वीर का निर्वाण विक्रम से पूर्व सं० ४८० (ई० पू० ५२७) में हुआ। प्रचलित निर्वाण संवत् से भी यही प्रमाणित होता है। पर, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, डॉ० जैकोबी और जार्ल चार्पेंटियर यह सिद्ध करते हैं कि निर्वाण ई० पू० ४६७ में हुआ। यह कह देना सरल है कि उनका मत गलत है पर जब तक उनके दिये हुए प्रमाण काटे नहीं जायेंगे, और उनके स्थान पर अन्य ज़ोरदार प्रमाण उपस्थित नहीं किये जायेंगे तब तक हमारा मत किसी मूल्य का नहीं गिना जा सकता।

(२) महावीर का जीवन घटनाओं के विषय में दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद

दिगम्बर ग्रंथ कहते हैं कि महावीर त्रिशला रानी की ही कुक्षि में उत्पन्न हुए थे, वे यावज्जीवन ब्रह्मचारी रहे, उनका कोई बड़ा भाई नहीं था, वे आदि से ही दिगम्बर मुनि हुए थे, इत्यादि श्वेताम्बर ग्रंथों से जाना जाता है कि महावीर स्वामी का जीव पहले देवनन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आया था और वहां से इन्द्र ने उसे त्रिशला की कुक्षि में रक्खा था। महावीर का विवाह एक यशोदा कुमारी से हुआ था जिससे उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई। महावीर के एक बड़े भाई नन्दिवर्धन नाम के थे। जब उन्होंने तपश्चरण प्रारम्भ की तब डेढ वर्ष तक वे वस्त्र धारण किये रहे और उसके पश्चात् दिगम्बर हुए, इत्यादि। इन बातों के ऊपर बहुत सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन और विचार कर उनमें सामञ्जस्य स्थापित किये जाने की आवश्यकता है। कई बातें इन घटनाओं में ऐसी हैं जो साम्प्रदायिक मतभेद से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती। तब फिर उनके एक सम्प्रदाय द्वारा उल्लिखित किये जाने और दूसरी सम्प्रदाय द्वारा छोड़ दिये जाने का क्या कारण है?

(३) महावीर स्वामी का महात्मा बुद्ध से सम्बन्ध

कुछ विद्वानों की धारणा थी कि दोनों महात्मा एक ही है। फिर यह निश्चय हुआ कि वे दोनों भिन्न-२ समसामयिक व्यक्ति थे। किसी-२ विद्वान नें गौतम गणधर और गौतम बुद्ध को एक अनुमान किया है। अब यह शंका प्रबल है कि बुद्ध का निर्वाण पहले हुआ था या महावीर का। डॉ० जैकोबी और जार्ल चार्पेंटियर के मत से बुद्ध का निर्वाण पहले हुआ। ये विद्वान पाली ग्रंथों के उस कथन को विशेष महत्व का नहीं समझते जिसमें कहा गया है कि "जब बुद्ध शाक्यभूमि के सामगाम में विचर रहे थे तब उन्होंने देखा कि पावा में 'नातपुत्र' (महावीर) का निर्वाण हो गया"। **'दर्शन सार'** की कुछ गाथाओं से विदित होता है कि बुद्ध पार्श्वनाथ तीर्थंकर की परम्परा में होने वाले 'पिहिताश्रव' नामक मुनि के शिष्य थे। उन्होंने भ्रष्ट होकर बौद्धमत चलाया। बौद्ध धर्म ग्रंथों में महावीर के सिद्धान्तों का बुद्ध द्वारा रुचिपूर्वक सुने जाने का वर्णन है। डॉ० रामकृष्ण

भण्डारकर ने कहा है कि "बुद्धदेव ने भी पहले एक बार जैनधर्म ग्रहण किया था। ऐसा बुद्ध ग्रंथों से पता चलता है"।[१] इन सब कथनों को एकत्र कर इन पर विवेकपूर्वक निष्पक्ष दृष्टि से विचार किये जाने की आवश्यकता है।

इसके सिवाय महावीर भगवान् का जन्म नगरी कुंडपुर या कुंडाग्राम व निर्वाण भूमि पावा के विषय में भी मतभेद है कि उनकी ठीक स्थिति कहां है। महावीर स्वामी ने कहां-कहां विहार किया और किन-किन राजाओं को जैनधर्म में प्रवृत्ति दिलाई, इसकी भी खोज करने की आवश्यकता है। कहा जाता है कि भगवान ने ३६३ पाखंड मतों का खण्डन किया। इन मतों का व उनके नेताओं से महावीर के वाद-विवाद का भी कहीं से कुछ स्पष्ट परिचय मिल सके तो इतिहास को बड़ा लाभ हो।

दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेदों पर विचार करने के लिये हमें दोनों सम्प्रदायों के तद्विषयक प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों की प्राचीन प्रतियों का परिशीलन करना चाहिये। इससे कई उलझने सुलझ सकती हैं। कहा जाता है कि दिगम्बर ग्रन्थों में महावीर स्वामी के विवाहित होने का कहीं उल्लेख नहीं है। डॉ० पीटरसन ने अपनी चौथी रिपोर्ट में जिनसेनाचार्य कृत हरिवंश पुराण के कुछ अंश उद्धृत किये हैं। इनको देखते हुए अचानक मेरी दृष्टि कुछ श्लोकों पर पड़ गई जिनमें महावीर स्वामी के विवाह का उल्लेख है। ये श्लोक मैं नीचे उद्धृत करता हूं :—

भवान्न किं श्रेणिक वेत्ति भूपतिं नृपेन्द्र-सिद्धार्थ-कनीयसी-पति।
इमं प्रसिद्धं जितशत्रुमाख्यया प्रतापवन्तं जितशत्रुमण्डलम्।।६।।
जिनेन्द्रवीरस्य समुद्भवोत्सवे तदागतः कुंडपुरं सुहृद्वृतः।
सुपूजितः कुंडपुररस्य भूभृता नृपोऽयमांखण्डल-तुल्य-विक्रमः।।७।।
यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीर-विवाह-मंगलम्।
अनेक-कन्या-परिवारयाऽऽरूहत्समीक्षितुं तुंगमनोरथं तदा।।८।।

इसका भावार्थ यह है :— गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कह रहे हैं कि हे श्रेणिक क्या तुम सिद्धार्थ नृप की छोटी बहिन के पति, प्रतापवान् जितशत्रु राजा को नहीं जानते, जो वीर भगवान् के यशोदा कुमारी के साथ होने वाले विवाहोत्सव को देखने के लिये अनेक कन्या व परिवार आदि सहित कुंडपुर आये थे।

इन पद्यों के ऊपर विचार किये जाने की आवश्यकता है कि हरिवंश पुराण में वे कहां से आये। प्राचीन प्रतियों का इस दृष्टि से मिलान करना चाहिए।

---

१. जै० हि० भाग ७, अं १२ पृ० १।

बुद्ध और महावीर के परस्पर छोटे व बड़े होने का प्रश्न भी बहुत शंकास्पद है। इस बात को ध्यान में रखकर मैंने महात्मा बुद्ध की जीवनी पढ़ी, उससे मतलब की निम्नलिखित बातें विदित हुईं :—

(१) बुद्ध २९ वर्ष की अवस्था में गृहत्याग कर संन्यासी हुए। इसी समय जब वे राजगृह पहुंचे तब वहां बिम्बसार (श्रेणिक) राज्य कर रहे थे। वे बुद्ध से जाकर मिले।

(२) बुद्ध की अवस्था जब ७२ वर्ष की थी तब देवदत्त ने उनके विरुद्ध अपना मत चलाया। उस समय अजातशत्रु (कुणिक-श्रेणिक का पुत्र) केवल राजकुमार था।

(३) बुद्ध की अवस्था जब ७८ वर्ष की थी तब अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बसार की हत्या कर डाली।

(४) बुद्ध ने ८० वर्ष की अवस्था में देहोत्सर्ग किया।

उपर्युक्त सब बातें बहुत सप्रमाण और प्रायः शङ्का से परे हैं। अब यदि हम अपने ग्रंथों में से यह मालूम कर लें कि जब श्रेणिक महावीर स्वामी के समवसरण में आये थे उस समय महावीर की आयु क्या थी और कुणिक द्वारा कैद होकर जब श्रेणिक की मृत्यु हुई उस समय महावीर की क्या आयु थी— उनका निर्वाण हो चुका था या नहीं, तो सहज ही बुद्ध और महावीर के तुलनात्मक समय का निर्णय हो जाये।

उपर्युक्त सारे कथन का तात्पर्य यह है कि महावीर स्वामी की जीवनी लिखना एक सहज काम नहीं है। हर कोई उस विषय में हाथ नहीं डाल सकता। इसके लिए विशाल अध्ययन, गंभीर परिशीलन, निष्पक्ष विचार और वैज्ञानिक विवेचन की आवश्यकता है। केवल-मात्र पौराणिक अनुवाद बहुत हो चुका। अब हमें एतद्विषयक प्रत्येक नई पुस्तक को उक्त कसौटी पर कसकर देखना चाहिये कि वह कहां तक ठीक उतरती है। यदि वह उपर्युक्त विवादग्रस्त प्रश्नों में से किसी एक को भी हल करती है तो वह सार्थक और उपयोगी व ज्ञानकोष वर्द्धक गिनी जा सकती है। यदि नहीं तो यह पिष्टपेषण के समान निरर्थक है। यह कसौटी हिन्दी लेखकों के लिये शायद अभी जरूरत से अधिक खरी प्रतीत हो पर हमारे साहित्य व इतिहास की आवश्यकताएं बिना उसे अङ्गीकार किये पूर्ण नहीं हो सकतीं।

भगवान महावीर के जीवन से शिक्षा

ईसापूर्व 800 से 200 वर्ष तक के काल में संसार की विचारधारा प्रकृति के अध्ययन से हटकर मानवीय जीवन के अध्ययन की ओर मुड़ गई थी। लाओत्से, कन्फ्यूशियस, बुद्ध, महावीर, जरथुस्त, सुकरात, प्लेटो जैसे महान दार्शनिकों ने मनुष्य की अंतरात्मा का परिशीलन किया। अपने अंतरंग पर विजय के कारण महावीर जिन कहलाये। दृढ़ता के साथ तप, संयम और आत्मशुद्धि एवं ज्ञानोपासना के द्वारा महावीर ने मनुष्य जीवन में ही देवत्व प्राप्त कर लिया था। अपनी अंतवृत्तियों से युद्ध कर उन पर विजय प्राप्त की और दूसरों को भी आत्म विजय के आदर्श की ओर बढ़ने का उपदेश दिया।

यह देश अपने इतिहास के प्रारंभ से आज तक इसी आदर्श पर अटल रहा है। जब हम मोहन्जोदड़ो और हड़प्पा के युग से लेकर वर्तमान काल तक के प्रतीकों, प्रतिमाओं व संस्कृति के अन्य स्मारकों पर दृष्टि डालते हैं, तब हमें इसी परम्परा का स्मरण हो जाता है कि जो कोई आत्मा के प्रभुत्व तथा उसके जड़ तत्व की अपेक्षा उत्कर्ष की भावना को स्थापित करता है वही आदर्श पुरुष होता है। आज लगभग चार-पांच हजार वर्षों से यही आदर्श हमारे देश के धार्मिक वातावरण में ओतप्रोत हो रहा है।

उपनिषदों का संसार प्रसिद्ध वाक्य है 'तत्त्वमसि' जो ब्रह्म है सो तू है। इस वाक्य के द्वारा मानवीय आत्मा में देवत्व की योग्यता स्थापित की गई है। इसके द्वारा हमें इस बात को समझने के लिए सचेत किया गया है कि नश्वर देह को अथवा चंचल मन को ही आत्मा मान लेने की भ्रांति नहीं करनी चाहिए। भौतिक शरीर से तथा विचलित होने वाले मन से आत्मा अधिक उत्कृष्ट तत्त्व है जो प्रत्येक व्यक्ति में है, तथापि यह इन्द्रिय गोचर नहीं है। अर्थात् आत्मा मूर्तिमान कदापि नहीं बनाई जा सकती। मनुष्य का व्यक्तित्व कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो केवल संसार चक्र में फेंक दी गई हो। वह सजीव है जिसके कारण उसका दर्जा प्रकृति और समाज के भौतिक वातावरण से ऊंचा उठा हुआ है। यदि हम मानवीय आत्मा के आभ्यन्तर तत्त्व को नहीं पहचान सकते, तो हम अपने आपको नष्ट कर बैठते हैं। हममें से अधिकांश

सांसारिक आसक्तियों में ही अपने को खो बैठे हैं। हम भौतिक पदार्थों— स्वास्थ्य, धन, सम्पत्ति, घर-द्वार में ही अपने को भूले हुए हैं। हम स्वयं इनके वशीभूत हो गये हैं। वे हमारे आधीन नहीं रहे। ऐसे व्यक्ति अपनी आत्मा का घात करते हैं— वे ही 'आत्महनो जना:' कहलाते हैं। इसी कारण हमारे देश में हमें 'स्वाधीन' बनने का उपदेश दिया गया है। 'अध्यात्म-विद्या विद्यानाम्' सब विद्याओं में अध्यात्मविद्या ही श्रेष्ठ है। उपनिषद् का कथन है 'आत्मानं विद्धि' अपने आप को समझो। शंकराचार्य ने आध्यात्मिक जीवन के लिये आवश्यक बतलाया है 'आत्म अनात्म वस्तु विवेक' जड़ और चेतन का भेद-ज्ञान, क्योंकि 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' आत्म लाभ से बड़ा संसार में कोई लाभ नहीं। इसी लिये नाना ग्रंथकारों ने कहा है कि वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो संसार की समस्त विभूतियों का उपयोग अपने अभ्यन्तरीभूत आत्मा के उत्कर्ष की अनुभूति के लिये करता है। उपनिषद् में अनेक वाक्यों द्वारा यही प्रतिपादन किया गया है कि पति-पत्नी तथा धन-संपत्ति आदि सब आत्मानुभूति के साधन मात्र है— आत्मवस्तु कामाय। जो कोई संयम तथा निर्दोष जीवन के द्वारा अपने परम पद को प्राप्त कर लेता है वही परमात्मा है। जो सर्वथा स्वाधीन हो जाता है वही 'अर्हत्' है, वह जन्म-मरण तथा काल के वशीभूत नहीं रहता।

भगवान महावीर हमारे सम्मुख एक ऐसे आदर्श पुरुष के रूप में उपस्थित हैं जिन्होंने संसार के सब पदार्थों का परित्याग किया और जो भौतिक बंधनों में फंसकर नहीं रहे। वे आत्मतत्त्व के उत्कर्ष का अनुभव प्राप्त करने में सफल हुए। इस आदर्श पर हम किस प्रकार चलें, किन साधनाओं के द्वारा हम इस आत्मानुभव और स्वाधीनता की प्राप्ति कर सकते हैं, इन प्रश्नों के उत्तर हमारे शास्त्रों में निहित हैं। हमारे शास्त्र बतलाते हैं कि यदि हम आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन का अभ्यास करना चाहिए। भगवद्गीता में कहा गया है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' महावीर भगवान ने भी दर्शन, ज्ञान और चारित्र के निर्देश द्वारा ही इन्हीं तीन तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। हममें विश्वास होना चाहिये, श्रद्धा होनी चाहिए कि सांसारिक वस्तुओं के परे भी कोई अधिक उत्कृष्ट पदार्थ है। केवल भक्ति— अन्धभक्ति से काम नहीं चलेगा। हमें ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जो मनन द्वारा प्राप्त होता है। चिन्तन के द्वारा ही श्रद्धा और विश्वास के आधारभूत विषयों को ज्ञान और प्रकाश के तत्त्वों में परिवर्तित किया जा सकता है। किंतु केवल सैद्धांतिक ज्ञान भी पर्याप्त नहीं है। 'वाक्यार्थज्ञानमात्रेण नामृतम' केवल शब्द ज्ञान द्वारा अमर जीवन प्राप्त नहीं

किया जा सकता। हमें उन महान सिद्धान्तों को अपने जीवन में भी उतारना चाहिये। अतः चरित्र का होना भी उतना ही अनिवार्य है। हम दर्शन, प्रणिपात अथवा श्रवण से प्रारम्भ करके मनन परिप्रश्न पर पहुंचते हैं और वहां से फिर निदिध्यासन, सेवा या चरित्र पर। जैन आचार्यों ने बतलाया है कि आत्मानुभव की प्राप्ति के लिये इन तीनों की परमावश्यकता है। चरित्र अर्थात् सदाचार के कौन से नियम हैं? इसके लिये विविध व्रतों के धारण करने का उपदेश दिया गया है। प्रत्येक जैन को पांच व्रत धारण करना आवश्यक होता है—अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन और अपरिग्रह। किन्तु इन पांचों में अहिंसा की ही प्रधानता है। अहिंसा के कुछ उपासक तो कृषि का भी परित्याग कर देते हैं। क्योंकि कृषि में पृथ्वी पर हल चलाने से सूक्ष्म जीवों का घात होता है। यद्यपि इस संसार में हिंसा से सर्वथा अपने को बचाना असम्भव है, इसी से महाभारत में कहा गया है—'जीवो जीवस्य जीवनम्' जीव ही तो जीवन का अन्न है; तथापि हमारा यह कर्त्तव्य है कि जहां तक हो सके अहिंसा के क्षेत्र का विस्तार किया जाए। 'यत्नाद् अल्पतरा भवेत्' अपने प्रयत्न द्वारा हिंसा के क्षेत्र का संकोच और अनुनय के क्षेत्र का विस्तार किया जाए। इस प्रकार अहिंसा वह आदर्श है जिसे हमने लक्ष्य बिन्दु बनाया है।

जब हम अहिंसा के इस आदर्श को स्वीकार कर लेते हैं, तब उसके परिणामस्वरूप हमें उस सिद्धान्त को भी अपनाना पड़ता है जो जैनधर्म के अनेकान्तवाद में पाया जाता है। जैनियों का कहना है कि केवल ज्ञान प्राप्त करना हमारा आदर्श है। किन्तु सामान्य जीवन में हमें केवल आंशिक तत्त्वज्ञान ही प्राप्त हो पाता है। वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसके विविध पक्ष हुआ करते हैं, वह मिश्र रूप है, उसके नाना गुण धर्म होते हैं। लोगों को वस्तु के इस अंग का या उस अंग का बोध होता है जिससे उनका मत एकांगी प्रायोगिक संभावनात्मक ही हो सकता है। ऐसे मतों में पूर्ण सत्य नहीं पाया जाता। संपूर्ण सत्य का दर्शन तो उन्हीं को हो सकता है जिन्होंने राग-द्वेषात्मक वृत्तियों पर विजय पा ली है। इस बात का ज्ञान हो जाने से हमें यह विश्वास होने लगता है कि जिसे हमने सत्य समझ रखा है वह यथार्थतः सत्य न हो। इससे हमें मानवीय धारणाओं की अनिश्चयता का बोध भी होने लगता है। इससे हमें यह भी विश्वास होने लगता है कि हमारी गंभीरतम धारणाएं भी परिणमनशील और अनित्य हो सकती हैं। जैनी छः अंधे मनुष्य और हाथी के दृष्टान्त के द्वारा अपने उक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हैं। एक हाथी के कान पकड़ पाता है और कहता है कि हाथी सूप के समान होता हैं दूसरा उसके पैर का

आलिंगन करता है और कहता है कि हाथी खंभे के समान है। इस प्रकार उनमें से प्रत्येक पूर्ण सत्य के एक अंश को ही हमारे सम्मुख रख पाता है। इन पाक्षिक सत्यों को परस्पर विरोधी नहीं समझना चाहिए। उनका आपस में प्रकाश और अंधकार जैसा विरोधात्मक सम्बन्ध नहीं है। उन्हें विरोधी नहीं, किन्तु भिन्न ही मानना चाहिए। वे सत्य के वैकल्पिक रूप हैं।

आज संसार नूतन जन्म के क्लेशों का अनुभव कर रहा है। हम एक संयुक्त जगत के ध्येय को अपना लक्ष्य बना रहे हैं। किन्तु एकत्व की अपेक्षा भिन्नत्व ही हमारे युग का विशेष लक्षण बना हुआ है। दो संसारों की योजना में हममें से बहुतों को यह प्रलोभन होता है कि यह अच्छा है और वह बुरा है। अतएव बुरे का निराकरण किया जाय। किन्तु यथार्थतः उन्हें विकल्प अर्थात् एक मौलिक सत्य के अनेक चलायमान पक्ष मानकर चलना ही उचित है। सत्य के किसी भी एक अंश पर अधिक जोर देना उसी प्रकार दूषित है जैसा कि उक्त अन्धों का हाथी के अंग का स्पर्श करके उसी को पूरे हाथी के आकार की धारणा है।

वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक न्याय, ये दोनों ही बातें मानव हित के लिये परमावश्यक हैं। हम एक को बढ़ा-चढ़ाकर और दूसरे को घटाकर वर्णन कर सकते हैं। किंतु जैन अनेकान्तवाद, सप्तभंगी नय व स्याद्वाद का कोई अनुयायी उस प्रकार के संस्कार बंध को स्वीकार नहीं करेगा। उसकी भावना तो अपने व दूसरों के मतों में सत्यासत्य का विवेक कर उनमें समन्वय स्थापित करने की होगी। यही मनोवृत्ति हम सभी की होनी चाहिये।

भारतीय संस्कृति के निर्माण में भगवान महावीर का योगदान

भारत की जनता ने राजनैतिक क्रान्तियों में कभी बहुत रुचि नहीं दिखलाई। किन्तु विचार और संस्कृति के क्षेत्र में यहां बड़ी-बड़ी उत्क्रांतियां हो चुकी हैं। आज से तीन हजार वर्ष पूर्व के भारतीय सामाजिक ढांचे की कल्पना कीजिए। उस समय यज्ञ की विधियों का बाहुल्य था। 'स्वर्गकामः यजेत', 'पुत्रकामः यजेत', 'धनकामः यजेत' ये ही लौकिक और धार्मिक जनोक्तियां प्रचलित थीं। इन्हीं यज्ञविधियों में असंख्य मूक पशुओं के बलिदान द्वारा राजाओं को सम्राट् पद प्राप्त कराया जाता था और लोगों की नाना अभिलाषाओं की पूर्ति का दावा किया जाता था। इस प्रकार बलिदान ही परमोत्कृष्ट 'कर्म' माना जाता था। इन यज्ञविधियों के पुरोहितों द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था भी की गई जिससे समाज में उच्च और निम्न वर्गों का प्रादुर्भाव हो गया। इन विधियों और व्यवस्थाओं के मानसिक और सामाजिक परिणामों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

उस समय यज्ञविधियों के पोषक ब्राह्मणों के अतिरिक्त ऐसे श्रमण भी थे जो वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे, यज्ञ के फलाफल तथा दैवी प्रकोप व प्रसाद में विश्वास नहीं करते थे एवं वर्णाश्रम के सामाजिक भेदभाव को उचित नहीं समझते थे। प्राचीन जैन पुराणों की साहित्यिक परम्परा के अनुसार जिस श्रमण ने सर्वप्रथम वैदिक परम्परा का उक्त प्रकार विरोध किया वे आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ थे, जिनका वैदिक पुराणों में भी वर्णन किया जाता है और जो स्वयंभू मनु की सन्तान में उनसे पांचवीं पीढ़ी में हुए कहे गए हैं। उनके विषय में यह भी बतलाया गया है कि वे वात-रशना मुनियों की परम्परा में हुए थे। वात-रशना मुनियों का उल्लेख ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में पाया जाता है, और ऋग्वेद से प्राचीन कोई भारतीय साहित्य पाया नहीं जाता। ऋषभदेव के पश्चात् तेईस तीर्थंकर और हुए ऐसी जैनियों की मान्यता है। इनमें भगवान महावीर अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर हुए। उनसे ढाई सौ वर्ष पूर्व तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ

हुए थे जिनका कीर्तिध्वज बिहार राज्य के हजारीबाग जिले के पार्श्वनाथ पर्वत कहलाने वाले शिखरों पर अब भी फहरा रहा है। पार्श्वनाथ से पूर्व बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ हो चुके थे। ये महाभारत में प्रख्यात व गीता के उपदेशक भगवान कृष्ण के चचेरे भाई थे, और उनकी स्मृतियां काठियावाड़ के गिरनार पर्वत पर अनेक विशाल मन्दिरों के रूप में आज तक विद्यमान हैं। तीर्थंकरों की इस परम्परा में भगवान महावीर अन्तिम तीर्थंकर हुए, और उन्होंने उक्त धार्मिक व सामाजिक उत्क्रांति को उसके उच्चतम शिखर पर पहुंचा दिया।

भगवान महावीर राजकुमार थे। किन्तु राज्य का उन्हें कोई प्रलोभन नहीं था। उन्होंने तीस वर्ष की युवावस्था में राजमहल का परित्याग कर दिया। अगले बाहर वर्ष तक एकान्त वन में रह कर उन्होंने घोर तपस्या और गंभीर आत्मचिन्तन किया। उन्होंने जीवन और प्रकृति के गूढ़ तत्त्वों को समझने का प्रयत्न किया, जिसके फलस्वरूप अन्ततः उन्हें सर्वज्ञता या कैवल्य की प्राप्ति हो गई। इसके पश्चात् ही उन्होंने उपदेश देना आरम्भ किया। उन्होंने उपने विचारों के प्रचार द्वारा जिन नैतिक तत्त्वों और सामाजिक आचरणों को जनता के जीवन में उतारा वे आज़ तक भी भारतीय संस्कृति की सुदृढ़ नींव के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।

भगवान महावीर ने जीवन की स्वतंत्रता तथा उसमें परमात्म-पद प्राप्त करने की योग्यता का प्रतिपादन किया। चूंकि प्रत्येक प्राणी में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है, अतएव यह बात स्वयं सिद्ध होती है कि किसी भी जीव का अविवेक रूप से घात करना पाप है, चाहे वह मनुष्य हो और चाहे अन्य कोई प्राणी। जहां तक हो सके, प्रत्येक प्राणी को अपने जीवन का विकास स्वयं करने देना चाहिए; इसमें बाहर से हिंसा व अत्याचार द्वारा बाधा डालना उचित नहीं है। हिंसा करने की प्रवृत्ति हमें इस भावना से उत्पन्न होती है कि कोई क्रिया या मत हमें हमारे विरुद्ध दिखाई देता है। भगवान महावीर ने अपने अनेकान्त सिद्धान्त द्वारा यह समझाया है कि जिन्हें हम भेद और विरोध मान बैठते हैं, वे यथार्थतः विरोधात्मक न होकर अनन्त-धर्मात्मक यथार्थ वस्तु-स्वरूप के नाना तथ्यांश मात्र हैं। चतुराई इसमें है कि उनके विरोधाभास से क्षुब्ध और विचलित न होकर उनमें अन्तर्निहित समन्वय की भूमिका पर पहुंचने का प्रयत्न किया जाए, जिससे विरोध मिटकर सामंजस्य उत्पन्न हो सके। भगवान महावीर के इस समन्वय शासन को ही आज से कोई डेढ़ हजार वर्ष पूर्व आचार्य समन्तभद ने 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है, और उन्होंने उस के जो गुण बतलाये हैं वे सर्वोदय सेवकों के आज भी ध्यान देने योग्य हैं।

अब उन यज्ञविधियों का जीवन में कोई प्रभाव व उपयोग नहीं रहा। समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था के स्थान पर भारतीय नागरिकता का सब को उपलभ्य समान अधिकार स्थापित किया जा चुका है, तथा वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार के लिये अहिंसा तत्त्व को आधार नीति स्वीकार कर लिया गया है। महात्मा गांधी के अक्रिय प्रतिरोध और शान्त असहयोग के साधन, पंडित नेहरूजी का शान्तिमय सहजीवन का सिद्धान्त तथा आचार्य भावेजी का भूदान आदर्श— ये सब यदि विश्लेषण करके देखे जाएं तो पता चल जाता है कि वे यथार्थतः भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के देश, काल व उद्देश्यानुसार प्रयोजिक रूप हैं। भगवान महावीर ने राज्यवैभव का परित्याग करके अत्यन्त अकिंचन वृत्ति स्वीकार की और परिगृह-परिमाण का सब गृहस्थों को उपदेश दिया; इस प्रकार उन्होंने आज के सामाजिक ढांचे के राज्य-निर्माण की पूर्व-पीठिका तैयार की थी। भगवान महावीर ने अपने समय की शिष्ट भाषा संस्कृत को छोड़कर लोकभाषा द्वारा धर्म प्रचार किया, और इस प्रकार उन्होंने इस देश के नाना प्रदेशों में भिन्न-भिन्न काल में प्रचलित अनेक भाषाओं को विस्मृति से बचा लिया। इन विविध भाषाओं की जो रचनायें जैन साहित्य में पाई जाती हैं उनके द्वारा ही तो आज की प्रचलित भाषाओं सम्बन्धी दो हजार वर्ष के विकास-क्रम को स्पष्टतः समझा जा सकता है। भारत का सब से प्राचीन जो पाषाण लेख पढ़ा जा सका है यह भगवान महावीर का ही स्मारक है। देश की प्राचीनतम मूर्त्तियाँ और प्रतिबिम्ब भी जैन धर्म की देन पाई जाती है। भगवान महावीर के अनुयायियों ने जिस साहित्य और कला का सृजन किया है वह अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय है, और उनके द्वारा भारतीय संस्कृति का मस्तिष्क सदैव गर्व से ऊंचा उठा रहेगा।

भारतीय इतिहास का यह महापुरुष इस देश में भगवान् बुद्ध, चीन में कन्फ्युसियस और यूनान में सुकरात का समकालीन था और उसकी सांस्कृतिक देन इन अन्य महापुरुषों की देनों से किसी प्रकार कम नहीं है। इस महापुरुष की उपेक्षा करना भारतीय शासन और जनता के लिए कहां तक वांछनीय है इस पर उन्हें गंभीर विचार करना आवश्यक है।

इस प्रसंग में यह पूछा जा सकता है कि जब महावीर के उपदेश इतने व्यापक हैं, तब आज स्वयं उनके अनुयायी एक संकुचित मनोवृत्ति दिखाकर अस्पृश्यता-निवारण व हरिजन मन्दिर प्रवेश आदि द्वारा भारतीय समाज के एकीकरण में क्यों बाधक हो रहे हैं। काका साहब कालेलकरजी ने स्वयं कहा

है कि उन्हें अजमेर के जैन मन्दिर में जाने से इसलिये रोका गया क्योंकि वे अजैन हैं। इस संबंध में मैं काका साहब से क्षमा-याचना करता हुआ यह बतलाना आवश्यक समझता हूं कि जैन समाज ही नहीं, किन्तु सभी समाजों में सदैव कुछ व्यक्ति ऐसे हुआ ही करते हैं जो भ्रम में पड़कर अपने विचारों और कार्यों में भूल कर बैठते हैं। किन्तु इन व्यक्तियों को उस समाज के पूरे प्रतिनिधि समझ लेना भूल है। दूसरे, यह जाति-पांति व छुआछूत का भेद जैनधर्म का मौलिक अंग नहीं है। जहां वह पाया जाता है वहां वह जैन समाज में उन्हीं लोगों से आया है जिनमें यह दूषण धार्मिक मान्यता का एक आवश्यक अंग है, और जिनके साथ जैनियों का चिरकालीन सामाजिक सम्पर्क रहा है। काका साहब ने यह परिभाषा की है कि जिसे हिंसा से दुःख हो वह हिंदू (हिं-हिंसा; दु-दुख)। किन्तु दुर्भाग्य से उनकी इस परिभाषा का अन्य कोई समर्थन नहीं करता। यदि यह परिभाषा प्रामाणिक स्वीकार कर ली जाय तो जैनी गर्व से अपने को हिन्दु कहना स्वीकार करेंगे।

काका साहब ने सिद्धान्त और आचार के विरोध का एक उदाहरण यह दिया है कि उन्होंने रामटेक के जैन मन्दिर में द्वार पर सशस्त्र रक्षक देखें। इस सम्बन्ध में मैं विनयपूर्वक उनका ध्यान एक बात की ओर आकर्षित करना चाहता हूं। जो बौद्धधर्म किसी समय जैनधर्म से भी अधिक प्रबल हो गया था, उसका इस देश से ऐसा नामोनिशान मिटा दिया गया कि न यहां उसका कोई एक भी अनुयायी बचा और न उस साहित्य का एक भी ग्रंथ शेष रहा। ऐसी भीषण धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों में भी यदि यहां जैनधर्म जीवित रह सका है तो केवल इसी कारण कि उसके अनुयायी अपनी अनेकान्त की नीति से लाभ उठाते रहे हैं। उन्होंने अपनी संस्थाओं के संरक्षण में देश, काल और लोक भावना के अनुसार उचित उपायों का अवलम्बन लेने की व्यावहारिक बुद्धि का कभी परित्याग नहीं किया। मुझे भरोसा है कि वे तब तक भले प्रकार जीवित रह सकेंगे जब तक वे अपनी इस उदार नीति का अनुसरण करते रहेंगे। किन्तु मैं काका साहब को तथा उन्हीं के समान अन्य विचारकों को विश्वास दिलाता हूं कि जैन मन्दिरों के सशस्त्र रक्षक वहां हिंसा करने के लिए नहीं, किन्तु रक्षा करने के लिये हैं, और वे हत्या करने के लिए गोली चलाते हुए कभी नहीं पाये जायेंगे।

भगवान महावीर के अनुयायी राष्ट्रीय भावना व विश्व-जनीनता में किसी से पीछे रहने वाले नहीं हैं। वे उन सब प्रयत्नों में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे जिनके द्वारा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व, संहारक शस्त्रों का निषेध, राष्ट्र का समाजवादी ढांचे पर पुनःसंगठन तथा जाति, धर्म व सम्प्रदाय आदि नामों द्वारा समाज को

विभाजित रखने वाली समस्त प्रवृत्तियों का निषेध आदि सुधारों को व्यापक और क्रियात्मक रूप दिया जाना आवश्यक है, क्योंकि ये सब बातें तो भगवान महावीर के उपदेशों के मूलाधार हैं। भगवान महावीर के अनुयायियों से अपेक्षा है कि वे भगवान के सच्चे उपदेशों की ओर अधिक ध्यान दें और अपना आचरण ऐसा बनाएं जो उनके धर्म की ख्याति के अनुरूप हो। जो सत्ता और सम्मान के पदों पर आरूढ़ हैं उनसे प्रार्थना है कि वे अपने मूल्यांकन और निर्णयों में ईमानदारी से काम लें, और व्यक्तियों, सिद्धांतों तथा संस्थाओं को समान दृष्टि से देखते हुए देश की सांस्कृतिक रचना में उन्हें उनका समुचित स्थान प्रदान करें। अन्य सब भाइयों से अनुरोध है कि वे भगवान महावीर के जीवन और उनके मानवीय सुख, शान्ति और समुन्नति सम्बन्धी विचारों की देन का व्यवस्थित अध्ययन करें और उन्हें भली प्रकार समझें।

भगवान महावीर का स्मरण हम सब को वह प्रेरणा और उत्साह प्रदान करे जिससे हम सब भारत के भाग्य में निहित विश्व-बन्धुत्व के आदर्श को पूर्ण करने में सुचारु रूप से अग्रसर हो सकें।

अनुभाग— २

सिद्धान्त

सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार

जैनधर्म ज्ञान और विवेक प्रधान है। यहां मनुष्य के प्रत्येक कार्य की अच्छाई और बुराई का निर्णय वस्तुस्वरूप के विचार और भावों की शुद्धि या अशुद्धि के अनुसार किया गया है। ज्ञान का स्थान यहां बहुत ऊंचा है। मोक्ष का मार्ग जो रत्नत्रयरूप कहा गया है उसमें ज्ञान का स्थान चारित्र से पूर्व रखा है। जब कुछ ज्ञान हो जायगा तभी तो चारित्र सुधर सकेगा, और जितनी मात्रा में ज्ञान विशुद्ध होता जायगा उतनी मात्रा में ही चारित्र निर्मल होने की संभावना हो सकती है। इसीलिये जैनी देव के साथ ही शास्त्र की भी पूजा करते हैं। दैनिक आवश्यक क्रियाओं में शास्त्र-स्वाध्याय का स्थान विशेष रूप से है[1]। चार प्रकार के दानों में[2] शास्त्र दान की भी बड़ी महिमा है। जैन आचार्यों को ज्ञात था कि धर्म का प्रचार और परिपालन शास्त्रों के आधार से ही हो सकता है, अतः उन्होंने समय-समय पर सभी स्थानों और प्रदेशों की भाषाओं में ग्रंथ रचकर उनका प्रचार व पठन-पाठन बढ़ाने का प्रयत्न किया। स्वयं तीर्थंकर भगवान् की दिव्यवाणी की यह एक विशेषता कही जाती है कि उसे सब प्राणी सुन और समझ सकते तथा उससे लाभ उठा सकते हैं। प्राचीन काल की शिष्ट भाषा कहलाने वाली संस्कृत को छोड़कर जैन सिद्धान्त को प्राकृत-भाषा-निबद्ध करने में यह भी एक हेतु कहा जाता है कि जिससे बाल, स्त्री, मन्द, मूर्ख सभी चारित्र सुधारने की वांछा रखने वाले उससे लाभ उठा सकें[3]।

किन्तु धर्म का उदात्त ध्येय और स्वरूप सदैव एक सा नियत नहीं रहने पाता। ज्यों ही उसमें गुरु कहलाने की अभिलाषा रखने वाले व्यक्तियों की वृद्धि हुई, और ज्ञान की हीनता होते हुए भी वे मर्यादा से बाहर की बातें कहने सुनने लगे, त्यों ही उसमें अनेक विवेकहीन और तर्कशून्य बातें व विश्वास भी आ घुसते हैं, जो भोली समाज में घर करके कभी-कभी बड़े अनर्थ के कारण बन जाते हैं। जैनशास्त्र-स्वाध्याय के सम्बन्ध में ऐसी ही एक बात उत्पन्न हुई है जिसका हमें यहां विचार करना है।

---

१. देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः। दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने-दिने।।

२. औषधिदान, शास्त्रदान, अभयदान और आहारदान।

३. बालस्त्रीमंदमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्। अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः।।

षट्खंडागम सिद्धान्त ग्रंथों का समाज में आदर और प्रचार देखकर हमें अपने ध्येय की सफलता का संतोष हो रहा है। इस ओर समाज के औत्सुक्य और तत्परता का अनुमान इसी से हो सकता है कि इतने काल में हमें सिद्धान्तोद्धार के कार्य में मूडबिद्री-संस्थान का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो गया है, जयधवल के प्रकाशन के लिये भी अनेक संस्थाएं उत्सुक हो उठीं और जैन संघ, मथुरा, की ओर से उसका कार्य भी प्रारम्भ हो गया, तथा तीनों सिद्धान्तों के मूलपाठ को ताड़पत्रीय प्रतियों के आधार से प्रकाशित करने की योजना भी है। प्रकाशित सिद्धान्त का स्वाध्याय भी अनेक मंदिरों और शास्त्रभंडारों व गृहों में हो रहा है। यही नहीं, मुम्बई की माणिकचंद जैन परीक्षालय समिति ने धवल सिद्धान्तक प्रथम भाग सत्प्ररूपणा को अपनी सर्वोच्च शास्त्री परीक्षा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर इन सिद्धान्तों के समयोचित पठन-पाठन का मार्ग भी खोल दिया है।

इस सब प्रगति से विद्वत्संसार को बड़ा हर्ष है। किन्तु एकाध विद्वान् अभी ऐसे भी हैं जिन्हें इन सिद्धान्तों का यह उद्धार-प्रचार उचित नहीं जंचता*। उनके विचार से न तो इन ग्रंथों का मुद्रण होना चाहिये, और न इन्हें विद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन का विषय बनाना चाहिये। यहां तक कि गृहस्थ मात्र को इनके पढ़ने का निषेध कर देना चाहिये। उनका यह विवेक निम्नलिखित आगम और युक्ति पर निर्भर है—

(१) अनेक प्राचीन ग्रंथों में यह उपदेश पाया जाता है कि गृहस्थों को सिद्धान्तों के श्रवण, पठन या अध्ययन का अधिकार नहीं है।

(२) सिद्धान्त ग्रन्थ दो ही हैं जो कि धवल, जयधवल, महाधवल के रूप में टीका द्वारा उपलब्ध हैं, बाकी सभी शास्त्र सिद्धान्तग्रंथ नहीं हैं।

प्रथम बात की पुष्टि में निम्नलिखित ग्रंथों के अवतरण दिये गये हैं—

(१) वसुनन्दि श्रावकाचार, (२) श्रुतसागरकृत षट्प्राभृतटीका, (३) वामदेवकृत भावसंग्रह, (४) मेधावीकृत धर्मसंग्रह श्रावकाचार,

* देखो पं. मक्खनलाल शास्त्री लिखित 'सिद्धान्तशास्त्र और उनके अध्ययन का अधिकार', मोरेना, वी.सं. २४६८.

१. दिणपडिम वीरचरिया तियालजोगेसु णत्थि अहियारो। सिद्धंत-रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं ।।३१२।। (वसुनन्दि-श्रावकाचार)

२. वीरचर्या च सूर्यप्रतिमा त्रैकाल्ययोगनियमश्च। सिद्धान्तरहस्यादिष्वध्ययनं नास्ति देशविरतानाम् ।। (श्रुतसागर-षट्प्रामृतटीका)

३ नास्ति त्रिकालयोगोऽस्य प्रतिमा चार्कसम्मुखा। रहस्यग्रंथसिद्धान्तश्रवणे नाधिकारिता।। ५४७ ।। (वामदेव-भावसंग्रह)

४ कल्प्यन्ते वीरचर्याहःप्रतिमातापनादयः। न श्रावकस्य सिद्धान्तरहस्याध्ययनादिकम् ।। ७४ ।। (मेधावी-धर्मसंग्रहश्रावकाचार)

(५) धर्मोपदेशपीयूषवर्षाकर श्रावकाचार, (६) इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार और (७) आशाधरकृत सागारधर्मामृत।

इन सब ग्रंथों में केवल एक ही अर्थ का और प्रायः उन्हीं शब्दों में एक ही पद्य पाया जाता है जिसमें कहा गया है कि देशविरत श्रावक या गृहस्थ को वीरचर्या, सूर्यप्रतिमा, त्रिकालयोग और सिद्धान्त रहस्य के अध्ययन करने का अधिकार नहीं है।

जिन सात ग्रंथों से गृहस्थ को सिद्धान्त-अध्ययन का निषेध करने वाला पद्य उद्धृत किया गया है उनमें से नं. ५ और ६ को छोड़कर शेष पांच ग्रंथ इस समय हमारे सम्मुख उपस्थित हैं। वसुनन्दिकृत श्रावकाचार का समय निर्णीत नहीं है तो भी चूंकि आशाधर के ग्रंथों में उनके अवतरण पाये जाते हैं और उनके स्वयं ग्रंथों में अमितगति के अवतरण आये हैं, अतः वे इन दोनों के बीच अर्थात् विक्रम की १२वीं १३वीं शताब्दि में हुए होंगे। उनके ग्रंथ की कोई टीका भी उपलब्ध नहीं हैं, जिससे लेखक का ठीक अभिप्राय समझ में आ सकता। उनकी गाथा की प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि दिन प्रतिमा, वीरचर्या और त्रिकालयोग इनमें (देशविरतों का) अधिकार नहीं है। दूसरी पंक्ति हैं 'सिंद्धातरहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं'। यथार्थतः इस पंक्ति की प्रथम पंक्ति के 'णत्थि अहियारो' से संगति नहीं बैठती, जब तक कि इसके पाठ में कुछ परिवर्तनादि न किया जाय। 'सिंद्धातरहस्साण' का अर्थ हिन्दी अनुवादक ने 'सिद्धान्त के रहस्य का पढ़ना' ऐसा किया है, जो आशाधरजी के किये गये अर्थ से भिन्न है। ग्रंथकार का अभिप्राय समझने के लिये जब आगे-पीछे के पन्ने उलटते हैं तो सम्यक्त्व के लक्षण में देखते हैं—

अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होदि।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ।।६।।

अर्थात्, जब आप्त आगम और तत्त्वों में निर्मल श्रद्धा हो जाय और शंका आदिक कोई दोष नहीं रहे तब सम्यक्त्व हुआ समझना चाहिये। अब क्या सिद्धान्त ग्रंथ आगम से बाहर हैं, जो उनका अध्ययन न किया जाय? या शंकादि

---

५ त्रिकालयोगनियमो वीरचर्या च सर्वथा। सिद्धान्ताध्ययनं सूर्यप्रतिमा नास्ति तस्य वै ।।
(धर्मोपदेशपीयूषवर्षाकर-श्रावकाचार)

६ आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम्। न वाचनीयं पुरतः सिद्धान्ताचारपुस्तकम् ।।
(इन्द्रनंदि-नीतिसार)

७ श्रावको वीरचर्याहः प्रतिमातापनादिषु। स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ।।७, ५० ।।
(आशाधर-सागारधर्मामृत)

सब दोषों का परिहार होकर निर्मल श्रद्धा उन्हें बिना पढ़े ही उत्पन्न हो जाना चाहिये! आगम की पहिचान के लिये आगे की गाथा में कहा गया है—

अत्ता दोसविमुक्को पुव्वापरदोसवज्जियं वयणं।

अर्थात् जिसमें कोई दोष नहीं वह आप्त है, और जिसमें पूर्वा पर विरोधरूपी दोष न हो वह वचन आगम है। तब क्या आगम को बिना देखे ही उसके पूर्वा पर-विरोध-साहित्य को स्वीकार कर निःशंक, निर्मल श्रद्धान कर लेने का यहां उपदेश दिया गया है? जैसा हम देखेंगे, आगम और सिद्धान्त एक ही अर्थ के द्योतक पर्यायावाची शब्द हैं। कहीं इनमें भेद नहीं किया गया। आगे देशविरत के कर्तव्यों में कहा गया है—

णाणे णाणुवयरणे णाणर्वतम्मि सह य भत्तीय ।
जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाणबिणओ ।।३२१।।

अर्थात् ज्ञान, ज्ञान के उपकरण अर्थात् शास्त्र, और ज्ञानवान् की नित्य भक्ति करना ही ज्ञान विनय है। और भी—

हियमियपिज्जं सुत्ताणुवचि अफरसमकक्कसं वयणं ।
संजमिजणम्मि जं चाडुभासणं वाचिओ विणओ ।।३२७।।

अर्थात् हित, मित, प्रिय और सूत्र के अनुसार वचन बोलना.....आदि वचन विनय हैं। इन गाथाओं में जो ज्ञान, ज्ञानोपकरण और ज्ञानी का अलग-अलग उल्लेख कर उनके विनय का उपदेश दिया गया है, तथा जो सूत्र के अनुसार वचन बोलने का आदेश है, क्या इस विनय और अनुसरण में सिद्धान्त गर्भित नहीं है? क्या सूत्र का अर्थ सिद्धान्त वाक्य नहीं है? हम आगे चलकर देखेंगे कि सूत्र का अर्थ साक्षात् जिन भगवान् की द्वादशांग वाणी है। तब फिर द्वादशांग से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्त ग्रंथों के पठन का गृहस्थ को निषेध किस प्रकार किया जा सकता है?

अब श्रुतसागरजी की षट्प्राभृतटीका को लीजिये। कुंदकुंदाचार्यकृत सूत्रपाहुड की २१वीं गाथा है—

दुइयं च वुत्तलिंग उक्किट्ठ आवर सावयाणं च ।
भिक्खं भमेइ पत्तो समिदीमासेण मोणेण ।।

इस गाथा में आचार्य ने ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक के लक्षण बतलाये हैं कि वह भाषा समिति का पालन करता हुआ या मौनसहित भिक्षा के लिये भ्रमण करने का पात्र है। इसी गाथा की टीका समाप्त हो जाने के पश्चात्

'उक्तं च समन्तभद्रेण महाकविना' कह के चार आर्याएं उद्धृत की गई हैं, जिनमें चौथी गाथा है 'वीर्यचर्या च सूर्यप्रतिमा— ' आदि। यहां न तो इसका कोई प्रसंग है और न पाहुडगाथा में उसके लिये कोई आधार है। यह भी पता नहीं चलता कि कौन से समन्तभद्र महाकवि की रचना में से ये पद्य उद्धृत किये गये हैं। जैन साहित्य में जो समन्तभद्र सुप्रसिद्ध है उनकी उत्कृष्ट और प्रसिद्ध रचनाओं में ये पद्य नहीं पाये जाते। प्रत्युत इसके उनके रचित श्रावकाचार में जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, श्रावकों पर ऐसा कोई नियंत्रण नहीं लगाया गया। अतएव वह अवतरण कहां तक प्रामाणिक माना जा सकता है यह शंकास्पद ही है।

स्वयं कुंदकुंदाचार्य की इतनी विस्तृत रचनाओं में कहीं भी इस प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं है। इसी सूत्रपाहुड की गाथा ५ और ७ को देखिये। वहां कहा गया है—

सुत्तत्थं जिगभणियं जीवाजीवादिबहुचिहुं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ।। ५।।
सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो ।। ७।।

अर्थात् जो कोई जिन भगवान के कहे हुए सूत्रों में स्थित जीव, अजीव आदि सम्बन्धी नाना प्रकार के अर्थ को तथा हेय और अहेय को जानता है वही सम्यग्दृष्टि है। सूत्रों के अर्थ से भ्रष्ट हुआ मनुष्य मिथ्यादृष्टि है। यहां श्रुतसागर जी अपनी टीका में कहते हैं 'सूत्रस्यार्थ जिनेन भणितं प्रतिपादितं .....यः पुमान् जानाति वेत्ति स पुमान् स्फुटं सम्यग्दृष्टिर्भवति।.....सूत्रार्थपदविनष्टः पुमान् मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः।

यहाँ श्रुतसागर जी स्वयं जिनोक्त सूत्रों के अर्थ के ज्ञान को सम्यग्दर्शन का अत्यन्त आवश्यक अंग मान रहे हैं, और उस ज्ञान के बिना मनुष्य मिथ्यादृष्टि रहता है यह भी स्वीकार कर रहे हैं। वे 'पुमान्' शब्द के उपयोग से यह भी स्पष्ट बतला रहे हैं कि जिनोक्त सूत्रों का अर्थ समझना केवल मुनिराजों के लिये ही नहीं, किन्तु मनुष्यमात्र के लिये आवश्यक है। ऐसी अवस्था में वे सिद्धान्त ग्रंथों को जिनोक्त सूत्रों से बाहर समझकर श्रावकों को उन्हें पढ़ने का निषेध करते हैं, या श्रावकों को मिथ्यादृष्टि बनाना चाहते हैं, यह उनकी स्वयं परस्पर-विरोधी बातों से कुछ समझ में नहीं आता। इससे स्पष्ट है कि उस निषेधवाली बात का न तो भगवान् कुंदकुंदाचार्य के वाक्यों से सामञ्जस्य बैठता है, और न स्वयं टीकाकार के ही पूर्व कथनों से मेल खाता है। श्रुतसागरजी का समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दि सिद्ध होता

है[१]। श्रुतसागरजी कैसे लेखक थे और उनकी षट्पाहुड में कैसी-कैसी रचना है इसके विषय में एक विद्वान् समालोचक्र का मत देखिये[२]।

"वे (श्रुतसागरजी) कट्टर तो थे ही, असहिष्णु भी बहुत ज्यादा थे। अन्य मतों का खंडन और विरोध तो औरों ने भी किया है, परन्तु इन्होंने तो खण्डन के साथ बुरी तरह गालियाँ भी दी हैं। सबसे ज्यादा आक्रमण इन्होंने मूर्तिपूजा न करने वाले लोकागच्छ (ढूंढियों) पर किया है। जरूरत गैरजरूरत जहां भी इनकी इच्छा हुई है, ये उन पर टूट पड़े हैं। इसके लिये उन्होंने प्रसंग की भी परवाह नहीं की। उदाहरण के तौर पर हम उनकी षट्पाहुडटीका को पेश कर सकते हैं। षट्पाहुड भगवत्कुंदकुंद का ग्रंथ है, जो एक परमसहिष्णु, शान्तिप्रिय और आध्यात्मिक विचारक थे। उनके ग्रंथों में इस तरह के प्रसंग प्रायः हैं ही नहीं कि उनकी टीका में दूसरों पर आक्रमण किये जा सकें, परंतु जो पहले से ही भरा बैठा हो, वह तो कोई न कोई बहाना ढूंढ ही लेता है। दर्शनपाहुड की मंगलाचरण के बाद की पहली ही गाथा है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिब्वो ।।

इसका सीधा अर्थ है कि जिन देव ने शिष्यों को उपदेश दिया है कि धर्म दर्शनमूलक है, इसलिए जो सम्यग्दर्शन से रहित है उसकी वंदना नहीं करनी चाहिये। अर्थात्, चारित्र तभी वन्दनीय है जब वह सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

इस सर्वथा निरुपद्रव गाथा की टीका में कलिकालसर्वज्ञ स्थानक वासियों पर बुरी तरह बरस पड़ते हैं और कहते हैं—

'कोऽसौ दर्शनहीन इति चेत् तीर्थंकरपरमदेवप्रतिमां न मानयन्ति, न पुष्पादिना पूजयन्ति.....यदि जिनसूत्रमुल्लंघते तदाऽऽस्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीयाः। तथापि यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिः गूथालिप्ताभिर्मुखे ताडनीयाः, तत्र पापं नास्ति'।

अर्थात्, दर्शनहीन कौन है, जो तीर्थंकरप्रतिमा नहीं मानते, उसे पुष्पादि से नहीं पूजते...जब ये जिन सूत्र का उल्लंघन करें तब आस्तिकों को चाहिए कि युक्तियुक्त वचनों से उनका निषेध करें, फिर भी यदि वे कदाग्रह न छोड़े तो समर्थ आस्तिक उनके मुँह पर विष्टा से लिपटे हुए जूते मारें, इसमें जरा भी पाप नहीं।"

यह है श्रुतसागरजी की भाषा समिति और उनकी आप्तता। ऐसे द्वेषपूर्ण अश्लील वाक्य एक प्रामाणिक विद्वान् तो क्या साधारण शिष्ट व्यक्ति के मुख से भी न निकल सकेंगे।

---

१. षट्प्राभृतादिसंग्रह (मा.ग्रं.मा.) भूमिका पृ. ७.
२. जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथूरामप्रेमी कृत, पृ. ४०७-४०८.

अब वामदेवजी के भाव संग्रह को लीजिये जिसके ५४७वें श्लोक 'नास्ति त्रिकालयोगी' आदि में ग्यारहवीं प्रतिमा के धारी श्रावक को 'सिद्धान्त-श्रवण' के अधिकार से वर्जित किया गया है। वामदेव जी का काल विक्रम १५वीं या १६वीं शताब्दी अनुमान किया गया है,[१]। उनकी ग्रंथ रचना मौलिक नहीं है, किन्तु १०वीं शताब्दी के देवसेनाचार्य के प्राकृत भाव संग्रह का कुछ परिवर्धित संस्कृत रूपान्तर है। उनकी इस कृति के विषय में उस ग्रंथ की भूमिका में कहा गया है—

"यह भाव संग्रह प्रायः प्राकृत भाव संग्रह का ही संस्कृत अनुवाद है, दोनों ग्रंथों को आमने-सामने रखकर पढ़ने से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है। यद्यपि पं. वामदेवजी ने इसमें जगह-जगह अनेक परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन आदि किये हैं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह स्वतंत्र ग्रंथ है। शिष्टता की दृष्टि अच्छा होता, यदि पं. वामदेवजी ने अपने ग्रंथ में यह बात स्वीकार कर ली होती।"

इस पर से जाना जा सकता है कि वामदेवजी किस दर्जे के लेखक और विद्वान् थे। एक प्राचीन और प्रामाणिक आचार्य की रचना का नाम लिये बिना ही चुपचाप उसका रूपान्तर करके उन्होंने ग्रंथकार बनने का यश लूटा है। उसमें यदि उन्होंने कुछ परिवर्धन किया है तो वह उसी प्रकार का है जिसका एक उदाहरण हमारे सन्मुख है। उनसे कोई छह सौ वर्ष प्राचीन उक्त प्राकृत भाव संग्रह में ऐसे निषेध का नाम निशान तक नहीं है। अतएव स्पष्ट है कि वामदेवजी ने १६वीं शताब्दी के लगभग कहीं से यह बात जोड़ी है।

अब इन्द्रनन्दिजी के नीतिसारान्तर्गत उपदेश को लीजिये। इसमें उक्त निषेध ने और भी बड़ा उग्ररूप धारण किया है। यहां कहा गया है कि—

आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम् ।
न वाचनीयं पुरतः सिद्धान्ताचारपुस्तकम् ।।

अर्थात् "आर्यिकाओं के सामने, गृहस्थों के सामने और थोड़ी बुद्धि वाले शिष्य मुनियों के सामने भी सिद्धान्त शास्त्र नहीं पढ़ने चाहिये।" इसके अनुसार गृहस्थ ही नहीं, किन्तु मंदबुद्धि मुनि और समस्त अर्जिकाएं भी निषेध के लपेटे में आ गये। इसका उत्तर हम स्वयं सिद्धान्त-ग्रंथकारों के शब्दों में ही देना चाहते हैं।

पाठक सत्प्ररूणा के सूत्र ५ और उसकी धवला टीका को देखें। सूत्र है—

एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ आणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति ।। ५ ।।

---

१. भावसंग्रहादि (मा. दि. जै. ग्रं.) भूमिका पृ. ३.

इसकी टीका है—

'तत्थ झमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि' एतदेवालं, शेषस्य नान्तरीयकत्वादिति चेन्नैष दोषः, मन्दबुद्धिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्।

अर्थात् 'तत्थ इमणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि' इतने मात्र सूत्र से काम चल सकता था, शेष शब्दों की सूत्र में आवश्यकता ही नहीं थी, उनका अर्थ वहीं गर्भित हो सकता था? इस शंका का धवलाकार उत्तर देते हैं कि नहीं, यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूत्रकार का अभिप्राय मन्दबुद्धि जीवों का उपकार करना रहा है। अर्थात्, जिस प्रकार से मन्दबुद्धि प्राणिमात्र सूत्र का अर्थ समझ सकें उस प्रकार स्पष्टता से सूत्र-रचना की गई है। यहां दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। धवलाकार के स्पष्ट मतानुसार एक तो सूत्रकार का अभिप्राय अपना ग्रंथ केवल मुनियों को नहीं, किन्तु सत्त्वमात्र, पुरुष, स्त्री, मुनि, गृहस्थ आदि सभी को ग्राह्य बनाने का रहा है, और दूसरे उन्होंने केवल प्रतिभाशाली बुद्धिमानों का ही नहीं, किन्तु मन्दबुद्धियों, अल्पमेधावियों का भी पूरा ध्यान रखा है।

ऐसी बात आचार्यजी ने केवल यहीं कह दी हो, सो बात भी नहीं है। आगे का नौवां सूत्र देखिये जो इस प्रकार है 'ओघेण अत्थि मिच्छादिट्ठी।' यहां धवलाकार पुनः कहते हैं कि—

यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायात् ओघाभिधानमन्तरेणापि ओघोऽवगम्यते, तस्येहपुनरुच्चारणअमनर्थकमिति न, तस्य दुर्मेधोजनानुग्रहार्थ- त्वात्। सर्वसत्त्वानुग्रहकारिणो हि जिनाः, नीरागत्वात्।

अर्थात्, जिस प्रकार उद्देश्य होता है, उसी प्रकार निर्देश किया जाता है, इस नियम के अनुसार तो 'ओघ' शब्द को सूत्र में न रखकर भी उसका अर्थ समझा जा सकता था, फिर उसका यहां पुनरुच्चारण अनर्थक हुआ? इस शंका का आचार्य उत्तर देते हैं कि नहीं, दुर्भेध, अर्थात् अत्यन्त मन्दबुद्धि वाले लोगों के अनुग्रह के ध्यान से उसका सूत्र में पुनरुच्चारण कर दिया गया है। जिन देव तो नीराग होते हैं, अर्थात् किसी से भी रागद्वेष नहीं रखते, और इस कारण वे सभी प्राणियों का उपकार करना चाहते हैं केवल मुनियों या बुद्धिमानों का ही नहीं। (सत्प्र. १, पृ. १६२)

और आगे चलिये। सत्प्र. सूत्र ३० में कहा गया है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक तिर्यंच मिश्र होते हैं। इस सूत्र का टीका करते हुए आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि 'गतिमार्गणा की प्ररूपणा करने पर इस गति में इतने गुणस्थान होते हैं, और इतने नहीं' इस प्रकार के निरूपण से ही यह जाना जाता है कि इस गति की इस गति के साथ गुणस्थानों की

अपेक्षा समानता है, इसकी इसके साथ नहीं। अतः फिर से इसका कथन करना निष्फल है। इस प्रश्न का आचार्य समाधान करते हैं कि—

न, तस्य दुर्मेधसामपि स्पष्टीकरणार्थत्वात्। प्रतिपाद्यस्य बुभुत्सितार्थविषय-निर्णयोत्पादनं वक्तृ वचसः फलम् इति न्यायात्।

अर्थात् पूर्वोक्त शंका ठीक नहीं, क्योंकि, दुर्मेध लोगों को उसका भाव स्पष्ट हो जाये, यह उसका प्रयोजन है। न्याय यही कहता है कि जिज्ञासित अर्थ का निर्णय करा देना ही वक्ता के वचनों का फल है।

इसी प्रकार पृ. २७५ पर कहा है कि—

अनवगतस्य विस्मृतस्य वा शिष्यस्य प्रश्नवशादस्य सूत्रस्यावतारात्।

अर्थात् उसे जिस बात का अभी तक ज्ञान नहीं है, अथवा होकर विस्मृत हो गया है, ऐसे शिष्य के प्रश्न-वश इस सूत्र का अवतार हुआ है। पृ. ३२२ पर कहा है—

द्रव्यार्थिकनयात् सत्त्वानुग्रहार्थं तत्प्रवृत्तेः। ..... बुद्धीनां वैचित्र्यात्। ...... अस्यार्षस्य त्रिकालगोचरानन्तप्राण्यपेक्षया प्रवृत्तत्वात्।

अर्थात् उक्त निरूपण द्रव्यार्थिक नयानुसार समस्त प्राणियों के अनुग्रह के लिये प्रवृत्त हुआ है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रकार की बुद्धि होती है और इस आर्ष-ग्रंथ की प्रवृत्ति तो त्रिकालवर्ती अनन्त प्राणियों की अपेक्षा ही हुई है। पृ. ३२३ पर कहा है कि **जातारेकस्य भव्यस्यारेकानिस्सनार्थमाह।**

अर्थात्, अमुक बात किसी भी भव्य जीव की शंका के निवारणार्थ कही गई है। पृ. ३७० पर कहा है—

निशितबुद्धिजनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयादेशना, मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयादेशना।

अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि वाले मनुष्यों के लिये द्रव्यार्थिकनय का उपदेश दिया गया है, और मन्द बुद्धि वालों के लिये पर्यायार्थिकनय का। तृतीय भाग पृ. २७७ पर कहा है—

ण पुणरुत्तदोसो वि जिणवयणे संभवइ, मंदबुद्धिसत्ताणुग्गहट्ठदाए तस्स साफल्लदो।

अर्थात् जिन भगवान् के वचनों में पुनरुक्त दोष की संभावना भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि, मंदबुद्धि जीवों का उससे उपकार होता है, यही उसका साफल्य है। पृ० ४५३ पर कहा है—

सुहुमपरूवणमेव किण्ण वुच्चदे? ण, मेहावि-मंदाइमंदमेहाविजणा-णुग्गहकारणेण तहोवएसा।

अर्थात् अमुक बात का सूक्ष्म प्ररूपणमात्र क्यों नहीं कर दिया, विस्तार क्यों किया? इसका उत्तर है कि मेधावी, मंदबुद्धि और अत्यंत मंदबुद्धि, इन सभी प्रकार के लोगों का अनुग्रह करने के लिये उस प्रकार उपदेश किया गया है।

इसी चतुर्थ भाग के पृ. ९ पर कहा है—

किमट्ठमुभयथ णिद्देसो कीरदे? न, उभयनयावस्थितसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। ण तइओ णिद्देसो अत्थि, णयद्दयसंट्ठियजीववदिरित्तसोदाराणं असंभववादो।

अर्थात् प्रश्न होता है कि ओघ और आदेश, ऐसा दो प्रकार से ही क्यों निर्देश किया गया है? इसका उत्तर है कि दोनों नयों वाले जीवों के उपकार के लिये। तीसरे प्रकार का कोई निर्देश ही नहीं है, क्योंकि, उक्त दो नयों में स्थित जीवों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार के श्रोता होना असंभव है। पुनः ११५ पर कहा है—

एदेण दृव्वपज्जवट्ठियणयपज्जायपरिणदजीवापुग्गहकारिणो जिणा इदि जाणाविदं।

अर्थात् अमुक प्रकार कथन से यह ज्ञात कराया गया है कि जिन भगवान् द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दोनों नयवर्ती जीवों का अनुग्रह करने वाले होते हैं।

पृ. १२० पर कहा है—

'किमट्ठं एदेसु तीसु सुत्तेसु पज्जयणयदेसणा' बहूणं जीवाणमणुग्गहट्ठं। संगहरुइजीवेहिंतो बहूणं वित्थररुइजीवाणमुवलंभादो।

अर्थात् इन तीन सूत्रों में पर्यायार्थिकनय से क्यों उपदेश दिया गया है? इसका उत्तर है कि जिससे अधिक जीवों का अनुग्रह हो सके। संक्षेपरुचि वाले जीवों से विस्ताररुचि वाले जीव बहुत पाये जाते हैं। पृ. २४६ पर पाया जाता है—

उत्तमेव किमिदि पुणो वि उच्चदे फलाभावा? ण, मंदबुद्धिभवियजण-संभालणदुवारेण फलोवलंभादो।

अर्थात्, एक बार कही हुई बात यहाँ पुनः क्यों दुहराई जा रही है, इसका तो कोई फल नहीं है? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—नहीं, मंदबुद्धि भव्यजनों के संभाल द्वारा उसका फल पाया जाता है।

ये थोड़े से अवतरण धवलसिद्धान्त के प्रकाशित अंशों में से दिये गये हैं। समस्त धवल और जयधवल में से दो चार नहीं, सैकड़ों अवतरण इस प्रकार के दिये जा सकते हैं जहां स्वयं धवला के रचयिता वीरसेनस्वामी ने यह स्पष्टतः बिना किसी भ्रान्ति के प्रकट किया है कि यह सूत्र-रचना और उनकी टीका प्राणिमात्र के उपयोग के लिये, समस्त भव्यजनों के हित के लिये, मन्द से मन्द बुद्धि वाले और महामेधावी शिष्यों के समाधान के लिये हुई है, और उनमें जो पुनरुक्ति व

विस्तार पाया जाता है वह उसी उदार ध्येय की पूर्ति के लिये है। स्वयं धवलाकार के ऐसे सुस्पष्ट आदेश के प्रकाश में इन्द्रनन्दि आदि लेखकों का आर्यिकाओं, गृहस्थों और अल्पमेधावी शिष्यों को सिद्धान्तपुस्तकों को न पढ़ने का आदेश आर्ष या आगमोक्त है, या अन्यथा, यह पाठक स्वयं विचार कर देख सकते हैं।

अब हमारे सन्मुख रह जाता है पंडितप्रवर आशाधरजी का वाक्य, जो विक्रम की १३हवीं शताब्दी का है। उनका यह निषेधात्मक श्लोक सागारधर्मामृत के सप्तम अध्याय का ५०वां पद्य है। इससे पूर्व के ४९वें श्लोक में ऐलक की स्वपाणिपात्रादि क्रियाओं का विधानात्मक उल्लेख है। तथा आगे के ५१वें श्लोक में श्रावकों को दान, शील, उपवासादि का विधानात्मक उपदेश दिया गया है। इन दोनों के बीच केवल वही एक श्लोक निषेधात्मक दिया गया है। सौभाग्य से आशाधरजी ने अपने श्लोकों पर स्वयं टीका भी लिख दी है जिससे उनका श्लोकगत अभिप्राय खूब सुस्पष्ट हो जाये। उन्होंने अपने—

'स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च' का अर्थ किया है 'सिद्धान्तस्य परमागमस्य सूत्र रूपस्य रहस्यस्य च प्रायश्चित्तशास्त्रस्य अध्ययने पाठे श्रावको नाधिकारी स्यादिति संबंधः।

अर्थात् सूत्ररूप परमागम के अध्ययन का अधिकार श्रावक को नहीं है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सूत्ररूप परमागम किसे कहना चाहिये। क्या वीरसेन-जिनसेन रचित धवला जयधवला टीकाएं सूत्ररूप परमागम हैं, या यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र परमागम हैं, या भगवत् पुष्पदन्त और भूतबलि तथा गुणधर आचार्यों के रचे कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत के सूत्र व सूत्र-गाथाएं सूत्ररूप परमागम हैं? या ये सभी सूत्ररूप परमागम हैं? सूत्र की सामान्य परिभाषा तो यह है—

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

इसके अनुसार तो पाणिनि के व्याकरणसूत्र और वात्स्यायन के कामसूत्र भी सूत्र हैं, और पुष्पदंत-भूतबलिकृत कर्मप्राभृत या षट्खंडागम और उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथ सभी सूत्र कहे जाते हैं। किन्तु यदि जैन आगमानुसार सूत्र का विशेष अर्थ वहां अपेक्षित हैं तो उसकी एक परिभाषा हमें शिवकोटि आचार्य के भगवती आराधना में मिलती है जहां कहा गया है कि—

सुत्तं गणहरकहिय तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च।।३४।।

इस गाथा की टीका विजयोदया में कहा है कि तीर्थंकरों के कहे हुए अर्थ

को जो ग्रथित करते हैं वे गणधर हैं, जिन्हें बिना परोपदेश के स्वयं ज्ञान उत्पन्न हो जाय, वे स्वयंबुद्ध है, समस्त श्रुतांग के धारक श्रुतकेवली हैं और जिन्होंने दशपूर्वों का अध्ययन कर लिया है और विद्याओं से चलायमान नहीं होते, वे अभिन्नदशपूर्वी हैं। इनमें से किसी के द्वारा भी ग्रथित ग्रंथ को सूत्र कहते हैं।

अब यदि हम इस कसौटी पर षट्खंडागम सिद्धान्त को या अन्य उपलब्ध ग्रंथों को कसें तो ये ग्रंथ 'सूत्र' सिद्ध नहीं होते, क्योंकि, न तो इसके रचयिता तीर्थंकर हैं, न प्रत्येकबुद्ध, न श्रुतकेवली और न अभिन्नदशपूर्वी हैं। धरसेनाचार्य को तो केवल अंग-पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्यपरम्परा से मिला था। वह उन्होंने ग्रंथविच्छेद के भय से पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों को सिखा दिया और उसके आधार पर कुछ ग्रंथ रचना पुष्पदन्त ने और कुछ भूतबलि ने की, जो षट्खंडागम के नाम से उपलब्ध है और जिस पर विक्रम की नौवीं शताब्दी में वीरसेनाचार्य ने धवला टीका लिखी। इस प्रकार यदि हम आशाधरजी द्वारा उक्त सूत्र को सामान्य अर्थ में लेते हैं तो षट्खंडागम सूत्रों के अनुसार तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भी सूत्र हैं, सर्वार्थसिद्धि भी सूत्र ही ठहरता है, क्योंकि, इसमें षट्खंडागम के सूत्रों का संस्कृत रूपान्तर पाया जाता है, गोम्मटसार भी सूत्र हैं, क्योंकि, इसमें भी षट्खंडागम के प्रमेयांश का संग्रह, अर्थात् सूत्ररूप में समुद्धार किया गया है, इत्यादि। पर यदि हम सूत्र का अर्थ भगवती आराधना की परिभाषानुसार लें, तो ये कोई भी ग्रन्थ सूत्र नहीं सिद्ध होते। इस स्थिति में बचने का कोई उपाय उपलब्ध नहीं है।

अब इन्हीं आशाधरजी के इसी सागारधर्मामृत के प्रथम अध्याय के १०वें श्लोक और उन्हीं के द्वारा लिखी गई उसकी टीका को देखिये—

शलाकयेवाप्तगिराप्तसूत्रप्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात्।
हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वद् भायादसौ सांव्यवहारिकाणाम्।।

अर्थात् जिस प्रकार एक मोती जो कि कांति-रहित है, उसमें भी यदि सलाई के द्वारा छिद्र कर सूत (डोरा) पिरोने योग्य मार्ग कर दिया जाय और उसे कांति वाले मोतियों की माला में पिरो दिया जाय तो वह कांति-रहित मोती भी कांति वाले मोतियों के साथ वैसा ही, अर्थात् कांति सहित ही सुशोभित होता है। इसी प्रकार जो पुरुष सम्यग्दृष्टि नहीं है वह भी यदि सद्गुरु के वचनों के द्वारा अरंहतदेव के कहे हुये सूत्रों में प्रवेश करने का मार्ग प्राप्त कर लें, तो वह सम्यक्त्व-रहित होकर भी सम्यग्दृष्टियों में नयों के जानने वाले व्यवहारी लोगों को सम्यग्दृष्टि के समान ही सुशोभित होता है। सागारधर्मामृत की टीका

भी स्वयं आशाधर जी की बनाई हुई है। उस श्लोक की टीका में सूत्र का अर्थ परमागम और प्रवेश मार्ग का अर्थ 'अन्तस्तत्त्वपरिच्छेदनोपाय' किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि आशाधरजी के ही मतानुसार अविरतसम्यग्दृष्टि की तो बात क्या, सम्यक्त्वरहित व्यक्ति को भी परमागम के अन्तस्तत्त्वज्ञान करने का पूर्ण अधिकार है और भी सागारधर्मामृत के दूसरे अध्याय के २१वें श्लोक में आशाधरजी कहते हैं।

तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं
तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तदुर्दैवतः।
आंगं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः पर्वान्ते
प्रतिमासमाधिमुपयन्धन्यो निहन्त्यंहसी।।

अर्थात् तीर्थ याने धर्माचार्य व गृहस्थाचार्य के कथन से जीवादिक पदार्थों को निश्चित करके, एक देशव्रत को धर के, दीक्षा से पूर्व अपराजित महामन्त्र का धारी और मिथ्या देवताओं का त्यागी तथा अंगों (द्वादशांग) व पूर्वों (चौदह पूर्वों) के अर्थसंग्रह का अध्ययन करके अन्य शास्त्रों का भी अधीता पर्व के अन्त में प्रतिमायोग को धारण करने वाला पुण्यात्मा जीव पापों को नष्ट करता है।

इस पद्य में आशाधर जी ने अजैन से जैन बनने का आठ संस्कारों, अर्थात् अवतार, वृत्तलाम, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढचर्या और उपयोगिता का संक्षेप में निरूपण किया है, जिसमें उन्होंने जैन बनने से पूर्व ही अर्थात् अपनी अजैन अवस्था में ही जैन श्रुतांगों अर्थात् बारह अंग और चौदह पूर्व के 'अर्थसंग्रह' के अध्ययन कर लेने का उपदेश दिया है। पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ और दृढचर्या क्रियाओं का स्वरूप स्वयं वीरसेनस्वामी के शिष्य तथा जयधवला के उत्तरभाग के रचयिता जिनसेन स्वामी ने महापुराण में भी इस प्रकार बतलाया है—

पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा।
पूजोपवाससम्पत्त्या गृह्णतोऽङ्गार्थसंग्रहम्।।
ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी।
शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः।।
तदास्य दृढचर्याख्या क्रिया स्वसमये श्रुतम्।
निष्ठाप्य शृण्वतो ग्रंथान्बाह्यानन्यांश्च कांश्चन।।

यहां भी जैन होने से पूर्व ही गृहस्थ को अंगों के अर्थ संग्रह का पूर्वों की विद्याओं को सुन लेने का पूरा अधिकार दिया गया है। यद्यपि मेधावीकृत

धर्मसंग्रहश्रावकाचार इस समय हमारे सन्मुख नहीं है तथापि यह तो सुविदित है कि पं. मेधावी या मीहा जिनचन्द्रभट्टारक के शिष्य थे और उन्होंने अपना यह ग्रन्थ वि. सं, १५४१ में हिसार (पंजाब) नगर में वसुनन्दि, आशाधर और समन्तभद्र के ग्रन्थों के आधार से बनाया था। धर्मोपदेशपीयूषवर्षाकर श्रावकाचार का तो हमने नाम ही इसी समय प्रथम बार देखा है, और यहां भी न तो उसके कर्ता का कोई नाम-धाम बतलाया गया है और न उसकी किसी प्रति, मुद्रित या हस्तलिखित का उल्लेख किया गया। अतएव इस अज्ञात कुलशील ग्रंथ की हम परीक्षा क्या करें! यह कोई प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथ तो ज्ञात नहीं होता। लेखक ने एक वर्तमान रचयिता मुनि सुधर्मसागरजी के लिखे हुए 'सुधर्मश्रावकाचार' का मत भी उद्धृत किया है। किन्तु प्राचीन प्रमाणों की ऊहापोह में उसे लेना हमने उचित नहीं समझा। वह तो पूर्वोक्त ग्रंथों के आश्रय से ही आज का उनका मत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गृहस्थ को सिद्धान्त-ग्रंथों का निषेध करने वाले ग्रंथों में जिन रचनाओं का समय निश्चयतः ज्ञान है वे १३हवीं शताब्दी पूर्व की नहीं हैं। उनमें सिद्धान्त का अर्थ भी स्पष्ट नहीं किया गया और जहां किया गया है वहां पूर्वापर-विरोध पाया जाता है। कोई उचित युक्ति या तर्क भी उनमें नहीं पाया जाता। यह तो सुज्ञात ही है कि जिन ग्रंथों में पूर्वापर-विरोध या विवेक वैपरीत्य पाया जाये वे प्रामाणिक आगम नहीं कहे जा सकते। इन्द्रनन्दि के वाक्यों का तो सीधे सिद्धान्त ग्रंथों के ही वाक्यों से विरोध पाया जाता है, अतः वह प्रामाणिक किस प्रकार गिना जा सकता है? यथार्थतः प्रामाणिक जैन शास्त्रों की रचना और शासन के प्रवर्तन का चरमोन्नत काल तो उक्त समस्त ग्रंथों की रचना से पूर्ववर्ती ही है। तब क्या कारण है कि इससे पूर्व के ग्रंथों में हमें गृहस्थ के सिद्धान्त ग्रंथों के अध्ययन के सम्बन्ध में किसी नियंत्रण का उल्लेख नहीं मिलता? श्रावकाचार का सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रंथ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार है, जिसे वादिराजसूरि ने 'अक्षयसुखावह' और प्रभाचन्द्र ने 'अखिल सागारमार्ग को प्रकाशित करने वाला निर्मल सूर्य' कहा है। इस ग्रंथ में श्रावकों के अध्ययन पर कोई नियंत्रण नहीं लगाया गया, किन्तु इसके विपरीत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को सम्पादन करना ही गृहस्थ का सच्चा धर्म कहा है, तथा ज्ञान-परिच्छेद में, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग सम्बन्धी समस्त आगम का स्वरूप दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि इनका अध्ययन गृहस्थ के लिये हितकारी है। द्रव्यानुयोग का अर्थ भी वहां टीकाकार प्रभाचन्द्रजी ने 'द्रव्यानुयोग सिद्धान्तसूत्र' किया है, जिससे स्पष्ट है कि गृहस्थ के सिद्धान्ताध्ययन

में उन्हें किसी प्रकार की कैद अभीष्ट नहीं है। इस श्रावकाचार में उपवास के दिन गृहस्थ को ज्ञान-ध्यान परायण[१] होने का विशेष रूप से उपदेश है, तथा उत्कृष्ट श्रावक के लिये समय या आगम का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक बतलाया है— समयं यदि जानीते, श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति।। ५, २७. 'यदि समयं आगमं जानीते, आगमज्ञो **यदि भवति, तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयो ज्ञाता स भवति'** (प्रभाचंद्रकृत टीका)

धर्मपरीक्षादि ग्रन्थों के विद्वान् कर्ता अमितगति आचार्य विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए हैं। इनका बनाया हुआ श्रावकाचार भी खूब सुविस्तृत ग्रंथ है[२]। इस ग्रंथ में उन्होंने 'जिनप्रवचन का अभिज्ञ' होना उत्तम श्रावक का आवश्यक लक्षण माना है। यथा—

ऋजुभूतमनोबुद्धिर्गुरुशुश्रूषणोद्यतः ।
जिनप्रवचनाभिज्ञः श्रावकः सप्तधोत्तम ।।१३, २

आगे चलकर उन्होंने गृहस्थ को आगम का अध्ययन करना भी आवश्यक बतलाया है—

आगमाध्ययन कार्यं कृतकालादिशुद्धिना ।
विनयारूढचित्तेन बहुमानविधायिना ।। १३, १०

गृहस्थ को स्वाध्याय के उपदेश में स्वाध्याय के पांच प्रकारों में वाचना, आम्नाय और अनुप्रेक्षा का भी विधान है। यथा—

वाचना पृच्छनाऽऽम्नायानुप्रेक्षा धर्मदेशना ।
स्वाध्यायः पंचधा कृत्यः पंचमीं गतिमिच्छता ।। १३, ८१

गृहस्थों को जहां तक हो सके स्वयं जिन भगवान् के वचनों का पठन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि, उनके बिना वे कृत्याकृत्य-विवेक की प्राप्ति, व आत्म-अहित का त्याग नहीं कर सकते।

जानात्यकृत्यं न जनो न कृत्यं जैनेश्वरं वाक्यमबुद्धमानः ।
करोत्यकृत्यं विजहाति कृत्यं ततस्ततो गच्छति दुःखमुग्रम् ।।१३, ८९
अनात्मनीनं परिहर्तुकामा ग्रहीतुकामाः पुनरात्मनीनम् ।
पठन्ति[३] शश्वज्जिननाथवाक्यं समस्तकल्याणविधायि संतः ।।१३, ९०

यर्थाथतः वे मूढ हैं जो स्वयं जिनभगवान् के कहे हुए सूत्रों को छोड़कर

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार (मा. ग्र. मा.) १, ५.

२. रत्नकरण्डश्रावाकचार (मा. ग्रं. मा.) ४, १८.

३. सखाराम नेमचंद ग्रंथमाला, सोलापुर, १९२८.

दूसरों के वचनों का आश्रय लेते हैं। जिनभगवान् के वाक्य के समान दूसरा अमृत नहीं है—

सुखाय ये सूत्रमपास्य जैनं मूढाः श्रयंते वचनं परेषाम् ।१३, ९१
विहाय वाक्यं जिनचन्द्रदृष्टं परं न पीयूषमिहास्ति किंचित् ।।१३, ९२ इत्यादि

यशःकीर्तिकृत प्रबोधसार[१] भी श्रावकाचार का उत्तम ग्रंथ है। इसमें गृहस्थों को उपदेश दिया गया है कि श्रुत के अभाव में समस्त शासन का नाश हो जायेगा, अतः सब प्रसन्न करके श्रुत के सार का उद्धार करना चाहिये। श्रुत से ही तत्त्वों का परामर्श होता है और श्रुत से ही शासन की वृद्धि होती है। तीर्थंकरों के अभाव में शासन श्रुत के ही आधीन है, इत्यादि।

नश्यत्येव ध्रुवं सर्वं श्रुताभावेऽत्र शासनम् ।
तस्मातसर्वप्रयत्नेन श्रुतसारं समुद्धरेत् ।।
श्रुतात्तत्त्वपरामर्शः श्रुतात्समयवर्द्धनम् ।
तीर्थेशाभावतः सर्वं श्रुताधीनं हि शासनम् ।।३, ६३-६४

इस प्रकार प्राचीन श्रावकाचार-ग्रंथों ने गृहस्थों के लिये न केवल सिद्धान्ताध्ययन का निषेध नहीं किया, किन्तु प्रबलता से उसका उपदेश दिया है। हम ऊपर बतला ही आये हैं कि स्वयं भगवान् कुंदकुंदाचार्य अपने सूत्रपाहुड में जिन भगवान् के कहे हुए सूत्र के अर्थ के ज्ञान को सम्यग्दर्शन का अत्यन्त आवश्यक अंग कहते हैं, और सूत्रार्थ से जो च्युत हुआ उसे वे मिथ्यादृष्टि समझते हैं।

सिद्धान्त किसे कहना चाहिये, इस बात की पुष्टि में केवल इन्द्रनन्दि और विबुधश्रीधरकृत श्रुतावतारों के ऐसे अवतरण दिये गये हैं, जिनमें कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत को 'सिद्धान्त' कहा गया है, तथा अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त का वह अवतरण दिया है जहां उन्होंने धवल और जयधवल को सिद्धान्त कहा है। किन्तु इन ग्रन्थों के सिद्धान्त कहे जाने से अन्य ग्रंथ सिद्धान्त नहीं रहे, वह कौन से तर्क से सिद्ध हुआ, वह समझ में नहीं आता। इस सिलसिले में गोम्मटसार को असिद्धान्त सिद्ध करने के लिये गोम्मटसार की टीका के वे अंश उद्धृत किये गये हैं जिनमें कहा गया है कि षट्खंडाराम का निरवशेष प्रमेयांश लेकर गोम्मटसार की रचना की गई है। लेखक के अनुसार "इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि

१. अनन्तकीर्ति जैनग्रंथमाला, बम्बई, १९७९.

गोम्मटसार सिद्धान्तग्रंथ नहीं है, किन्तु सिद्धान्तग्रंथों से सार लेकर बनाया गया है। सिद्धान्त ग्रंथ दो ही हैं, यह बात भी इन पंक्तियों से सिद्ध हो जाती है।" किन्तु उन पंक्तियों में हमें ऐसा व्यवच्छेदक भाव जरा भी दृष्टिगोचर नहीं होता। न तो लेखक सिद्धान्त की कोई परिभाषा दे सके, जिससे केवल उक्त दो ही सिद्धान्त-ग्रंथ ठहर जायें और अन्य गोम्मटसारादि ग्रंथ सिद्धान्त श्रेणी के बाहर पड़ जायें और न कोई ऐसा प्राचीन उल्लेख ही बता सके, जहां कहा गया हो कि सिद्धान्त-ग्रंथ केवल दो ही हैं, अन्य नहीं। यथार्थ बात तो यह है कि सिद्धान्त, आगम, प्रवचन ये सब शब्द एक ही अर्थ के पर्यायावाची शब्द हैं। स्वयं धवलाकार ने कहा है—**'आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो'** (सत्र. १ पृ. २०)।

अर्थात् आगम, सिद्धान्त, प्रवचन, ये सब एक ही अर्थ के बोधक शब्द हैं। लेखक ने भी आगम और सिद्धान्त को एकार्थवाची स्वीकार किया है। यही नहीं, किन्तु गृहस्थों को सिद्धान्ताध्ययन का निषेध करने वाले पूर्वोक्त साधारण परस्पर-विरोधी कथन करने वाले और युक्ति-हीन वाक्यों को भी वे 'आगम' करके मानते हैं। किन्तु सिद्धान्तों के निरवशेष प्रमेयांश का समुद्धार करने वाले गोम्मटसार को सिद्धान्त मानने में उन्हें ऐतराज है। षट्खंडागम भी तो महाकर्मप्रकृतिपाहुड का संक्षिप्त समुद्धार है। फिर यह कैसे सिद्धान्त बना रहा है, और गोम्मटसार कैसे सिद्धान्त-बाह्यः हो जाता है; यह युक्ति समझ में नहीं आती। यदि किसी के किन्हीं ग्रंथों को सिद्धान्त कहने से ही अन्य दूसरे ग्रंथ असिद्धान्त हो जाते हों, तो गोम्मटसारादि ग्रंथों के भी सिद्धान्तरूप से उल्लिखित किये जाने के प्रमाण दिये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, राजमल्लकृत लाटीसंहिता नामक श्रावकाचार ग्रंथ में उल्लेख है—

तदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने ।
तत्सूत्रं च यथाम्नायात् प्रतीत्यै वच्मि साम्प्रतम् ।। ५, १३४

इस प्रकार के उल्लेखों से क्या गोम्मटसार सिद्धान्त ग्रंथ सिद्ध नहीं होता? और क्या उसके सिद्धान्त ग्रंथ सिद्ध हो जाने से शेष ग्रंथ सिद्धान्तबाह्य सिद्ध हो जाते हैं?

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो समस्त जैनधर्म और सिद्धान्त का ध्येय जिनोक्त वाक्यों को सर्वव्यापी बनाने का रहा है। स्वयं तीर्थंकर के समवसरण में मनुष्यमात्र ही नहीं, पशु-पक्षी आदि तक सम्मिलित होते थे, जो सभी भगवान् के उपदेश को सुन समझ सकते थे। जब द्वादशांग वाणी की आधारभूत दिव्यध्वनि तक को सुनने का अधिकार समस्त प्राणियों को है, तब उस वाणी के सारांश को ग्रथित करने वाले कोई भी सिद्धान्त ग्रंथ श्रावकों के लिये क्यों निषिद्ध किये

जायेंगे, यह समझ में नहीं आता। सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के लिए सिद्धान्त का आश्रय अत्यंत वांछनीय है। समस्त शंकाओं का निवारण होकर निःशंकित अंग की उपलब्धि का सिद्धान्ताध्ययन से बढ़कर दूसरा उपाय नहीं। जिन सैद्धान्तिक बातों के तर्क-वितर्क में विद्वानों का और जिज्ञासुओं का न जाने कितना बहुमूल्य समय व्यय हुआ करता है और फिर भी वे ठीक निर्णय पर नहीं पहुंच पाते, ऐसी अनेक गुत्थियाँ इन सिद्धान्त ग्रंथों में सुलझी हुई पड़ी हैं। उनसे अपने ज्ञान को निर्मल और विकसित बनाने का सीधा मार्ग गृहस्थ जिज्ञासुओं और विद्यार्थियों को क्यों न बताया जाय? स्वयं धवलसिद्धान्त में कहीं भी ऐसा नियंत्रण नहीं लगाया गया कि ये ग्रंथ मुनियों को ही पढ़ना चाहिये, गृहस्थों को नहीं। बल्कि, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, जगह-जगह हमें आचार्य का यही संकेत मिलता है कि उन्होंने मनुष्यमात्र का ख्याल रखकर व्याख्यान किया है। उन्होंने जगह-जगह कहा है कि 'जिन भगवान् सर्वसत्त्वोपकारी होते हैं, और इसलिये सबकी समझदारी के लिये अमुक बात अमुक रीति से कही गई है। यदि सिद्धान्तों को पढ़ने का निषेध है, तो वह अर्थ या विषय की दृष्टि से है कि भाषा की दृष्टि से, यह भी विचार कर लेना चाहिए। धवलादि सिद्धान्तग्रंथों की भाषा वही है जो कुंदकुंदाचार्यादि प्राकृत ग्रंथकारों की रचनाओं में पाई जाती है, जिसके अनेक व्याकरण आदि भी हैं। अतएव भाषा की दृष्टि से नियंत्रण लगाने का कोई कारण नहीं दिखता। यदि विषय की दृष्टि से देखा जाय तो यहां कि तत्त्वचर्चा भी वही है जो हमें तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रंथों में मिलती है। फिर उसी चर्चा को गृहस्थ इन ग्रंथों में पढ़ सकता है, लेकिन उन ग्रंथों में नहीं, यह कैसी बात है? यदि सिद्धान्त-पठन का निषेध है तो ये सब ग्रंथ भी उस निषेध-कोटि में आयेंगे। जब सिद्धान्ताध्ययन के निषेध वाले उपर्युक्त अत्यंत आधुनिक पुस्तकों को सिद्धान्त के पर्यायवाची शब्द आगम से उल्लिखित किया जा सकता है, तब एक अत्यन्त हीन दलील के पोषण-निमित्त गोम्मटसार व सर्वार्थसिद्धि जैसे ग्रंथों को सिद्धान्तबाह्य कह देना चरमसीमा का साहस और भारी अविनय है। यथार्थतः सर्वार्थसिद्धि में तो कर्मप्राभृत के ही सूत्रों का अक्षरशः उसी क्रम से संस्कृत रूपान्तर पाया जाता है, जैसा कि धवला के प्रकाशित भागों के सूत्रों और उनके नीचे टिप्पणों में दिये गये सर्वार्थसिद्धि के अवतरणों में सहज ही देख सकते हैं। राजवार्तिक आदि ग्रंथों को धवलाकार ने स्वयं बड़े आदर से अपने मतों की पुष्टि में प्रस्तुत किया है। गोम्मटसार तो धवलादि का सारभूत ग्रंथ ही है, जिसकी गाथाएं की गाथाएं सीधी वहां से ली गई हैं। उसके सिद्धान्तरूप से उल्लेख किये जाने का एक प्रामण भी ऊपर दिया जा चुका है। ऐसी अवस्था में इन पूज्य

ग्रंथों को 'सिद्धान्त नहीं है' ऐसा कहना बड़ा ही अनुचित है।

मैं इस विषय को विशेष बढ़ाना अनावश्यक नहीं समझता हूं, क्योंकि, उक्त निषेध के पक्ष में न प्राचीन ग्रंथों का बल है और न सामान्य युक्ति या तर्क का। जान पड़ता है, जिस प्रकार वैदिक धर्म के इतिहास में एक समय वेद के अध्ययन का द्विजों के अतिरिक्त दूसरों को निषेध किया गया था, उसी प्रकार जैन समाज के गिरती के समय में किसी 'गुरु' ने अपने अज्ञान को छुपाने के लिये यह सार हीन और जैन उदार नीति के विपरीत बात चला दी, जिसकी गतानुगतिक थोड़ी सी परम्परा चलकर आजतक सद्ज्ञान के प्रचार में बाधा उत्पन्न कर रही है। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र और चामुण्डरायजी के विषय में जो कथा कही जाती है वह प्राचीन किसी भी ग्रंथ में नहीं पाई जाती और पीछे की निराधार निरी कल्पना प्रतीत होती है। ऐसी ही निराधार कल्पनाओं का यह परिणाम हुआ कि गत सैकड़ों वर्षों में इन उत्तमोत्तम सिद्धान्त ग्रंथों का पठन-पाठन नहीं हुआ और उनका जैन साहित्य के निर्माण में जब जितना उपयोग होना चाहिये था, नहीं हुआ। यही नहीं, इनकी एकमात्र अवशिष्ट प्रतियां भी धीरे-धीरे विनष्ट होने लगी थीं। महाधवल की प्रति में से कितने ही पत्र अप्राप्य हैं और कितने ही छिद्रित आदि हो जाने से उनमें पाठ-स्खलन उत्पन्न हो गये हैं। यह जो लिखा है कि इन सिद्धान्त ग्रंथों की कापियाँ करा कराके जगह-जगह विराजमान करा दी जानी चाहिए, सो ये कापियाँ कौन करेगा? श्रावक ही तो? या मुनिजनों को दिया जायगा, सो भी अल्पबुद्धि नहीं, विद्वान् मुनियों को? यथार्थतः गृहस्थों द्वारा ही तो उनकी प्रतिलिपियाँ की गईं, और की जा सकती हैं, तथ गृहस्थों द्वारा ही उनका जो कुछ उद्धार संभव है, किया जा रहा है। इसमें न तो कोई दूषण है, न बिगाड़। अब तो जैन सिद्धान्त को समस्त संसार में घोषित करने का यही उपाय है। हाथ कंकन को आरसी क्या?

सत्प्ररूणा-विभाग व वर्गणा-खण्ड-विचार

षट्खंडागम की प्रथम जिल्द के प्रकाशित होने पर उसके सम्बन्ध में की गई समालोचनाओं में एक दो महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किये गये थे, जिन पर यहां पुनः विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इनमें प्रथम प्रश्न पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार का यह है कि—

सत्प्ररूपणा का मंगलाचरण व विषय-विभाग

'सत्प्ररूपणा की जो विषय-सूची दी है वह केवल सत्प्ररूपणा की न हो कर उसके पूर्व के १५८ पृष्ठों की भी विषय-सूची है। अच्छा होता यदि उसे जीवस्थान के प्रथम अंश की विषय-सूची लिखा जाता और सत्प्ररूपणा का जो मुख पृष्ठ दिया है उस पर सत्प्ररूपणा की जगह 'जीवस्थान प्रथम अंश' ऐसा लिखा जाता, क्योंकि, षट्खंडागम का पहला खंड जीवस्थान है, उसी का णमोकार मंत्र मंगलाचरण है, न कि सत्परूपणा का'। (अनेकान्त वर्ष २, कि० ३, पृ २०१)

मुख्तारजी की इस सूचना पर सूक्ष्म विचार करने पर भी उक्त विषय में हमें अपनी कोई भूल या त्रुटि ज्ञात नहीं हुई। हमने जो ग्रन्थ का नाम दिया है और उसका विषय-विभाग किया है वह मूल ग्रन्थ को ध्यान में रख कर ही किया है। षट्खंडागम की अपेक्षा से 'जीवस्थान का प्रथम अंश' और सत्प्ररूपणा में भेद ही क्या है? सत्प्ररूपणा ही तो जीवस्थान का प्रथम अंश है। उसी के आदि में मंगलाचरण किये जाने से वह जीवस्थान भर का मंगलाचरण हो जाता है। दूसरे, यथार्थतः तो वह सत्प्ररूपणा का ही मंगलाचरण है। आचार्य पुष्पदन्त ने उस मंगलाचरण को आदि में लेकर सत्प्ररूपणा के ही सूत्रों की तो रचना की है। यदि हम इसे आचार्य भूतबलि की आगे की रचना से अलग कर लें तो आचार्य पुष्पदन्त की रचना सत्प्ररूपणा मात्र ही तो रह जाती है और उसी का वह मंगलाचरण है। उसके आगे के छह सात सूत्रों में सत्प्ररूपणा का यथोचित स्थान और कार्य बतलाने के लिये चौदह जीव समासों और आठ अनुयोग द्वारों का उल्लेख मात्र किया गया है। धवलाकार

ने उन सूत्रों की व्याख्या के प्रसंग से जीवस्थान की उत्थानिका का वर्णन कर डाला और वह भी इतना लम्बा जो अनुवादादि-सहित मुद्रित प्रति के १५८ पृष्ठों में आया, तो क्या इस कारण वह मंगलसूत्र सत्प्ररूपण का मंगलाचरण ही नहीं रहा या सत्प्ररूपणा के अन्तर्गत हो जाने से जीवस्थान का नहीं रहा? ग्रन्थों में मंगलाचरण की व्यवस्था तो यही देखने में आती है कि ग्रन्थ के आदि में वह किया जाता है और जो भी खण्ड, स्कन्ध, सर्ग, अध्याय व विषय-विभाग आदि में हो उसी के अन्तर्गत निबद्ध होने पर भी वह समस्त ग्रन्थ का समझा जाता है। समस्त ग्रन्थ पर उसका अधिकार प्रकट करने के लिये उसका एक स्वतन्त्र विभाग नहीं बनाया जाता। इस दृष्टि से सत्प्ररूपणा के आदि में होते हुए भी उस मङ्गलाचरण के समस्त जीवस्थान का अङ्ग बने रहने में कोई आपत्ति तो नहीं होना चाहिये? जीवस्थान ही क्यों, जहां तक ग्रन्थ में सूत्रकारकृत दूसरा मंगलाचरण न पाया जाये तहां तक उस मंगलाचरण का अधिकार समझना चाहिये, चाहे विषय की दृष्टि से ग्रन्थ में कितने ही विभाग क्यों न पड़ गये हों। स्वयं धवलाकार ने आगे कृति अनुयोगद्वार के आदि में आये हुए मंगलाचरण को शेष तेवीस अधिकारों का भी मंगलाचरण माना है। यथा—

कदीए आदिम्हि उत्तस्स एदस्स मंगलस्य
सेस-तेवीस-अणियोगद्दारेसु पउत्तिदंसणादो।

उसी कृति अनुयोगद्वार के आदि में आये हुए मंगलाचरण को स्वयं मुख्तारजी ने खींचतानकर उससे पूर्व के खुद्दाबन्ध और बन्धस्वामित्व खण्डों का भी मंगलाचरण साबित करने का प्रयत्न किया है। तब जीवस्थान के ही आदि अंश सत्प्ररूपणा के प्रारंभ में दिये गये मंगलाचरण को समस्त जीवस्थान का समझने के लिये उसका सत्प्ररूपणा से अलग निर्दिष्ट किया जाना क्यों आवश्यक प्रतीत होता है, यह कुछ समझ में नहीं आता? मुख-पृष्ठ पर सत्प्ररूपणा की जगह 'जीवस्थान प्रथम अंश' ऐसा लिखने से क्या अच्छा होता, उसके विषय आदि पर क्या प्रकाश पड़ता और उससे पाठक क्या समझते? षट्खण्डागम के भीतर ऐसे अज्ञात-कुल-शील शीर्षक के लिये स्थान देना मैं अब भी उचित नहीं समझता। ग्रन्थ की विषय-सूची जो सत्प्ररूपणा की कही गई है वह मूल सूत्रग्रन्थ की अपेक्षा से है। धवलाकार ने आदि से लगाकर १७७ सूत्रों तक की एक ही सिलसिले से टीका की है और स्वयं उसे 'संतसुत्तविवरण' कहा है। चूंकि टीकाकार ने मंगलाचरण व प्रास्ताविक सूत्रों की ही व्याख्या में श्रुतावतार व जीवस्थान की उत्थानिकादि का विस्तार से वर्णन किया है,

इसलिये सूची में उन विषयों का स्पष्ट अलग उल्लेख कर दिया गया है। इसमें हमें कोई त्रुटि व सुधार की आवश्यकता अब भी प्रतीत नहीं होती, तथा उक्त आपत्ति सर्वथा निर्मूल ज्ञात होती है।

मुख्तारजी की दूसरी आपत्ति विषय की दृष्टि से कुछ गंभीर है। वे लिखते हैं—

वर्गणा-खंड विचार

"यहां पर एक बात जरूर प्रकट कर देने की है और वह यह है कि प्रस्तावना में 'धवला को वर्गणा-खण्ड की टीका भी बतलाया गया है, परन्तु मेरे उस लेख की युक्तियों पर कोई विचार नहीं किया गया जो सिद्धान्तभास्कर के छठे भाग की पहली किरण में 'क्या यह सचमुच भ्रमनिवारण है' इस शीर्षक के साथ प्रकाशित हो चुका है और जिन पर विचार करना उचित एवं आवश्यक था। यदि उन युक्तियों पर विचार करके प्रकृत निष्कर्ष निकाला गया होता तो वह विशेष गौरव की वस्तु होता। इस समय वह पं० पन्नालालजी सोनी के कथन का अनुसरण जान पड़ता है, जिनके लेख के उत्तर में ही मेरा उक्त लेख लिखा गया था। इस विषय का पुनः विशेष विचार अनेकान्त के गत विशेषांक में दिये हुए 'धवलादि श्रुत-परिचय' नामक लेख में 'वर्गणाखण्ड-विचार' नामक उपशीर्षक के नीचे किया गया है। उस पर से पाठक जान सकते हैं कि उन युक्तियों का समाधान किये वगैर यह समुचित रूप से नहीं कहा जा सकता कि धवला टीका षट्खण्डागम के प्रथम चार खण्डों की टीका न होकर वर्गणाखण्ड सहित पांच खण्डों की टीका है।"

(अनेकान्त वर्ष ३, किरण २, पृष्ठ २०२)

ग्रन्थ के खण्ड-विभाग का जो परिचय हमने प्रथम जिल्द की भूमिका में दिया है वह मत हमने धवला की उपलभ्य प्रति के सूक्ष्म अवलोकन व युक्ति-संगत अनुमानों द्वारा ही निश्चित किया है। वहां न किसी पूर्व प्रकाशित मत का ही अनुसरण किया गया और न खण्डन, क्योंकि स्थायी ग्रन्थ की भूमिका में सामान्य अवलोकन और विस्खलित स्वल्प सामग्री के आधार पर स्थिर किये गये मत मतान्तरों के खण्डन-मण्डन में पड़ना हमें अभीष्ट प्रतीत नहीं हुआ। किन्तु समालोचक हमारी उक्त समीक्षा को इस कारण विशेष गौरव की वस्तु नहीं समझते क्योंकि उसमें उनके 'लेख की युक्तियों पर विचार नहीं किया गया।' यदि समालोचक भूमिका के 'षट्खण्डागम-परिचय' शीर्षक स्कन्ध को ध्यान से पढ़ते तो उनकी शङ्काओं का समाधान हो जाता और यह

भी समझ में आता कि उसमें किसी मत-विशेष का अनुसरण नहीं किया गया है। अस्तु, जब वह वर्गणाखण्ड-विषयक प्रश्न पुनः उठाया ही गया है, तब उस पर हमें पुनः विचार करना आवश्यक हो गया।

क्या वर्गणाखण्ड धवलान्तर्गत नहीं हैं?

षट्खण्डागम के जो छह खण्डों का परिचय प्रथम जिल्द की भूमिका में दिया जा चुका है उनमें से प्रथम तीन अर्थात् जीवट्ठाण, खुद्दाबंध और बंधसामित्तविचय तथा अन्तिम अर्थात् महाबंध जो स्वतन्त्र पुस्तकारूढ़ है, इन चार खण्डों के विषय में तो कोई आपत्ति नहीं बतलायी जाती। आपत्ति है वेदना और वर्गणाखण्ड के बीच की सीमा के सम्बन्ध में। मुख्तारजी का मत है कि 'धवला ग्रन्थ वेदनाखण्ड के साथ ही समाप्त हो जाता है, वर्गणाखण्ड उसके साथ में लगा हुआ नहीं है।' उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि में जो युक्तियां दी हैं वे संक्षेपतः इस प्रकार हैं :—

(१) जिस 'कम्मपयडिपाहुड' के २४ अधिकारों का पुष्पदन्त और भूतिबलि ने उद्धार किया है उसका दूसरा गुणनाम 'वेयणकसिण पाहुड' भी है जिससे उन २४ अधिकारों का वेदना खण्ड के ही अन्तर्गत होना सूचित होता है।

(२) चौबीस अनुयोगद्वारों में वर्गणानाम का कोई अनुयोगद्वार भी नहीं है। अवान्तर अनुयोग के भी अवान्तर भेदान्तर्गत संक्षिप्त वर्गणाप्ररूपणा को 'वर्गणाखण्ड' कैसे कहा जा सकता है?

(३) वेदनाखण्ड के आदि मंगलसूत्रों की टीका में वीरसेन ने इन सूत्रों को ऊपर कहे हुए वेदना, बंधसामित्तविचय और खुद्दाबंध की मंगलाचरण बतलाया है, और यह स्पष्ट सूचना की है कि वर्गणाखण्ड के आदि में तथा महाबंधखण्ड के आदि में पृथक् मंगलाचरण किया गया है। उपलभ्य धवला के शेषभाग में सूत्रकार-कृत कोई दूसरा मंगलाचरण नहीं देखा जाता, इससे वहां वर्गणाखण्ड की कल्पना गलत है।

(४) धवला में जो 'वेयणाखण्ड समत्ता' पद पाया जाता है वह अशुद्ध है; उसमें पड़ा हुआ 'खण्ड' शब्द असंगत है, जिसके प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह मालूम नहीं होता।

(५) इन्द्रनन्दि व विबुध श्रीधर जैसे ग्रन्थकारों ने जो कुछ लिखा है वह प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है। उनके सामने मूल ग्रन्थ नहीं थे, अतएव उनकी साक्षी को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

(६) यदि वर्गणाखण्ड धवला के अन्तर्गत था तो यह भी हो सकता है कि लिपिकार ने शीघ्रतावश उसकी कापी न की हो और अधूरी प्रति पर

पुरस्कार न मिलने की आशंका से उसने ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति को जोड़ कर ग्रन्थ को पूरा प्रकट किया हो।

(जै० सि० भा० ६ कि० १, पृ० ४२; अनेकान्त ३, १, पृ० ३)

अब हम इन युक्तियों पर क्रमशः विचार करेंगे।

वेयणकसिणपाहुड और वेदनाखण्ड एक नहीं हैं

यह बात सत्य है कि कम्मपर्यडिपाहुड का ही दूसरा नाम वेयणकसिणपाहुड है और वह गुण नाम भी है क्योंकि वेदना कर्मों के उदय को कहते हैं और उसका निरवशेष-रूप से जो वर्णन करता है उसका नाम वेयणकसिणपाहुड है। किन्तु इससे यह आवश्यक नहीं हो जाता कि समस्त वेयणकसिणपाहुड वेदनाखण्ड के अन्तर्गत ही होना चाहिए। यदि ऐसा माना जाये तब तो छह खण्डों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और समस्त षट्खण्ड वेदनाखण्ड के ही अन्तर्गत मानने पड़ेंगे, क्योंकि जीवट्ठाण आदि सभी खण्डों में इसी वेयणकसिणपाहुड के अंशों का ही तो संग्रह किया गया है और वह भी एक किसी खास क्रम से नहीं। किन्तु सूत्रकारों ने अपना स्वतन्त्रविषय-विभाग-क्रम बनाकर उसके उपयोगी जो सामग्री कम्मपयडिपाहुड के जिन अधिकारों में मिली उसे वहां से उठाकर अपने क्रम में यथास्थान ले लिया। यह बात जीवट्ठाण की उत्थानिका में, उस खण्ड के विषय में, धवलाकार ने मुद्रित प्रति के १२५ आदि पृष्ठों में स्पष्ट बतला दी है और वह उक्त प्रति की भूमिका में दिये गये मानचित्रों से और भी स्पष्ट हो जाती है। धवलाकार ने स्पष्ट कहा है कि—

'वेदणाकसिणपाहुडमज्भादो अणुलोमविलोमकमेहि विणा जीवट्ठाणस्स संतादिअहियारा अहिणिग्गया त्ति जीवट्ठाणं जत्थतत्थाणुपुव्वीए वि संठिदं। (सं० प० पृ० ७४)

अर्थात् वेदनाकसिणपाहुड के मध्य से किसी आगे-पीछे के क्रम के बिना ही जीवस्थान के संतादि अधिकार निकले हैं, इस कारण जीवस्थान यत्रतत्रानुपूर्वी से स्थापित हुआ है। यही बात और खण्डों के विषय में भी कही जा सकती है। दूसरा खण्ड खुद्दाबंध पांचवें अधिकारबन्धन के एक विभाग से निकला है। उसी बंधन के अन्य-अन्य विभागों से तीसरा खण्ड बंधस्वामित्व व छठवां खण्ड महाबंध निकला है। इस प्रकार समस्त वेयणकसिणपाहुड को केवल नाममात्र के सादृश्य के कारण वेदनाखण्डान्तर्गत नहीं कहा जा सकता। यह केवल हमारी ही कल्पना नहीं है किन्तु धवलाकार ने स्वयं वेदनाखण्ड को महाकम्मपयडिपाहुड समझ लेने के विरुद्ध सतर्क कर दिया है। वेदनाखण्ड के

आदि के मंगल के निबद्ध अनिबद्ध का विवेक करते समय वे कहते है :—

ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडिपाहुडं, अवयवस्स अवयवित्तविरोहादो

अर्थात् वेदनाखण्ड महाकर्मप्रकृति प्राभृत नहीं है, क्योंकि अवयव को अवयवी मान लेने में विरोध पड़ता है। यदि महाकर्मप्रकृति प्राभृत के चौबीसों अनुयोगद्वार वेदनाखण्ड के अन्तर्गत होते तो धवलाकार उन सब के संग्रह को एक अवयव क्यों मानते? इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि वेदनाखण्ड के अन्तर्गत उक्त चौबीसों अनुयोगद्वार नहीं है।

क्या वर्गणा नाम का कोई पृथक् अनुयोगद्धार नहीं होने से उसके नाम पर खण्ड संज्ञा नहीं हो सकती?

चौबीस अनुयोगद्वारों में वर्गणा नाम का कोई अनुयोगद्वार नहीं है, यह बिल्कुल सत्य है, किन्तु किसी उपभेद के नाम से वर्गणाखण्ड नाम पड़ना भी कोई असाधारण घटना तो नहीं कही जा सकती। यथार्थतः अन्य खण्डों में वेदनाखण्ड को छोड़कर और शेष सब खण्डों के नाम या तो विषयानुसार कल्पित हैं, जैसे जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, महाबंध या किसी उपभेद के नामानुसार हैं, जैसे बंधस्वामित्वविचय। उसी प्रकार यदि वर्गणा नामक उपविभाग पर से उसके महत्त्व के कारण एक विभाग का नाम वर्गणाखण्ड रखा गया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। चौबीस अधिकारों में जिस अधिकार या उपभेद का प्रधानत्व पाया गया उसी के नाम से तो खंडसंज्ञा की गई है, जैसा कि धवलाकार ने स्वयं प्रश्न उठाकर कहा है कि 'कृति, पास, कर्म और प्रकृति के प्ररूपण होने पर भी उन सब के नाम से खण्डसंज्ञा न रखकर प्रधानता की अपेक्षा से केवल तीन खण्ड किये हैं। शेष में प्रधानता नहीं पायी जाती जैसा उनके संक्षेप प्ररूपण से जाना जाता है। मुख्तारजी इसी संक्षेप प्ररूपण की दुहाई देकर वर्गणा को खण्डसंज्ञा से च्युत करना चाहते हैं। पर संक्षेप और विस्तार आपेक्षिक शब्द हैं, उनका प्रकृत में उपयोग अन्य अधिकारों के साथ मिलान द्वारा किया जा सकता है। अतएव इन अधिकारों के प्ररूपण विस्तार को देखिये। वंधस्वामित्त्वविचयखण्ड अमरावती प्रति के ६६७ पत्र पर समाप्त हुआ। उसके पश्चात् मंगलाचरण व श्रुतावतार आदि विवरण ७१३ पत्र तक चल कर कृति का प्रारम्भ होता है जिसका ७५६ तक अर्थात् ४३ पत्रों में, वेदना का ७५६ से ११०६ अर्थात् ३५० पत्रों में, स्पर्श का ११०६ से १११४ अर्थात् ८ पत्रों में, कर्म का १०१४ से ११५९ अर्थात् ४५ पत्रों में, प्रकृति का ११५९ से १२०९ अर्थात् ५० पत्रों में और बन्धन के बंध और बंधनीय का १२०९ में १३३२ अर्थात् १२३ पत्रों में प्ररूपण पाया जाता है। इन १२३ पत्रों में से बंध का प्ररूपण प्रथम १०

पत्रों में ही समाप्त कर दिया गया है, यह कह कर कि—

'एत्थ उद्देसे खुद्दाबंधस्स एक्कारस्य-अणियोगद्दाराणं परूवणा कायव्वा'।

इसके आगे कहा गया है कि—

'तेण बंधणिज्ज-परूवणे कीरमाणे वग्गणपरूवणा णिच्छएण कायव्वा, अणाहा तेवीसवग्गणासु इमा चेव वग्गणा वंधपाओग्गा अण्णाओ बंधपाओग्गाओ ण होंति त्ति अवगमाणुववत्तीदो। वग्गणणमणुमग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति' इत्यादि।

अर्थात् बंधनीय के प्ररूपण करने में वर्गणाप्ररूपण निश्चय से करना चाहिये, अन्यथा तेईस वर्गणाओं में ये ही वर्गणाएं बंध के योग्य हैं अन्य वर्गणाएं बंध के योग्य नहीं है, ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। उन वर्गणाओं की मार्गणा के लिये ये आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं। इत्यादि।

इस प्रकार पत्र १२१९ से वर्गणा का प्ररूपण प्रारम्भ होकर पत्र १३३२ पर समाप्त होता है, जहां कहा गया है—

एवं विस्ससोवचयपरूवणाए समत्ताए वाहिरियवग्गणा समत्ता होदि।

इस प्रकार वर्गणा का विस्तार ११३ पत्रों में पाया जाता है जो उपर्युक्त पांच अधिकारों में वेदना को छोड़कर शेष सब से कोई दुगना व उस से भी अधिक है। पूरा खुद्दाबंध खण्ड ४७५ पत्र में ५७६ पत्र तक अर्थात् १०१ पत्रों में, तथा बंधसामित्तविचय ५७६ पत्र से ६६७ तक अर्थात् ९१ पत्रों में पाया जाता है। केवल वर्गणा का प्ररूपण इन दोनों से विस्तीर्ण है। ऐसी अवस्था में वेदना को छोड़कर शेष अधिकारों में इस अवान्तर के भी अवान्तरभेदान्तर्गत वर्गणा को अन्य अधिकारों की अपेक्षा संक्षिप्त और प्राधान्यरहित कहना चाहिये या इसके विपरीत, यह स्पष्ट समझ में आ जाता है।

वेदनाखण्ड के आदि मंगलाचरण और कौन-कौन खण्डों का है?

वेदनाखण्ड के आदि में मंगल-सूत्र पाये जाते हैं। उनकी टीका में धवलाकार ने खण्ड विभाग व उनमें मंगलाचरण की व्यवस्था की सूचना के जो अवतरण मुख्तारजी ने दिये हैं वे इस प्रकार हैं :—

उवरि उच्चमाणेसु तिसु खण्डेसु कस्सेदं मंगलं? तिराणं खडण्डणं। कुदो? वग्गणा-महाबंधाणमादीए मंगलकरणदो। ण च मंगलेण विणा भूदवलि-भडारओ गंथस्स पारभदि, तस्य अणाइरियत्तपसंगादो। xxxxx कदि-पास-कम्म- पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खंडगंथसराणामकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे? ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे? संखेवेण परूवणादो।

मुख्तारजी के मत से यहा ''वीरसेनाचार्य ने उक्त मंगलसूत्रों की ऊपर कहे हुए तीन खंडों— वेदना, बंधसामित्तविचओ और खुद्दाबंधो— का मंगलाचरण बतलाते हुए यह स्पष्ट सूचना की है कि वर्गणाखण्ड के आदि में तथा महाबंधखण्ड के आदि में पृथक् मंगलाचरण किया गया है, मंगलाचरण के बिना भूतबलि आचार्य ग्रंथ का प्रारम्भ ही नहीं करते हैं। साथ ही यह भी बतलाया है कि जिन कदि, फास, कम्म, पयडि, (बंधण) अनुयोगद्वारों का भी यहां (एत्थ-इस वेदनाखंड में) प्ररूपण किया गया है, उनहें खण्ड संज्ञा न देने का कारण उनके प्रधानता का अभाव है, जो उनके संक्षेप कथन से जाना जाता है। उक्त फास आदि अनुयोगद्वारों में से किसी के भी शुरू में मंगलाचरण नहीं है और इन अनुयोगद्वारों की प्ररूपण वेदनाखण्ड में की गई है, तथा इनमें से किसी को खंड ग्रन्थ की संज्ञा नहीं दी गई, यह बात ऊपर के शंका-समाधान से स्पष्ट है।''

अब इस कथन पर विचार कीजिये। 'उविर उच्चमाणेसु तिसु खण्डेसु' का अर्थ किया गया है 'ऊपर कहे हुए तीन खण्ड अर्थात् वेदना, बंधसामित्त और खुद्दाबंध।' हमें यहां पर यह याद रखना चाहिये कि खुद्दाबंध और बंधसामित्त खण्ड दूसरे और तीसरे हैं जिनका प्ररूपण हो चुका है और अभी वेदनाखंड के मंगलाचरण का ही विषय चल रहा है खंड का विषय आगे कहा जायेगा। ऐसी अवस्था में 'उवरि उच्चमाण' जिसकी संस्कृत छाया, जहां तक मैं समझता हूं, 'उपरि उच्यमान' ही हो सकती है, का तात्पर्य ऊपर कहे गये दो और आगे कहे जाने वाले तीसरे खंड से कैसे हो सकता है, यह समझ में नहीं आता। यदि मुख्तारजी के इस अर्थानुसार 'उवरि' पर ध्यान दें तो वेदनाखण्ड छूट जाता है और उच्चमाण पर दें तो ऊपर के दो खण्ड छूट जाते हैं। ऐसी अवस्था में उवरि उच्चमाण पद-द्वारा ये तीन खंड कैसे इकट्ठे किये गये यह जाना नहीं जाता। अब आगे का शङ्का-समाधान देखिये। प्रश्न है यह कैसे जाना कि यह मंगल 'उवरि उच्चमाण' तीनों खण्डों का है? इसका उत्तर दिया जाता है, 'क्योंकि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल किया गया है।' यदि यहां जिन खण्डों में मंगल किया गया है उनको अलग निर्दिष्ट कर देना आचार्य का अभिप्राय था तो उनमें जीवट्ठाण का भी नाम क्यों नहीं लिया, क्योंकि, तभी तो तीन खंड शेष रहते? फिर आगे कहा गया है कि मंगल किये बिना भूतबलि भट्टारक ग्रन्थ प्रारम्भ ही नहीं करते, क्योंकि, उससे अनाचार्यत्व का प्रसंग आ जाता है। पर यहां तो एक नहीं दो-दो खण्ड मङ्गल के बिना केवल प्रारम्भ ही नहीं समाप्त भी किये जा चुके हैं, जिनकी मङ्गलव्यवस्था उक्त मतानुसार अब पीछे से की जा रही है। पर मुख्तारजी ने यह बतलाने की

कृपा नहीं की कि इस प्रकार की मङ्गलव्यवस्था का क्या कहीं कोई आधार है? प्रस्तुत में तो भूतबलि आचार्य केवल आदि मङ्गल को ही स्वीकार करते हैं। उसके बिना वे अनाचार्यत्व दोष उत्पन्न होना मानते हैं। मङ्गल के जो निबद्ध-अनिबद्ध रूप दो भेद इस मङ्गल के प्रकरण में तथा जीवट्ठाण के प्रारम्भ में बताये गये हैं उनमें भी सूत्र के आदि में ही मङ्गल किये जाने पर जोर दिया गया है। यथा—

जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध देवदाणमोक्कारो तं णिबद्धमङ्गलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं।

(सं० प्र० १, पृ० ४१)

किन्तु सत्प्ररूपणा पृष्ठ ४०, ४१ में, मध्यमङ्गल और अन्तमङ्गल का भी विधान पाया जाता है। पर इस विधान-द्वारा भी खुद्दाबंध और बन्धसामित्त से प्रस्तुत मङ्गल का संबंध नहीं बैठाया जा सकता, क्योंकि, न वह उनके मध्य में रखा गया है और न अन्त में। वे दोनों खण्ड इससे पूर्व ही क्रम से समाप्त हो चुके हैं। ऐसे कठिनाई के स्थलों के लिये संस्कृत साहित्य में एक और युक्ति पाई जाती है, जिसे 'देहलीदीपकन्याय' कहते हैं। जिस प्रकार द्वार की देहली पर दीपक रख देने से घर के भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार कहीं-कहीं बीच में आये हुए पद या प्रकरण का सम्बन्ध ऊपर और नीचे दोनों और जोड़ लेते हैं। पर यह बात बनती तब है जब वह बीच की चीज बीच की ही हो, वह पूर्व के अन्त और उत्तर के आदि की नहीं गिनी जाती। पर यहां तो यह मङ्गल आदि मङ्गल कहा जा रहा है। इतने पर भी खींचातानी करके यदि इस मङ्गल को बन्धसामित्तविचय और वेदनाखण्ड के बीच की चीज मानकर उसे दोनों और जोड़ भी लें तो भी खुद्दाबंध के साथ उसका सम्बन्ध जुटाने में तो हमारा यह देहलीदीपकन्याय भी असमर्थ है, *क्योंकि उस खण्ड का तो यहां स्पर्श भी नहीं है।*

आगे के शंका-समाधान की भी यही दुर्दशा की गई है। प्रश्न है, कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोगद्वार भी यहां प्ररूपित हैं, उनकी खंडसंज्ञा न करके केवल तीन ही खंड क्यों कहे जाते हैं? उत्तर है, उनमें प्रधानत्व का अभाव है और यह उनके संक्षेप प्ररूपण से ज्ञात हो जाता है। मुख्तारजी ने अपने अवतरण व स्पष्टीकरण में प्रकृति के आगे बन्धन और अपनी तरफ से जोड़ दिया है, तथा 'एत्थ' का तात्पर्य इस वेदनाखण्ड में ऐसा बैठाया है। पर उन्होंने यह खुलासा नहीं किया कि अनुयोगद्वारों की गणना में बन्धन अपनी तरफ से जोड़ने की उन्हें आवश्यकता क्यों पड़ी। यदि गणना अधूरी जंची तो

चौबीस अनुयोगद्वारों में के शेष सभी क्यों नहीं जोड़ दिये? उन्होंने यह भी स्पष्ट नहीं किया कि यहां धवलाकार का तात्पर्य कौन से तीन खण्डों से है? क्या वे ही जिनका सम्बन्ध मंगलाचरण से बैठाया गया है या अन्य कोई? इसका स्पष्टीकरण यहां बहुत जरूरी था। यदि यहां भी खुद्दाबंध, बंधसामित्त और वेदना से ही अभिप्राय है तो वह किस अपेक्षा से? यदि चौबीस अनुयोगद्वारों में से उत्पत्ति की ही यहां अपेक्षा है तो जीवस्थान, वर्गणा और महाबंध भी तो वहीं से उत्पन्न हुए हैं, फिर उन्हें किस विचार से अलग किया गया? और यदि वेदना, वर्गणा, महाबंध से यहां अभिप्राय है तो एक तो मुख्तारजी के उक्त क्रम में भंग पड़ जाता है और दूसरे वर्गणाखण्ड का भी इन्हीं अनुयोगद्वारों में अन्तर्भाव का प्रसंग आता है जो उन्हें इष्ट नहीं है।

इस प्रकार मुख्तारजी की उक्त कल्पना से अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। अतः वेदनाखण्ड के आदि में आये हुए मंगलाचरण को ऊपर के खुद्दाबन्ध बंधसामित्त तथा आगे के वेदना, इस प्रकार से तीन खण्डों का मंगलाचरण सिद्ध करने का प्रयत्न बड़ा बेतुका और बेआधार तथा सारे प्रसंग को गड़बड़ी में डालने वाला है। यह सब कल्पना किन भूलों का परिणाम है और उक्त अवतरणों का सच्चा रहस्य क्या है वह आगे चलकर बतलाया जायेगा। उससे पूर्व यहां मुख्तारजी की शेष दो युक्तियों पर और विचार कर लेना आवश्यक है।

धवला में जहां वेदनाखण्ड समाप्त हुआ है वहां यह वाक्य पाया जाता है—

वेदनाखण्ड-समाप्ति की पुष्पिका

एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता।

इसके आगे कुछ नमस्कार-वाक्यों के पश्चात् पुनः लिखा मिलता है 'वेदना खण्ड समाप्तम्।,

यह बात सच है कि 'वेयणाखंड समत्ता' वाक्य व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है और मुख्तारजी का यह भी अनुमान गलत नहीं कहा जा सकता कि इस वाक्य में खण्ड शब्द संभवतः प्रक्षिप्त है। खण्ड शब्द निकाल देने से 'वेयणा समत्ता' वाक्य ठीक बैठ जाता है। हो सकता है वह लिपिकार द्वारा प्रक्षिप्त हुआ हो। पर उससे यह तो सूचना हमें मिलती है कि वह लिपिकार वहां वेदनाखंड की समाप्ति समझता था। इस प्रक्षेप को आधुनिक लिपिकारकृत तो मुख्तारजी भी नहीं कहते। यदि वह प्रक्षिप्त है तो उसी लिपिकारकृत हो सकता है जिसने मूडविद्री की ताड़पत्रीय प्रतिलिपि की है। हम अन्यत्र बतला चुके हैं कि मूडविद्री की ताड़पत्रीय प्रति संभवतः शक की ९वीं-१०वीं शताब्दी की है

अर्थात् आज से कोई हजार आठ सौ वर्ष पुरानी। उस प्रक्षिप्त वाक्य से उस समय के कम से कम एक व्यक्ति का यह मत तो मिलता है कि वह वहां वेदनाखंड की समाप्ति समझता था। उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि उस लेखक की जानकारी में इसके सिवा और कहीं वर्गणाखण्ड नहीं था, नहीं तो वह वर्गणाखण्ड के समाप्त होने की वहां विश्वासपूर्वक दो-दो बार सूचना देने की धृष्टता कदापि न करता। हम जो कुछ ऊपर ऊहापोह कर आये हैं उससे तो ज्ञात होता है कि मूलतः यहां वेदनाखण्ड के समाप्त होने का कोई संकेत रहा हो तो आश्चर्य नहीं। यदि नहीं रहा तो प्रति के लिखाने वाले किसी भारी विद्वान् ने वहां यह सूचना डालने का आदेश किया होगा और यदि लेखक ने उसे अपने ही मन से डाला हो तो कहना चाहिये वह बड़ा विवेकी विचारवान् लेखक था। बिना किसी आधार व प्रमाण के लेखक बेचारे को वहां खण्ड शब्द डालने की क्यों प्रवृत्ति हुई होगी यह तो सोचना चाहिये? मुख्तारजी ने कहा है कि अनेक अन्य स्थलों पर भी नाना प्रकार के वाक्य प्रक्षिप्त पाये जाते हैं। यह बात सच है पर जो उदाहरण उन्होंने बतलाया है वहां, और जहां तक मैं अन्य स्थल ऐसे देख पाया हूं वहां तक यही पाया जाता है कि लेखक ने अधिकारों की संधि आदि पाकर अपने गुरु या देवता का नमस्कार या उनकी प्रशस्ति-सम्बन्धी वाक्य या पद्य डाले हैं। यह पुराने लेखकों की शैली सी रही हैं। पर ऐसा स्थल एक भी देखने में नहीं आया और न मुख्तारजी ने ही बतलाने की कृपा की कि जहां पर लेखक ने अधिकार-सम्बन्धी सूचना गलत-सलत अपनी ओर से जोड़-घटा दी हो। प्रकृत विषय पर तो ऐसा ही उदाहरण लागू हो सकता था। अतएव चाहे यह खण्ड शब्द किसी लिपिकार द्वारा प्रक्षिप्त हो और चाहे मौलिक, उससे वेदनाखण्ड के वहां समाप्त होने की एक पुरानी मान्यता तो प्रमाणित होती है।

इन्द्रनन्दि की प्रामाणिकता

इन्द्रनन्दि और विबुध श्रीधर ने श्रुतावतार का स्वतन्त्ररूप से कथानक लिखा है जिसमें उन्होंने षट्खण्डागम की रचना का विवरण दिया है। विबुध श्रीधर का श्रुतावतार कथानक तो बहुत काल्पनिक है, पर उसमें भी धवलान्तर्गत पांच या छह खण्डों वाली बात में कुछ अविश्वसनीयता नहीं दिखती। इन्द्रनन्दि ने प्रकृत विषय से संबंध रखनेवाली जो वार्ता दी है उसको हम प्रथम जिल्द की भूमिका में लिख चुके हैं। उसका संक्षेप यह है कि वीरसेन ने उपरितम निबन्धनादि अठारह अधिकार लिखे और उन्हें ही सत्कर्मनाम छठवां खण्ड

संक्षेपरूप बनाकर छह खण्डों की ७२ हजार ग्रन्थ प्रमाण प्राकृत-संस्कृत-भाषा-मिश्रित धवला टीका बनाई। इस बात के बोधक इन्द्रनन्दि के शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशाविकल्पैः ।।१८०।।
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खंडं विधाय संक्षिप्य ।
इति षण्णां खण्डानां ग्रंथसहस्रैः द्विसप्तत्या ।।१८१।।
प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम् ।
जयधवलां च ....

इन शब्दों का धवलकार के उन शब्दों से मिलान कीजिये जो इसी सम्बन्ध में उनके द्वारा कहे गये हैं। निबन्धनादि विभाग को वहां भी 'उवरिम ग्रंथ' कहा गया है और अठारह अनुयोगद्वारों के संक्षेप में प्ररूपण करने की प्रतिज्ञा की गई है। यह बात सच है जैसा कि मुख्तारजी ने बतलाया है, कि इन्द्रनन्दि की श्रुतावतारकथा में कुछ बातें ऐसी हैं जिनका धवलान्तर्गत विवरण से किंचित् भेद पाया जाता है। किन्तु उन पर से उसे मुख्तारजी ने जितना अप्रमाणिक ठहराने का प्रयत्न किया है उतना अप्रमाणिक वह ग्रन्थ नहीं है। यथार्थतः धवला-जयधवला की रचना सम्बन्धी जो वार्ता उसमें पाई जाती है उसमें तो मुझे कोई अप्रमाणिकता देखने में नहीं आई। बल्कि ऊपर बतलाये हुए प्रसंग के समान जगह-जगह वह धवलादि ग्रन्थों में कही गई बातों का ही और अच्छी तरह से स्पष्टीकरण करती है। यद्यपि इन्द्रनन्दि का समय निर्णीत नहीं हैं, पर उनके सम्बन्ध में पं० नाथूरामजी प्रेमी का मत है कि 'ये वे ही इन्द्रनन्दि हैं' जिनका उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड की ३९६वीं गाथा में गुरुरूप से किया है'। इससे वे विक्रम की ११वीं शताब्दी के आचार्य ठहरते हैं। (मा० दि० जै० ग्रं० १३ भू० पृ० २)

इस अनुमान में कोई आश्चर्य भी नहीं है। वीरसेन का व धवला की रचना का इतिहास उन्होंने ऐसा दिया है जैसे मानों वे उससे अच्छी तरह सुपरिचित हैं। उनके गुरु एलाचार्य कहां रहते थे, वीरसेन ने उनके पास सिद्धान्त पढ़कर कहां जाकर, किस मंदिर में बैठकर, कौन सा ग्रंथ सामने रखकर अपनी टीका लिखी यह सब इन्द्रनन्दि ने अच्छी तरह बतलाया है जिसमें कोई बनावट व कृत्रिमता कम से कम मुझे तो नजर नहीं आती— बहुत ही प्रमाणिक इतिहास जंचता है। उन्होंने कदाचित् धवल-जयधवल का सूक्ष्मावलोकन न किया हो और भले ही उन्होंने अपना श्रुतावतार लिखने से पूर्व कोई लम्बे चौड़े टिप्पण

न लिख रखे हों, पर उनकी सूचनाओं पर से यह बात सिद्ध नहीं होती कि धवल, जयधवल ग्रन्थ उनके सामने मौजूद नहीं थे। उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं लिखी जिसकी इन ग्रन्थों की बार्ता से इतनी विषमता हो जो पढ़कर पीछे स्मृति के सहारे लिखने वाले द्वारा उत्पन्न न की जा सकती हो। इसके अतिरिक्त उनका ग्रन्थ प्राचीन प्रतियों पर से सुसंपादित भी अभी तक नहीं किया गया है। किसी एकाध प्रति पर से कभी छाप दिया गया था, उसी की कापी अभी हमारे सामने प्रस्तुत है। मुख्तारजी लिखते हैं कि 'उन्होंने (इन्द्रनन्दि व श्रीधर ने) इस विषय में जो कुछ लिखा है वह प्राय: किंवदन्तियों अथवा सुने-सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है।' जैसा मैं ऊपर कह आया हूं धवला, जयधवला की रचना के सम्बन्ध में तो इन्द्रनन्दि का ज्ञान बहुत व्यवस्थित पाया जाता है। हां, यह हो सकता है कि उनसे पूर्व का इतिहास उन्होंने बहुत कुछ किंवदन्तियों आदि पर से संग्रह किया हो, क्योंकि उन्होंने ऐसी बहुत सी बातों पर भी प्रकाश डाला है जो धवला में स्पष्टत: उल्लिखित नहीं पायी जातीं। परिकर्म, व्याख्याप्रज्ञप्ति, बप्पदेव आदि टीकाओं व टीकाकारों के उल्लेख धवलादि में इधर-उधर मिलते हैं, पर व्यवस्थित नहीं। आखिर कहीं से तो श्रुतावतारकार ने उनके सम्बन्ध का व्यवस्थित इतिहास संग्रह किया होगा? यदि इस संग्रह-कार्य के लिये सिवाय किंवदन्तिओं और इधर-उधर सुनने में आने वाली बातों के उनके पास और कोई अन्य साधन नहीं थे तब तो हमें मानना पड़ेगा कि वे एक असाधारण ऐतिहासिक थे जो इस प्रकार के अव्यवस्थित साधनों पर से उतना व्यवस्थित श्रुतावतार-वर्णन उपस्थित कर सके और इस संबंध की किंवदन्तियां भी कहीं बाजार में से सुनकर संग्रह करने को तो मिली नहीं होंगी, वे भी प्रमाणिक पुरुषों के पास से ही तो उन्होंने प्राप्त की होंगी। इन्द्रनन्दि कैसे सुयोग्य और सच्चे संग्राहक थे यह उनकी एक बात पर से मालूम हो जाता है। उन्होंने कषायप्राभृतकार गुणाधराचार्य व षट्खंडागम के मूलगुरु धरसेनाचार्य के विषय में स्पष्ट कह दिया है कि उन्हें उनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा ज्ञात नहीं है, क्योंकि उस बात को बतलाने वाला न तो उन्हें कोई विश्वसनीय ग्रंथ मिला और न कोई मुनिजन—

गुणधर-धरसेनान्वयगुर्वो: पूर्वापरक्रमोऽस्माभि: ।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागम-मुनिजनाभावात् ।।१५१।।

कितनी स्पष्टवादिता साहित्यिक सचाई और नैतिक बल इस अज्ञान के स्वीकार में भरी हुई है। यह वे ही पूर्णत: हृदयंगम कर सकते हैं जिन्हें कभी अपनी कोई कमजोरी स्वीकार करने का मौका आ पड़ा होगा। क्या इसके

लेख़क के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वह कोई झूठी-सच्ची इधर-उधर से सुनी-सुनाई बातों का आडम्बर बनाकर एक पुस्तक रचने का लालसी था, और विद्वत्समाज को धोखे में डालना चाहता था? मैं ऐसा नहीं समझता। अतएव जब तक अन्य प्रबलतर प्रमाणों पर से इन्द्रनन्दि-कृत श्रुतावतार की ऐतिहासिक वार्ता को असत्य साबित न किया जाय तब तक उस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है।

मूडबिद्री से प्रतिलिपि निकालने वाले लेखक की प्रामाणिकता

मुख्तारजी की अन्तिम युक्ति को पढ़ कर मुझे अत्यन्त आश्चर्य और खेद होता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि 'धवलादि श्रुत परिचय' में जिस लेखक पर उन्होंने वर्गणाखण्ड को जानबूझ कर छोड़ देने और अधूरी प्रति को अन्तिम प्रशस्ति आदि जोड़कर यथेष्ट पुरस्कार पाने के लिये पूरा प्रकट कर देने की संभावना का, अर्थात् एक साहित्यिक चोरी व बेईमानी की आशंका का दोषारोपण किया है, उसका ही ग्रन्थ की समालोचना में उन्होंने चित्र सब से पहले दिये जाने की आवश्यकता पर जोर दिया है। खेद इस बात का है कि इस प्रकार का दोषारोपण या दोष की आशंका उत्पन्न करके एक बड़े सच्चे उपकारी के साथ भारी अन्याय किया गया है। यह बात सच है कि स्वयं मुख्तारजी इसकी सचाई के सम्बन्ध में 'बहुत ही कम आशा' रखते हैं, पर बहुत ही कम सहीं, उनके हृदय में यह बात उठी तो है और वह भी उन्होंने विद्वत्संसार पर प्रकट करके लेखक के प्रति घृणा की लहर उत्पन्न कर ही दी। मुडबिद्री से छुपे तौर पर कापी करके इन ग्रन्थों को बाहर निकालने वाले लेखक की सचाई पर सन्देह करना शायद स्वाभाविक ही हो, पर हम तो ग्रन्थ के संशोधन सम्पादनार्थ उसमें जितने प्रविष्ट होते हैं उतने ही उस लेखक की ईमानदारी और परिश्रम पर मुग्ध होते जाते हैं। मेरा यह कहने का तात्पर्य नहीं कि उक्त लेखक के कार्य में त्रुटि नहीं है या प्रमाद नहीं है। है और बहुत है, पर बेईमानी की झलक उसमें मुझे बिलकुल नहीं दिखाई देती। यथार्थतः तो बार-बार आश्चर्य हमें इस बात का नहीं होता कि प्रति में स्खलन हैं, आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रस्तुत पाठ पर से ठीक पाठ बैठा लेना संभव हो जाता है। सो भी जो प्रतियां हमारे उपयोग में आ रही हैं व मूडबिद्री से आई प्रति की प्रतिलिपि पर से दूसरे लेखकों द्वारा की हुई कापियां हैं। इन पर सूक्ष्म और गंभीर परिश्रम करने के पश्चात् अब तक का मेरा जो अनुभव है उस पर से मैं मूड़बिद्री से कापी करने वाले लेखक को यह प्रमाणपत्र दे सकता हूं कि उसने अपनी शक्ति भर अपना काम सचाई और ईमानदारी से किया है। फिर भी

समय-समय पर कमजोरी और प्रमाद के परे तो कोई भी नहीं कहा जा सकता, अतएव अब उक्त दोष की संभावना पर भी विचार कर लेना उचित है धवला की कुल टीका का प्रमाण इन्द्रनन्दि व अन्य श्रुतावतार-लेखकों ने सत्तर[१] या बहत्तर[२] हजार बतलाया है। हमारे सामने धवला की तीन प्रतियां मौजूद हैं, जिनकी श्लोक-संख्या जांच लेना ठीक होगा। अमरावती की प्रति में १४६५ पत्र अर्थात् २९३० पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ पर १२ पंक्तियाँ लिखी गई हैं। प्रत्येक पंक्ति में ६२ से ६८ तक अक्षर पाये जाते हैं जिससे औसत ६५ अक्षरों की ली जा सकती हैं। तदनुसार कुल ग्रन्थ में २९३०x१२x६५=२२८५४०० अक्षर आते हैं। इनकी श्लोक-संख्या बनाने के लिये ३२ का भाग देने से ७१४१८ आये। यह प्रस्तुत प्रति की श्लोक संख्या है जिसे ७२ हजार कहना साधारण बात है।

कारंजा व आरा की प्रतियों की उक्त प्रकार से जाँच द्वारा भी प्रायः यही निष्कर्ष निकलता है। इससे तो अनुमान होता है कि प्रतियों में से एक खण्ड का खण्ड गायब होना असम्भव है, क्योंकि उसका प्रमाण और सब ख-डों को देखते हुए कम से कम पाँच-सात हजार तो अवश्य रहा होगा। यह कमी प्रस्तुत प्रतियों में झलके बिना नहीं रह सकती थी। तारतम्य की दृष्टि से भी धवला अपने प्रस्तुत रूप में अपूर्ण नज़र नहीं आती। प्रथम तीन खण्ड तो पूरे हैं ही। चौथे वेदनाखण्ड के आदि से कृति आदि अनुयोगद्वार प्रारंभ हो जाते हैं जो बराबर क्रम से चौबीस तक पाये जाते हैं—प्रथम छह भूतबलि कृत सूत्रों और वीरसेन की टीकासहित और शेष १८ चूलिका नाम से वीरसेन कृत। इसके आगे किसी खण्ड की कल्पना के लिये न तो कोई आधार है और न आवश्यकता। अतः वर्गणाखण्ड के लेखक द्वारा छोड़ देने या छूट जाने की आशंका के लिये कोई आधार नहीं हैं।

वेदनाखण्ड के आदि अवतरणों का ठीक अर्थ

अब हम यहां मुख्तारजी की उन मूल भूलों पर विचार करते हैं जिनके कारण उपर्युक्त गड़बड़ी उत्पन्न हुई है और साथ ही उन आधारों को प्रस्तुत करते हैं जिनसे धवला के विभाग सम्बन्धी उन बातों की पुष्टि होती है जिन्हें हम प्रथम जिल्द की भूमिका में कह आये हैं। मुख्तारजी अपने मन में यह धारणा कर चुके हैं कि बंधसामित्तविचय से आगे के कृति आदि चौबीस अनुयोग-द्वारों का विवरण वेदनाखण्ड के ही अन्तर्गत

१. देखो ब्रह्महेम श्रुतस्कंध 'सदरीसहस्स धवलो'।

२. देखो इन्द्रनन्दि श्रुतावतार 'ग्रन्थसहस्रैः द्विसप्तत्या'।

हैं और उनकी यह धारणा वेयणकसिणपाहुड और वेदनाखण्ड में शब्द-साम्य के कारण उत्पन्न हुई जान पड़ती है। किंतु इस शब्दसाम्य के निमित्त में होने वाले भ्रम का निराकरण हम ऊपर कर आये हैं। अपनी धारणा को पुष्टि देने के लिये उन्होंने वेदनाखण्ड के आदि के मङ्गलसूत्रों को दो पूर्वोक्त खुद्दाबंध और बंधसामित्त-खंडों का भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उससे जो गड़बड़ी उत्पन्न हुई है उसका भी हम ऊपर परिचय करा आये हैं। उस प्रयत्न में उन्होंने 'उवरि उच्चमाण' पद का जो अर्थ किया है वह अत्यन्त विलक्षण और आश्चर्य में डालने वाला है और फिर भी उससे उनके मत की पुष्टि नहीं हो सकती, जैसा कि हम ऊपर दिखा आये हैं।

'उवरि' शब्द का धवलाकार ने सर्वत्र 'आगे' के अर्थ में प्रयोग किया है और पहले के अर्थ में 'पुव्व' का। उदाहरणार्थ— संतपरूवणा के पृष्ठ १३० पर उन्होंने कहा है—

संपहि पुव्वं उत्त-पयडिसमुक्कित्तणा..... एदराहं पंचण्हमुवरि संपहि पुव्वुत्त-जहाण्णट्ठिदि..... च पक्खित्ते चूलिया ए णव अहियारा भवंति।

अर्थात् पूर्वोक्त प्रकृतिसमुत्कीर्तनादि पांचों के ऊपर अभी कहे गये जघन्यस्थिति आदि जोड़ देने पर चूलिका के नौ अधिकार हो जाते हैं। यहां ऊपर कहे जा चुके के लिये 'पुव्वं उत्तं' और 'पुव्वुत्तं' शब्द प्रयुक्त हुए हैं और 'उवरि' से आगे का तात्पर्य है। पृ० ७३ पर 'उवरि' से बने हुए उपरीदो (उपरितः) अव्यय का प्रयोग देखिये। आचार्य कहते हैं—

पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि तिविहा आणुपुव्वी। जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं 'उसहमजियं च वंदे' इच्चेवमादि। जं उवरीदो हेट्ठा-परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं 'एस करेमि य पणमं जिणवर वसहस्स वड्ढमाणस्स। सेसाणं च जिणाणं सिवसुहकंखाविलोमेणा'।।

यहां यह बतलाया है कि जहां पूर्व से पश्चात् की ओर क्रम से गणना की जाती है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं; जैसे, ऋषभ और अजितनाथ को नमस्कार। पर जहां नीचे या पश्चात् से पूर्व की ओर अर्थात् विलोमक्रम से गणना की जाती है वह पश्चादनुपूर्वी कहलाती है। जैसे, मैं वर्द्धमान जिनेश को प्रणाम करता हूं और शेष (पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि) तीर्थङ्करों को भी। यहाँ उवरि से तात्पर्य आगे से है और पीछे की ओर के लिये हेट्ठा (अधः) शब्द का प्रयोग किया गया है।

धवला में आगे बंधन-अनुयोगद्वार की समाप्ति के पश्चात् कहा गया है 'एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम' अर्थात् यहां से ऊपर के ग्रन्थ का नाम चूलिया है। यहां उवरिम से तात्पर्य आगे आनेवाले ग्रन्थ-विभाग से है न कि पूर्वोक्त विभाग से।

और भी धवला से सैकड़ों जगह उवरि शब्द का प्रयोग हमारी दृष्टि से इस प्रकार आया है 'उवरि' भण्णमाणचुण्णिसुत्तादो', 'उवरिमसुत्तं भणादि' आदि। इनमें प्रत्येक स्थल पर निर्दिष्ट सूत्र आगे दिया गया पाया जाता है। उवरि का पूर्वोक्त के अर्थ में प्रयोग हमारी दृष्टि में नहीं आया। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उवरि का अर्थ आगे आने वाले खण्डों से ही हो सकता है पूर्वगत से नहीं और फिर प्रकृत में तो 'उच्चमाण' पद इस अर्थ को बिलकुल ही स्पष्ट कर देता है, क्योंकि, उच्यमान का अर्थ उक्त तो हो ही नहीं सकता, उसका अर्थ केवल प्रस्तुत या आगे आने वाले खण्ड ही हो सकता है, पहले समाप्त हो गये खण्ड कदापि नहीं। पर यदि आगे कहे जाने वाले तीन खण्डों का यह मंगल है तो इस बात का वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगलाचरण की सूचना से कैसे सामञ्जस्य बैठ सकता है? यही एक विकट स्थल है जिसने उपर्युक्त सारी गड़बड़ी को उत्पन्न किया है। इस पर जरा विचार कीजिये। अवतरण में पहले तो कह दिया गया है कि आगे कहे जाने वाले तीन खण्डों का यह मंगल और फिर जब यह पूछा कि यह कैसे, तब कहा जाता है कि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल किये जाने से। आगे कहे जाने वाले ये ही तीन वेदना, वर्गणा और महाबंध तो खण्ड हैं जिनका यह मंगल हो सकता है। फिर यदि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल अलग से किया गया है तो 'उवरि उच्यमान' पद से कौन से तीन खण्डों के मंगलाचरण होने की सूचना की गई होगी? इसी अड़चन से मुख्तारजी ने यहां खुद्दाबंध और बंधसामित्त खण्डों के अभिप्राय की कल्पना की है जो 'उवरि उच्यमाण' तथा बिना मंगलाचरण के ग्रन्थ प्रारंभ करने के प्रबल निषेध की स्पष्ट सूचना तथा आगे के शंका-समाधान-क्रम के साथ बिलकुल सामंजस्य नहीं रखती। समस्त प्रकरण पर सब दृष्टियों से विचार करने पर ज्ञात होता है कि धवला की उपलब्ध प्रतियों में यहां एक अशुद्धि है जो मुख्तार जी के ध्यान में नहीं आ सकी और वे उसे नहीं सुधार सके। मेरे विचार से यहां पर 'वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलकरणादो' की जगह 'वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो' पाठ होना चाहिए। दीर्घ आ के स्थान पर ह्रस्व अ की मात्रा की अशुद्धियां तथा अन्य स्वरों में ऐसे ही व्यत्यय इन प्रतियों से भरे पड़े हैं। हमें इनके संशोधन में इस प्रकार के सुधार सैकड़ों जगह करने पड़े हैं। यर्थाथतः प्राचीन कन्नड़ लिपि में

ह्रस्व और दीर्घस्वरों में बहुधा विवेक नहीं किया जाता था।[१] इस सुधार के साथ पढ़ने से पूर्वोक्त समस्त अवतरण का अर्थ, उसका सामञ्जस्य और शंका-समाधानक्रम ठीक बैठ जाता है। उससे उक्त दो अवतरणों के बीच में आये हुए उन शंका-समाधानों का भी अर्थ सुलझ जाता है जिनका मुख्तारजी के अर्थ से बिलकुल सामञ्जस्य नहीं बैठता बल्कि विरोध उत्पन्न होता है और जिन्हें संभवतः इसी अड़चन के कारण उन्होंने अपने अवतरण में छोड़ दिया है, यद्यपि वह अंश प्रकृत विषय के लिये बहुत आवश्यक था। हम उस पूरे पाठ को अपने सुधार सहित यहां उद्धृत करते हैं—

'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं? तिण्णं खंडाणं। कुदो? वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदबलिभडारओ गंथस्स पारभदि, तस्स अणाइरियत्तपसंगादो। कधं वेयणाए आदीए उत्त-मंगलं सेस-दो-खंडाणं होदि? ण, कदीए आदिम्हि उत्तस्स एदस्सेव मंगलस्य सेस-तेवीस-अरिण्यागद्दारेसु पउत्तिदंसणादो। महाकम्मपयडिपाहुडत्तणेण च उवीसराहमणियोगद्दाराणं भेदाभावादो एगत्तं, तदो एगस्स एयं मंगलं तत्थ ण विरूज्झदे। ण च एदेसिं तिण्हं खण्डाणामेगत्तमेगखंडत्तपसंगादो त्ति, ण एस दोसो, महाकम्मपयडीपाहुडत्तणेण एदेसिं पि एगत्तदंसणादो। कदि-पास-कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खण्डगंथसण्णमकाउण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे? णद्, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे? संखेवेण परूवणादो।'

अब हम इसका अनुवाद देते हैं। पाठक ध्यान दें—

शंका— आगे कहे जाने वाले तीनों खंडो (वेदना, वर्गणा और महाबंध) में से किसी खंड का यह मंगलाचरण है?

समाधान— तीनों खण्डों का।

शंका— कैसे जाना?

समाधान— वर्गणाखण्ड और महाबंध खंड के आदि में मंगल न किये जाने से। मंगल किये बिना तो भूतबलि भट्टारक ग्रन्थ का प्रारम्भ ही नहीं करते, क्योंकि इससे अनाचार्यत्व का प्रसंग आ जाता है।

शंका— वेदना के आदि में कहा गया मंगल शेष दो खंडों का भी कैसे हो जाता है?

समाधान— क्योंकि कृति के आदि में किये गये इस मंगल की शेष तेवीस अनुयोगद्वारों में भी प्रवृत्ति देखी जाती है।

---

१. डॉ० उपाध्ये: परमात्मप्रकाश, भूमिका, पृ० ८३.

शंका— महाकर्मप्रकृतिपाहुडत्व की अपेक्षा से चौबीसों अनुयोगद्वारों में भेद न होने से उनमें एकत्व है, इसलिये एक का यह मंगल शेष तेवीसों में विरोध को प्राप्त नहीं होता है। परन्तु इन तीनों खंडों में तो एकत्व है नहीं, क्योंकि इन तीनों में एकत्व मान लेने पर तीनों को एकखंडत्व का प्रसंग आ जाता है।

समाधान— यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, महाकर्मप्रकृति-प्राभृतत्व की अपेक्षा से इनमें भी एकत्व देखा जाता है।

शंका— कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोगद्वार भी यहाँ (भूतबलि आचार्य की रचना में, प्ररूपति किये गये हैं, उनकी भी खण्ड-ग्रन्थ-संज्ञा न करके तीन ही खण्ड क्यों कहे जाते हैं?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उनकी यहां प्रधानता नहीं है।

शंका— यह कैसे जाना जाता है?

समाधान— उनका संक्षेप से प्ररूपण किया गया है, इससे जाना जाता है।

इस पर से यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि उक्त मंगलाचरण का सम्बन्ध बंधसामित्त और खुद्दाबंध खण्डों से बैठाना बिलकुल निर्मूल, अस्वाभाविक, अनावश्यक और धवलाकार के मत से सर्वथा विरुद्ध है। हम यह भी जान जाते हैं कि वर्गणाखण्ड और महाबंध के आदि में कोई मंगलाचरण नहीं है। इसी मङ्गलाचरण का अधिकार उन पर चालू रहेगा और हमें यह भी सूचना मिल जाती है कि उक्त मङ्गल के अधिकारान्तर्गत तीनों खण्ड अर्थात् वेदना, वर्गणा और महाबंध प्रस्तुत अनुयोगद्वारों से बाहर नहीं है। वे किन अनुयोगद्वारों के भीतर गर्भित हैं यह भी संकेत धवलाकार यहां स्पष्ट दे रहे हैं। खण्डसंज्ञा प्राप्त न होने की शिकायत किन अनुयोगद्वारों से उठायी गई? कदि, पास, कम्म और पयडि अनुयोगद्वारों की ओर से। वेदना अनुयोगद्वार का यहां उल्लेख नहीं हैं, क्योंकि, उसे खंडसंज्ञा प्राप्त है। मुख्तारजी ने इस संबंध के अवतरण में बंधन का नाम कोष्टक में अपनी ओर से जोड़ दिया है, यह सूचित करने के लिये कि वह नाम उनके मत से वहां छूट गया है। किन्तु यह मालूम नहीं पड़ता कि उक्त शिकायत में शामिल करने में उन्होंने बंधन का ही क्यों पक्षपात किया और शेष अठारह अनुयोगद्वार क्यों छोड़ दिये? आखिर उन्हें भी तो वे वेदनाखण्ड के ही भीतर कृति आदि के साथ समानरूप से स्वीकार करते हैं, और एत्थ का तात्पर्य वे वेदनाखण्ड से ही लेते हैं? यथार्थतः यहां बंधन-अनुयोगद्वार को शमिल करने की कोई जरूरत नहीं है। धवलाकार ने उसका तथा आगे अठारह अनुयोग द्वारों का उल्लेख जान-बूझकर किसी मतलब से छोड़ा है और वह मतलब यह है कि बंधन के ही एक अवान्त भेद

वर्गणा से वर्गणाखण्डसंज्ञा प्राप्त हुई है और उसके एक दूसरे उपभेद बंधविधान पर महाबंध की भव्य इमारत खड़ी है। जीवट्ठाणा खुद्दाबंध और बंधसामित्तविचय भी इसी के ही भेद-प्रभेदों के सुफल हैं। इसलिये उन सबसे भाग्यवान पाँच-पाँच यशस्वी सन्तानों के जनयिता बंधन को खण्डसंज्ञा प्राप्त न होने की कोई शिकायत ही नहीं थी। शेष अठारह अनुयोगद्वारों का उल्लेख न करने का कारण यह है कि भूतबलि भट्टारक ने उनका प्ररूपण ही नहीं किया। भूतबलि की रचना तो बन्धन अनुयोगद्वार के साथ ही महाबन्ध पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है। इस बात की सूचना धवलाकार ने अपनी टीका में स्पष्टतः दी है। उन्होंने भूतबलिकृत बन्धनप्ररूपणा के अन्तिम सूत्र को देशामर्षकसंज्ञा देकर कहा है कि उसी में शेष अठारह अनुयोगद्वारों की सूचना गर्भित है, इसलिये वे उन अठारह की प्ररूपणा संक्षेप में स्वयं करते हैं। यथा—

भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिद-सेस-अट्टारस-अणियोगद्दाराणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो।

धवला अ० पृ० १३३२।

इसके आगे के ग्रन्थ को उन्होंने इसी कारण पृथक्, निर्दिष्ट करने के लिये चूलिका नाम दिया है—

एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम।

इन अठारह अनुयोगद्वारों की वीरसेन द्वारा रचना का विशद् इतिहास इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में दिया है। देखो सं० प० भूमिका, पृ० ३८, ६७।

इसी अवतरण से ऊपर और मुख्तारजी द्वारा उद्धृत निबद्ध-अनिबद्ध मंगल-सम्बन्धी अवतरण से नीचे एक और प्रकरण इसी विषय पर बहुत विशद् प्रकाश डालने वाला वर्तमान है जिसे भी मुख्तारजी ने संभवतः उक्त अड़चन के कारण ही उद्धृत करना उचित नहीं समझा। वह पूरा प्रकरण इस प्रकार है—

तत्थेदं किं णिबद्धमाहो अणिबद्धमिदि। ण ताव णिबद्धमंगलमिदं महाकम्मपयडिपाहुडस्य कदियादि चउवीस-अणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदबलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स णिवद्धत्तविरोहादो। ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडीपाहुडं अवयवस्स अवयवित्त-विरोहादो। ण च भूदबली गोदमो विगलसुदधारयस्य धरसेणाइरियसीसस्स भूदबलिस्स सयलसुदधारय- बड्ढमाणंतेवासिगोदमत्तविरोहादो। ण चाणणो पयारो णिबद्धमंगलत्तस्स हेदुभूदो अत्थि। तम्हा अणिबद्धमंगलमिदं। अधवा होदु णिबद्धमंगलं। कधं वेयणाखण्डादिखण्डगयस्स महाकम्मपयडिपाहुडत्तं। ण कदिया (दि) चउबीस-अणियोगद्दारोहिंतो एयंतेण पुधभूदमहाकम्मपयडिपाहुडाभावादो।

एदेसिमाणियोगद्दाराणं कम्मपयडिपाहुडत्ते संते पाहुडबहुत्तं पसज्जदे? ण एस दोसा, कथंचि इच्छिज्जमाणत्तादो। कधं वेयणाए महापरिमाणाए उवसंहारस्स इमस्स वेयणाखगडस्स वेयणाभावो? णा, अवयवेहिंतो एयंतेण पुधभूदस्स अवयविवस्स अणुवलंभादो। ण च वेयणाए बहुत्तमणिट्ठमिच्छिज्जमाणत्तादो। कंधभूदबलिस्स गोदमत्तं? किं तस्स गोदमत्तेण। कधमण्णहा मंगलस्स णिबद्धत्तं? ण, भूदबलिस्स खण्डगथं पडि कत्तारत्ताभावादो। ण च अण्णेण कयगंथाहियाराणं एगदेसस्स पुविल्ल- सद्दत्थ-संदब्भस्स परूवओ कत्तारो होदि अइप्पसंगादो। अधवा भूदबली गोदमो चेव एगाहिप्पायत्तादो। तदो सिद्धं णिबद्धमंगलत्तं पि। उवरि उच्चमाणसु तिसु खण्डेसु..... इत्यादि।

(१) शंका—उनमें से अर्थात् निबद्ध और अनिबद्ध मंगलों में से यह मंगल निबद्ध है या अनिबद्ध?

समाधान—यह निबद्ध मंगल तो है नहीं, क्योंकि कृति अनुयोगद्वार आदि चौबीस अवयवों वाले महाकर्मप्रकृतिपाहुड के आदि में गौतम स्वामी द्वारा इसका प्ररूपण किया गया है और भूतबलि स्वामी ने उसे वहां से लाकर वेदनाखण्ड के आदि में मंगल के निमित्त रख दिया है, इसलिये उसमें निबद्धत्व का विरोध है। वेदनाखण्ड कुछ महाकर्मप्रकृतिपाहुड तो है नहीं, क्योंकि अवयव को अवयवी मानने में विरोध आता है और भूतबलि गौतमस्वामी तो हो नहीं सकते, क्योंकि, विकलश्रुत के धारक और धरसेन आचार्य के शिष्य भूतबलि में सकल श्रुत के धारक और वर्द्धमान स्वामी के शिष्य गौतमपने का विरोध है और कोई प्रकार निबद्ध मंगलपने का हेतु है नहीं इसलिये यह मंगल अनिबद्ध मंगल है।

अथवा यह मंगल निबद्ध मंगल भी हो सकता है।

(२) शंका—वेदनाखण्ड आदिखण्डों में समाविष्ट (ग्रन्थ) को महाकर्मप्रकृति प्राभृतपना कैसे प्राप्त हो सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों से सर्वथा पृथग्भूत महाकर्म-प्रकृतिपाहुड की कोई सत्ता नहीं है।

(३) शंका—इन अनुयोगद्वारों में कर्मप्रकृतिपाहुडत्व मान लेने पर तो बहुत से पाहुड मानने का प्रसंग आ जाता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात कथंचित् अर्थात् एकदृष्टि से अभीष्ट है।

(४) शंका—(गौतम स्वामी रचित) महापरिमाणवाली वेदना के उपसंहार रूप इस भूतबलि-रचित वेदनाखण्ड को वेदना (अनुयोगद्वार) कैसे माना जाय?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवयवों से एकान्ततः पृथग्भूत अवयवी तो पाया नहीं जाता। और इससे यदि एक से अधिक वेदना मानने का प्रसंग आता है तो वेदना के बहुत्व से कोई अनिष्ट भी नहीं, क्योंकि, वह बात इष्ट ही है।

(५) शंका— भूतबलि को गौतम कैसे मान लिया जाय?

समाधान— भूतबलि को गौतम मानने से प्रयोजन ही क्या है?

(६) शंका— यदि भूतबलि को गौतम न माना जाय तो मंगल को निबद्धपना कैसे प्राप्त हो सकता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भूतबलि के खण्ड ग्रन्थ के प्रति कर्तापने का अभाव है। कुछ दूसरे के द्वारा रचे गये ग्रन्थाधिकारों में से एक-देश का पूर्व प्रकार से ही शब्दार्थ और संदर्भ प्ररूपण करने वाला ग्रन्थकर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि, इससे तो अतिप्रसंग दोष आ जायेगा, अर्थात् एक ग्रन्थ के अनेक कर्ता होने का प्रसंग आ जायेगा।

अथवा, दोनों का एक ही अभिप्राय होने से भूतबलि गौतम ही हैं इस प्रकार यहां निबद्धमंगलत्व भी सिद्ध हो जाता है।

वेदना और वर्गणाखंडों की सीमाओं का निर्णय

यहां पर प्रथम शंका-समाधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वेदनाखण्ड के अन्तर्गत पूरा महाकम्मपयडिपाहुड का विषय नहीं है, वह उस पाहुड का एक अवयवमात्र है, अर्थात् उसमें उक्त पाहुड के चौबीसों अनुयोगद्वारों का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। महाकर्मप्रकृतिपाहुड अवयवी है और वेदनाखण्ड उसका एक अवयव। दूसरे शंका-समाधान से यह सूचना मिलती है कि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में अकेला वेदनाखण्ड नहीं फैला है किन्तु वेदना आदि खण्ड फैले हैं, अर्थात् वर्गणा और महाबन्ध का भी अन्तर्भाव वहीं है। तीसरे शंकासमाधान में महाकर्मप्रकृतिपाहुड के कृति आदि अवयवों में भी एक दृष्टि से पाहुडपना स्थापित करके चौथे शंकासमाधान में स्पष्ट निर्देश किया है कि वेदनाखण्ड गौतमस्वामिकृत बड़े विस्तार वाले वेदना-अधिकार का ही उपसंहार अर्थात् संक्षेप है। यह वेदना धवला की अ० प्रति में पृ० ७५६ पर प्रारंभ होती है, जहां कहा गया है—

कम्मट्ठजणियवेयण-उवहि-समुत्तिण्णए जिणो णमिउं।
वेयणमहाहियारं विविहहियारं परूवेमो।।

और वह उक्त प्रति के ११०६वें पत्र पर समाप्त होती है। जहां लिखा मिलता है—

एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता ।

इस प्रकार इस पुष्पिकावाक्य में अशुद्धि होते हुए भी वहां वेदनाखण्ड की समाप्ति में कोई शंका नहीं रह जाती।

पांचवें और छठवें शंका-समाधान में भूतबलि और गौतम में ग्रन्थकर्तृत्वरूप अभिप्राय की अपेक्षा एकत्व स्थापित किया गया है जो सहज ही समझ में आ जाता है और इस प्रकार उक्त मंगल को निबद्ध भी सिद्ध करके बता दिया गया है।

इस प्रकार उक्त शंका-समाधान से वेदनाखण्ड की दोनो सीमाएं निश्चित हो जाती हैं। कृति तो वेदनाखण्ड के अन्तर्गत है ही, क्योंकि, उक्त शंका-समधान की सूचना के अतिरिक्त मंगलाचरण के साथ ही वेदनाखण्ड का प्रारम्भ माना ही गया है।

वेदनाखण्ड के विस्तार का एक और प्रमाण उपलब्ध है। टीकाकार ने उसका परिमाण सोलह हजार पद बतलाया है। यथा—

खंडगंथं पडुच्च वेयणाए सोलस-पद-सहस्साणि।

यह पदसंख्या भूतबलिकृत सूत्रग्रन्थ की अपेक्षा से ही होना चाहिए। अतएव जब-तक यह ज्ञात न हो जाये कि पद से यहां धवलाकार का क्या तात्पर्य है, तथा वेदनादि खण्डों के सूत्र अलग करके उन पर वह माप न लगाया जाये, तब-तक इस सूचना का हम अपनी जांच में विशेष उपयोग नहीं कर सकते। तो भी टीकाकार ने एक अन्य खण्ड की भी इस प्रकार पदसंख्या दी है और उस खण्ड की सीमादि के विषय में कोई विवाद नहीं है, इसलिये हमें उनकी तुलना में कुछ आपेक्षिक ज्ञान अवश्य हो जायेगा। धवलाकार ने जीवट्ठाण-खण्ड की पदसंख्या अट्ठारह हजार पद बतलाई है :—

'पदं पडुच्च अट्ठारह-पद-सहस्सं' (सं० प० पृ० ६०)

इससे यह ज्ञात हुआ कि वेदनाखण्ड का परिमाण जीवट्ठाण से नवमांश कम है। जीवट्ठाण के ४७५ पत्रों का नवमांश लगभग ५३ होता है, अतः साधारणतया वेदनाखण्ड की पत्र संख्या ४७५-५३=४२२ के लगभग होना चाहिये। ऊपर निर्धारित सीमा के अनुसार वेदना की पत्रसंख्या प्रत्यक्ष में ६६७ से ११०६ तक अर्थात् ४३९ है जो आपेक्षिक अनुमान के बहुत समीप पड़ती है। समस्त चौबीस अनुयोगद्वारों को वेदना के भीतर मान लेने में तो जीवट्ठाण की अपेक्षा वेदनाखण्ड तिगुने से भी अधिक बड़ा हो जाता है।

वर्गणाखण्ड-निर्णय

जब वेदनाखण्ड का उपसंहार वेदनानुयोगद्वार के साथ समाप्त हो गया, तब प्रश्न उठता है कि उसके आगे के 'फास' आदि अनुयोगद्वार किस खण्ड के अंग

रहे? ऊपर वेदनादि तीन खण्डों के उल्लेखों के विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि वेदना के पश्चात् वर्गणा और उसके पश्चात् महाबन्ध की रचना है। महाबन्ध की सीमा निश्चित रूप से निर्दिष्ट है, क्योंकि धवला में स्पष्ट कह दिया गया है कि 'बन्धन' अनुयोगद्वार के चौथे प्रभेद— बन्धविधान के चार प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध का विधान भूतबलिभट्टारक ने महाबन्ध में विस्तार से लिखा है, इसलिए वह धवला के भीतर नहीं लिखा गया। अतः यहीं तक वर्गणाखण्ड की सीमा समझना चाहिये। वहां से आगे के निबंधनादि अठारह अधिकार टीकाकार की सूचनानुसार चूलिकारूप हैं। वे टीकाकारकृत हैं, भूतबलिकृत नहीं।

उक्त खण्डविभाग को सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये अब केवल उस प्रकार के किसी प्राचीन विश्वसनीय स्पष्ट उल्लेखमात्र की अपेक्षा और रह जाती है। सौभाग्य से ऐसा एक उल्लेख भी हमें प्राप्त हो गया है। मूडविद्री के पं० लोकनाथजी शास्त्री ने वीरवाणीविलास जैन सिद्धान्तभवन की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (१९३५) में मूडविद्री की ताड़पत्रीय प्रति पर से महाधवल (महाबंध) का कुछ परिचय अवतरणों सहित दिया हैं इससे प्रथम बात तो यह जानी जाती है कि पण्डितजी को उस प्रति में कोई मंगलाचरण देखने को नहीं मिला। वे रिपोर्ट में लिखते हैं—'इसमें मंगलाचरण श्लोक, ग्रन्थ की प्रशस्ति वगैरह कुछ भी नहीं है'। पं० लोकनाथजी की यह रिपोर्ट महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पण्डितजी ने ग्रन्थ को केवल ऊपर नीचे ही नहीं देखा— उन्होंने कोई चार वर्ष तक परिश्रम करके पूरे महाधवल ग्रन्थ की नागरी प्रति-लिपि तैयार की है, जैसा कि हम प्रथम जिल्द की भूमिका में बतला आए हैं। अतएव उस ग्रन्थ का एक-एक शब्द उनकी दृष्टि और कलम से गुजर चुका है। उनके मत में पूर्वोक्त 'मंगलकरणादो' पद में हमारे 'मंगलाकरणादो' रूप सुधार की पुष्टि होती है।

दूसरी बात जो महाधवल के अवतरणों में हमें मिलती है, वह खण्ड-विभाग से संबंध रखती है। महाबन्ध पर कोई 'पंचिका' भी इस प्रति में ग्रथित है, जैसा कि अवतरण की प्रथम पंक्ति से ज्ञात होता है :—

वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेणा विवरणां सुमहत्थं।

इसी पंचिकाकार ने आगे चल कर कहा है—

महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि वेदणाओ (दि) चौव्बीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदि वेदणा त्ति अणियोगद्दाराणि जाणि वेदणाखंडम्हि, पुणो पास (कम्मपयडिबंधणाणि) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणा-मणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि पुणो बंधविधाणमणियोगो खुद्दाबंधम्हि सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहितो सेसट्ठारसाणियोद्दारोणि सत्तकम्मे

सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थेथोरुद्धएण पंचियसरूवेण भणिस्सामो।

इस अवतरण के शब्दों में अशुद्धियां हैं। कोष्टक के भीतर के सुधारे या जोड़े हुए पाठ मेरे हैं। पर उसपर से, तथा उससे आगे जो कुछ कहा गया है उससे यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि यहां निबंधनादि अट्ठारह अधिकारों की पंचिका दी गई है। उन अट्ठारह अधिकारों का नाम 'संतकम्म' था, जिससे इन्द्रनन्दि के 'सत्कर्म' संबंधी उल्लेख की पूरी पुष्टि होती है। प्राप्त अवतरण पर से महाधवल की प्रति वा उसके विषय आदि के संबंध में अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं और प्रति की परीक्षा की बड़ी अभिलाषा उत्पन्न होती है। किन्तु उस सब का नियन्त्रण करके प्राकृत विषय पर आने से उक्त अवतरण में प्रस्तुतोपयोगी यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती है कि कृति और वेदना अनुयोगद्वार वेदनाखण्ड के तथा फास-कम्म-पयडि और बन्धन के बन्ध और बन्धनीय भेद वर्गणाखण्ड के भीतर हैं। इससे हमारे विषय का निर्विवादरूप से निर्णय हो जाता है।

प्रथम जिल्द की भूमिका में ठीक इसी प्रकार खण्ड-विभाग का परिचय कराया जा चुका है। उस परिचय की ओर पाठकों का ध्यान पुनः आकर्षित किया जाता है।

इस विवेचना की मैं श्री पं० जुगलकिशोरजी के शब्दों से अच्छे शब्दों में समाप्ति नहीं कर सकता—'आशा है सत्य के अनुरोध और भ्रामक सूचनाओं के प्रचार को रोकने की सद्भावना से लिखे हुए इस लेख से बहुतों का समाधान होगा, और वे सब इस बात का प्रयत्न करेंगे कि भविष्य में इस प्रकार की गलत सूचनाओं का अवरोध होये, वे फैलने न पायें और हमारी लेखनी अधिकाधिक सावधान होकर उन्नत, पुष्ट एवं निर्भ्रान्त साहित्य तैयार करने में समर्थ हो सकें।'

सासादन सम्यक्त्व के सम्बन्ध में शासन-भेद

गुणस्थानों की चर्चा जैनदर्शन का प्राण है, क्योंकि यहां यह विवेचन किया जाता है कि जो जीव अनादि काल से अपने स्वरूप को भूला हुआ है वह किस प्रकार अपने स्वरूप को पहचान सकता है और तत्पश्चात् यथार्थ ज्ञान और सच्चरित्र के द्वारा अपने आपको परमात्मपद पर पहुँचा सकता है। इस आत्मप्राप्ति का सुयोग तभी मिल पाता है जब अनेक संस्कारों के बल से आत्मा में एक विशेष शुद्धि उत्पन्न हो जाती है और जीव अपने कुसंस्कारों का घात करता हुआ उत्तरोत्तर निर्मल भावों को प्राप्त करता है। उचित समय पर यह आत्म-शुद्धि की क्रिया अन्तमुहूर्त-काल में अर्थात् ४८ मिनट के भीतर ही भीतर हो जाती है और जीव अपने कुसंस्कारों को दबाकर मिथ्यात्व को छोड़ सम्यक्त्वी व आत्मश्रद्धानी हो जाता है। चूंकि यह श्रद्धान मिथ्यात्व भाव के दमन या उपशमन से प्राप्त होता है इसलिये इसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

किन्तु यह उपशम सम्यक्त्व दीर्घकाल तक टिकता नहीं है। मिले हुए मैल के नीचे बैठ जाने से जो पानी शुद्ध होता है उसके जरा से हिल जाने पर वह मैल फिर ऊपर उठ आता है और सारे पानी को पुनः गंदा कर देता है। उसी प्रकार यह उपशम सम्यक्त्व एक अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रह पाता है और पश्चात् पूर्व संस्कारों के प्राबल्य से जीव का पुनः मिथ्यात्व में आ गिरना संभव है। जिस समय जीव तीव्र कषाय के वश से सम्यक्त्व से तो च्युत हो जाता है किन्तु मिथ्यात्व तक नहीं पहुँच पाता उसी अल्पकालीन अन्तराल अवस्था को सासादन भाव कहते हैं। इस अवस्था में सम्यक्त्व का अभाव होने पर भी भूतपूर्व न्यायानुसार उसे सम्यक्त्व ही कहते हैं, क्योंकि मिथ्यात्वभाव का तो अभी पुनः उदय ही नहीं हो पाया।

कभी कोई उपशम सम्यक्त्वी जीव उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर भी अपने को सम्हाल लेते हैं और पुनः मिथ्यात्वी होने से बच जाते हैं। मिथ्यात्वका एक अति विशुद्ध अंश भी सम्यक्त्व कहलाता है। ये जीव इसी सम्यक्त्व के आश्रित हो जाते हैं और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी कहलाते हैं। ये जीव कभी-कभी व्रत संयम आदि द्वारा सच्चारित्र भी ग्रहण कर लेते हैं और अपनी

योग्यता बढ़ाते-बढ़ाते अप्रमत्तसंयत हो जाते हैं। चारित्र की इस अवस्था से कभी जीव फिर उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। परिणामों की जिस उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विशुद्धि के द्वारा यहां ये उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया जाता है उसी क्रमवर्ती श्रेणी का नाम उपशम-श्रेणी है।

उपशान्तकषाय से सासादन हो सकता है या नहीं?

उपशम श्रेणी के द्वारा जो जीव उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है वह फिर सासादन सम्यक्त्वी हो सकता है या नहीं इसके सम्बन्ध में जैनाचार्यों में मतभेद है। षट्खंडागम-सूत्रों के रचयिता भूतबली आचार्य का मत है कि उपशम-श्रेणी से उतरा हुआ जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता। इस मत का उल्लेख लब्धिसार की निम्न गाथा में किया गया है—

उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासणं ण पापुणदि ।
भूदबलिणाहणिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ।।३४८।।

किन्तु कसायपाहुड के चूर्णिसूत्रों के रचयिता यतिवृषभ आचार्य का मत है कि उपशम श्रेणी से उतरकर जीव असंयत सम्यग्दृष्टी भी हो सकता है, देशसंयमी भी हो सकता है और सासादन-गुणस्थानवर्ती भी हो सकता है और इस सासादन गुणस्थान से ही यदि उसका मरण हुआ तो वह एकमात्र देव गति को ही जाता है। नरक, तिर्यंच व मनुष्य गति में नहीं आता; क्योंकि इन तीन गतियों की आयु को बांध लेने वाला जीव तो मोहकर्म का उपशम ही नहीं करता। यह मत लब्धिसार की निम्न तीन गाथाओं में प्रकट किया गया है—

तस्सम्मत्तद्धाए असंजमं देशसंजमं वा पि ।
गच्छेज्जावलिछक्के सेसे सासणगुणं वापि ।।३४५।।
जदि मरदि सामणों सो णिरय-तिरिक्खं णरं ण गच्छेदि
णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिदवयणेण ।।३४६।।
णरयतिरिक्ख-णराउण्सत्तो सक्को ण मोहमुवसमिदुं तम्हा तिसु वि गदीसुण तस्म उप्पज्जणां होदि ।।३४७।।

षट्खंडागम की धवलाटीका के रचयिता वीरसेनाचार्य ने इसी मतभेद का उल्लेख 'जीवट्ठाण' खंड की सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका में इस प्रकार किया है—

"एदिस्से अवसमसम्मत्तद्धाए अब्भंतरादो असंजमं पि गच्छेज्ज, संजमासंजमं पि गच्छेज्ज, छसु आवलियासु सेसासु आसाणं पि गच्छेज्ज। आसाणं पुण गदो जदि मरदि, ण सक्को णिरयगदि तिरिक्खगदि मणुसगदिं

वा गंतुं, णियमा देवगदिं गच्छदि। एसो पाहुडचुण्णिसुत्ताभिप्पाओ। भूदबलिभयवंतस्सुव एसेण अवसमसेडीदो ओदिण्णो ण सासणत्तं पडिक्ज्जदि। हंदि तिसु आउएसु एक्केणा वि बद्धेणा णा सक्को कसाए उवसामेदुं, तेण कारणेण णिरय-तिरिक्ख-मरगुसगदीओ ण गच्छदि"।।

लब्धिसार की उपर्युक्त चारों गाथाएं ठीक इन्हीं वाक्यों की रूपान्तर हैं। केवल जहां वीरसेन स्वामी ने पाहुडचुण्णिसुत्त का उल्लेख किया है वहां लब्धिसार के कर्त्ता ने पाहुड चूर्णिसूत्र के कर्ता यतिवृषभ मुनीन्द्र का नामोल्लेख कर दिया है और वीरसेनस्वामी तो यतिवृषभाचार्य के चूर्णिसूत्र प्रायः जैसे के तैसे उद्धृत किये हैं, क्योंकि उनके उपर्युक्त वाक्य जयधवलान्तर्गत चूर्णिसूत्रों में इस प्रकार पाये जाते हैं—

"एदिस्से उवसमसम्मत्तद्धाए अब्भंतरदो असंजमं पि गच्छेज्ज, संजमासंजमं पि गच्छेज्ज दो वि गच्छेज्ज। छसु आवलियासु सेसासु आसाणं पि गच्छेज्ज। आसाणं पुण गदो जदि मरदि ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं वा गंतुं, णियमा देवगदिं गच्छदि। हंदि तिसु आउएसु एक्केण वि बद्धेण आउगेण ण सक्को कसाए उपसामेदुं। कुदो, देवाउअं मोत्तूण सेसाणं तिण्हमाउआणं मज्झे एक्केण वि आउएण बद्धेण उवसमसेढिसमारोहणस्स अच्चंताभावेण पडिसिद्धत्तादो। एदेण कारणेण णिरयगदि-तिरिक्खजोणि-मरगुस्सगदीओ ण गच्छदि।"

(अमरावती प्रति, पत्र १०५७)

इन छह सूत्रों की जयधलवा में अलग-अलग टीका की गयी है।

जीवट्ठाण की गति-आगति चूलिका के सूत्र ७३ की टीका करते हुए धवलाकार ने यह बतलाया है कि किस प्रकार देव या नारकी जीव सम्यक्त्वसहित मनुष्य गति में प्रवेश करके सासादन-गुणस्थान-सहित ही वहां से निर्गमन भी कर सकता हैं। यहां उन्होंने कहा है कि सम्यक्त्व-सहित मनुष्य गति में आकर उपशम श्रेणी चढ़कर पुनः नीचे उतर कर सासादन गुणस्थान में पहुँचने और वहीं पर मरण करने वाले जीवों में उक्त बात घटित हो जाती है। यहाँ पर धवलाकार स्पष्टीकरण करते हैं—

"एदं पाहुडसुत्ताभिप्पाएण भणिदं। जीवट्ठाणाभिप्पाएण पुण संखेज्जवस्साउएसु ण संभवदि, उवसमसेडीदो ओदिण्णस्स सासणगुणगमणाभावा। एत्थ पुण संखेज्जासंखेज्जवस्साउए मोत्तूण जेणा भणिदं तेणेदं घडदे।"

अर्थात्— यहां जो उपशम श्रेणी चढ़कर उतरते हुए सासादन गुणस्थान से

प्रेरणा कर निर्गमन की बात कही है वह कषाय प्राभृत के चूर्णिसूत्रों के अभिप्राय से कही गयी है। किन्तु जीवट्ठाण के अभिप्राय से संख्यातवर्षायु वाले मनुष्यों में यह बात संभव नहीं हो सकती; क्योंकि जो जीव उपशमश्रेणी से उतरा है वह सासादन गुणस्थान में पहुँच ही नहीं सकता। किन्तु यहां संख्यात व असंख्यात वर्ष आयुओं की अपेक्षा न करके सामान्य से कहा गया है, जिससे उक्त बात घटित हो जाती है।

भूतबलि आचार्य का यह मत है कि उपशमश्रेणी से उतरकर जीव सासादन गुणस्थान नहीं जाता, जीवट्ठाण में कहीं पृथक् और स्पष्ट रूप में नहीं पाया जाता। किन्तु उनके उक्त अभिप्राय का पता उनकी अन्तर प्ररूपणा के सूत्र ७ से लगता है जहां उन्होंने एक जीव की अपेक्षा सासादन सम्यग्दृष्टिका जघन्य अन्तरकाल पल्योपमका असंख्यातवां भाग बतलाया है—'**एगजीवं पडुच्च जहण्णेण पलिदोवमत्स असंखेज्जदिभागो**'। इसी अन्तर के प्रमाण की उपपत्ति बतलाते हुए धवलाकार ने प्रश्न उठाया है कि—

''सासणपच्छायदमिच्छाइट्ठि संजमं गेण्हाविय दंसणतियमुक्सामिय पुणो चरित्तमोहमुवसामेदूण हेट्ठा ओयारिय आसाणां गदस्स अंतोमुहुत्तंत्तरं किण्ण परूविदं''?

अर्थात्—सासादन के पश्चात् मिथ्यादृष्टि हुए जीव को संयम ग्रहण कराकर व दर्शनत्रय का उपशमन कराकर पुनः चारित्रमोह को उपशमाकर नीचे उतर सासादन गुणस्थान में जाने पर सासादन सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तर भी तो हो सकता है, सो क्यों नहीं प्ररूपण किया? इसका उन्होंने यों समाधान किया है कि—

''ण, उवसमसेढीदो ओदिण्णाणं सासणगमणाभावादो। तं पि कुदो णव्वदे? एदम्हादो चेव भूदबलीवयणादो।''

अर्थात्—उस तरह सासादन का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अंतर नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि उपशमश्रेणी से उतरे हुए जीव सासादन भाव को प्राप्त ही नहीं होते। यदि कहा जाय कि वह कैसे जाना जाता है? तो उसका उत्तर है कि प्रस्तुत सूत्र ही तो भूतबली आचार्य का वह वचन है जिससे उपशम श्रेणी से उतरा हुआ जीव सासादन नहीं हो सकता। यहां प्रश्न यह होता है कि इस मतभेद का कारण क्या है? यही मतभेद श्वेताम्बर धार्मिक ग्रंथों में भी पाया जाता है। कर्मप्रकृति के उपशमना अधिकार की गाथा ६२ तथा पंचसंग्रह के उपशमना अधिकार की गाथा ९३ में भी उपशमश्रेणी से गिर कर सासादन गुणस्थान में आने का उल्लेख पाया जाता है। उन गाथाओं के टीकाकार मलयगिरि व यशोविजय उपाध्याय दोनों ने यह स्पष्टीकरण

किया है कि जिन आचार्यों के मत से अनन्तानुबन्धी की उपशमना होती है उनके मत से ही श्रेणीपतित जीव सासादन हो सकता है—'**येषां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमना भवति तेषां मतेन कश्चित् सासादनभावमपि गच्छति।**" यह मत बहुत युक्ति-संगत प्रतीत होता है, क्योंकि जब अनन्तानुबन्धी कषायों को उपशमकाल में उपशान्त माना है, तब उनका परिणामों के निमित्त से अनुप्रशान्त होकर उदय में आ जाना और जीव को सासादन बना देना संभव हो सकता है और जहां दर्शनमोह का उपशम होने से पूर्व समस्त अनन्तानुबन्धी कषायों का विसंयोजन अर्थात् अपनी जातीय पर-प्रकृतियों में संक्रमण द्वारा विनाश माना गया है, वहां उपशान्त कषायकाल में अनन्तानुबन्धी के सत्व और बन्ध दोनों का अभाव होने से अकस्मात् उनका उदय में श्राना और जीव को सासादन बना देना संभव नहीं जँचता। अतएव अनुमान होता है कि भूतबलि आचार्य अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन स्वीकार करने के कारण उपशान्त कषाय से सासादन में जाना नहीं मानते और संभवतः यतिवृषभाचार्य अनन्तानुबन्धी का उपशम मानकर उपशान्त से सासादन में गमन संभव बतलाते हैं। किन्तु जब हम यतिवृषभाचार्य के चूर्णिसूत्रों को देखते हैं तो वे श्रेणी चढ़ने के समय अनन्तानुबन्धी का उपशम नहीं किन्तु विसंयोजन ही स्वीकार करते हैं, जैसा कि जयधवलाकार की उत्थानिका व टीका सहित निम्न चूर्णिसूत्र से स्पष्ट हैं —

"तत्थ तावमणंतारगुबंधिविसंजोयणा परूचेयव्वा, अविसंजोइदाणंताणुबंधीचउक्कस्स वेदयसम्माइट्ठिस्स कसायोवसामणाणिबंधणदंसणमोहोवसामणादिकिरियासुपवुत्तीए असंभवादो। तदो तव्विसंजोयणमेव पुव्वं परूवेमाणो तदवसरकरणट्ठमुत्तरसुत्तं भणह—

वेदयसम्भाइट्ठी अणंताणुबंधी अविसंजोएदूण कसाये उवसामेदं णो उवट्ठदि। (चू० सूत्र)

जो अट्ठाबीससंतकम्मिओ वेदयसम्माइट्ठी संजदो सो जाव अणंताणुबंधिचउक्कं ण विसंजोएदि ताव कसाए उवसामेदुं णो उवक्कमेदि। कुदो? तेसिमविसंजोयणाए तस्स उवसमसेडिचडणपाओग्गभावासंभवादो। तदो अणंताणुबंधिविसंजोयणाए चेव षढममेसो पयट्टदि त्ति जाणावणट्ठमुत्तरसुत्तारंभो—

सो ताव पुव्वमेव अणंताणुबंधो विर्संजोएदि। सुगमं।" (चू०सू०)

अर्थात्—"अब यहां अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना बतलाने योग्य है; क्योंकि, जिस वेदकसम्यग्दृष्टि जीव ने अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना

नहीं कि उसकी कषायोपशामना के निमित्तभूत दर्शनमोह की उपशामना आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति होना असंभव है। इसलिये उन अनन्तानुबन्धी कषायों के विसंयोजन को ही पहले बतलाते हुए (आचार्य यतिवृषभ) उसके अवसर की प्राप्ति के लिये अगला सूत्र कहते हैं—वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन किये बिना कषायों के उपशान्त करने के लिये उद्यत नहीं होता। (चूर्णि सूत्र)

(टीका) जो अट्ठाइस मोहनीय कर्मो की सत्ता वाला वेदन सम्यग्दृष्टि संयत है वह जब तक अनन्तानुबन्धीचतुष्क का विसंयोजन नहीं कर डालता, तब तक वह कषायों के उपशम करने का उपक्रम नहीं करता, क्योंकि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना किये बिना जीव के उपशमश्रेणी चढ़ने योग्य भाव उत्पन्न होना संभव नहीं है। इसलिये अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने में ही वह जीव पहले प्रवृत्त होता है। इसी बात की समझाने के लिये अगले सूत्र का आरंभ होता है—

"वह वेदक सम्यग्दृष्टि संयत उपशम श्रेणी चढ़ने से पूर्व ही अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करता है।" (चूर्णि सूत्र)

(टीका) "यह सूत्र सुगम है।"

इस प्रकार जब यतिवृषभाचार्य अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना मानते हैं और फिर भी उपशान्त कषाय से सासादन गुणस्थान में जाने का प्रतिपादन करते हैं, तब उनके और भूतबलि आचार्य के बीच मतभेद का कारण स्पष्टतः समझ में नहीं आता। अतएव यह विषय गवेषणीय है।

श्वेताम्बर पंचसंग्रह में कहा गया है कि जब क्षपकश्रेणी चढ़ने वाला जीव बद्धायु होने के कारण अनन्तानुबन्धी का क्षय करके ही ठहर जाता है, तब वह कदाचित् मिथ्यादर्शन के उदय से पुनः अनन्तानुबन्धी का उपचय करने लगता है, क्योंकि यद्यपि उसके अनन्तानुबन्धी की सत्ता शेष नहीं रही थी पर मिथ्यात्वकी तो सत्ता थी ही, और मिथ्यात्व में ही अनन्तानुबन्धी के बीज सन्निहित रहते हैं। अतएव कोई-कोई जीव परिणामविशेष के द्वारा मिथ्यात्व में से अनन्तानुबन्धी का उपचय कर उसे उदय में ले आते हैं। पर जिस जीवने मिथ्यादर्शन का भी क्षय कर दिया है उसके फिर अनन्तानुबन्धी का उदय कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पास अनन्तानुबन्धी के बीज ही नहीं रहते—

"इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते, अनन्तानुबन्धिक्षयानन्तरं च मरणसंभवतो व्युपरमते। ततः कदाचित् मिथ्यादर्शनोदयतो भूतोऽप्यनन्तानुबन्धिन

उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात्। क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात्।"

(पंचसंग्रह, द्वार १, पृ० २५)

इसी प्रकार उपशान्तकषाय के भी अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन द्वारा विनाश हो जाने पर भी उसकी बीजयोनिरूप मिथ्यात्व तो रहता ही है और उसी से परिणामविशेष द्वारा अनन्तानुबन्धी का उपचय और उदय होना संभव हो सकता है। यद्यपि यह व्यवस्था सर्वथा संतोषजनक नहीं जँचती, क्योंकि अनन्तानुबन्धी की योनि मिथ्यात्व के उपशमकाल में ही इन बीजों का उपचय होकर उदय में आ जाना युक्तिसंगत सा नहीं लगता। किन्तु जब तक अन्य आगमप्रमाण उपलब्ध न हो तब तक इस प्रकार भी उपशान्त कषायकाल मे से सीधे सासादन गुणस्थान में जाने की उपपत्ति स्वीकार की जा सकती है।

सासादन सम्यकत्व के संबंध में अन्य प्रश्न

उपशमश्रेणी से उतरकर सासादन गुणस्थान में आया हुआ जीव यदि मरण करता है तो नियम से देवगति में ही जाता है, यह तो हम देख ही चुके। अब प्रथमोशम सम्यक्त्व से सासादन सम्यक्त्व में आये हुए जीव के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

१—सासादन सम्यक्त्वी जीव मरकर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकता है या नहीं?

२—यदि हो सकता है तो उक्त जीवों की अपर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है या नहीं?

इन प्रश्नों के उत्तर भिन्न-भिन्न ग्रंथों में बहुत भिन्न प्रकार से पाये जाते हैं। इस मतभेदों का यहां ग्रंथानुसार परिचय कराया जाता है।

सर्वार्थसिद्धि का मत

तत्वार्थ सूत्र के टीकाकार पूज्यपाद स्वामी ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में कृष्ण, नील और कपोत लेश्या वाले सासादन सम्यग्दृष्टियों का स्पर्शन प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

"लेश्यानुवादेन— कृष्ण-नील-कापोतलेश्यैः मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्ट। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः, पंच, चत्वारो, द्वौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः।"

अर्थात्—"लेश्यामार्गणानुसार कृष्ण, नील और कापोतलेश्या वाले मिथ्यादृष्टि जीवों द्वारा समस्तलोक स्पृष्ट किया गया है, तथा सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों-द्वारा

लोक का असंख्यातवाँ भाग एवं चौदह भागों में से कुछ कम पांच, चार व दो भाग स्पष्ट किये गये हैं।"

किन्तु यहां प्रश्न उठता है कि—

"द्वादश भागा कुतो न लभ्यन्ते?"

अर्थात्—'यदि छठवीं पृथ्वी के सासादन नारकी जीव तिर्यग्लोक में और तिर्यग्लोक के सासादन जीव लोकाग्र के एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होते हैं तो उनके द्वारा बारहराजू प्रमाण क्षेत्र क्यों नहीं स्पर्श किया जाता?"

इसका उत्तर सर्वार्थसिद्धिकार दो प्रकार से देते हैं। एक तो यह कि—

"तत्रावस्थितलेश्यापेक्षया पञ्चैव।"

अर्थात्— छठे नरककी लेश्या की अपेक्षा पांच से अधिक राजू प्रमाण वहां से निकलने वाले सासादन जीवों का स्पर्शन क्षेत्र नहीं हो सकता, क्योंकि मध्यलोक से ऊपर कृष्णलेश्या सहित गमन नहीं होता।

दूसरे प्रकार से उन्होंने उत्तर दिया है—

अथवा, येषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ताः।

अर्थात् पक्षान्तर से, जो आचार्य सासादन जीव का एकेन्द्रियों में उत्पन्न होना नहीं मानते उनके मत की अपेक्षा द्वादश राजू प्रमाण स्पर्शन क्षेत्र नहीं बतलाया।

यहां सर्वार्थसिद्धिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सासादन जीवों के मरण पश्चात् उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत के अनुसार सासादन मरकर एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकते हैं जिससे उनका स्पर्शन क्षेत्र लोक के बारह भाग प्रमाण हो सकता है। किन्तु दूसरे मत के अनुसार सासादन जीव मरकर एकेन्द्रियों में उत्पन्न ही नहीं होते और जिन आचार्यो के वचनों के आधार पर सर्वार्थसिद्धिकार ने उक्त स्पर्शन क्षेत्र बतलाया है उन्हें वे इसी दूसरे मत के पक्षपाती अनुमान करते हैं। सर्वार्थसिद्धिकार के आधारभूत वे आचार्य कौन हैं व उनके कथनों से सासादन जीवों की उत्पत्ति-व्यवस्था कैसी निकलती है यह हम आगे चलकर देखेंगे। पर पूर्वोक्त प्रकरण पर से चाहे स्वयं सर्वार्थसिद्धिकार का मत हमें स्पष्टतः समझ में न आये, किन्तु ग्रंथ के अन्य अंशों पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें स्वयं सासादन जीवों का एकेन्द्रियों में उत्पन्न होना स्वीकार है। सामान्य से सासादन सम्यग्दृष्टियों का स्पर्शन क्षेत्र बतलाते हुए उन्होंने उनके द्वारा कुछ कम आठ व बारह राजू प्रमाण क्षेत्र का स्पर्श किया जाना माना है। यथा—

सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकिस्यासंख्येयभागः अष्टौ द्वादश वा चतुर्दशभागा देशोनाः।

सर्वार्थसिद्धिकी श्रुतसागरी टीका

यहाँ सासादन सम्यग्दृष्टियों का जो बारह राजू प्रमाण स्पर्शन क्षेत्र कहा गया है वह तभी सिद्ध हो सकता है जब सासादन जीवों का एकेन्द्रियों में उत्पन्न होना माना जाये। श्रुतसागर ने अपनी टीका में इसी प्रकार इसकी सिद्धि की है। यथा—

षष्ठीतो मध्यलोके पंचरज्जवः सासादनों मारणन्तिकं करोति, मध्यलोकाच्च लोकाग्रे बादरपृथिवीकायिक-बादराप्कायिक-बादरवनस्पतिकायिकेषु उत्पद्यते इति सप्त रज्जवः। एवं द्वादशरज्जवो भवन्ति।

अर्थात् छठवीं पृथिवी से मध्यलोक तक पांच राजू प्रमाण सासादन जीव मारणान्तिक समुद्घात करते हैं और मध्यलोक से लोकाग्रमें बादर पृथिवीकायिक, बादर अप्काथिक और बादर वनस्पतिकायिक जीवा में सासादन उत्पन्न होते हैं, जिससे सात राजू प्रमाण स्पर्शन हुआ। इस प्रकार पांच और सात राजू प्रमाण मिलाकर सासादन सम्यक्त्वी का कुल बारह राजू प्रमाण स्पर्शन क्षेत्र हो जाता है।

श्रुतसागरजी को भी यहाँ उस मत का खयाल था जिसके अनुसार सासादन सम्यक्त्वी एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते। इसलिये उन्होंने आगे सासादनों की उत्पत्ति सम्बन्धी अपना मत स्पष्ट किया है और उसकी पुष्टि में एक पुरानी गाथा भी पेश की है। यथा—

"सासादनसम्यग्दृष्टिर्हि वायुकायिकेषु तेजाकायिकेषु नरकेषु सर्वसूक्ष्मकायिकेषु चतुःस्थानकेषु नोत्पद्यते इति नियमः। तथा चोक्तम्। गाथा—

वज्जिअठाणचउक्कं तेऊ वाऊ य णरय-सुहुमं च।
अण्णत्थ सव्वठाणो उवज्जदे सासणो जीवो।।"

"अर्थात् "सासादन सम्यग्दृष्टि वायुकायिक, तेजकायिक, नरक और समस्त सूक्ष्मकायिक इन चार जीवस्थानों में नहीं उत्पन्न होता। कहा भी है। गाथा— तेज, वायु, नरक और सूक्ष्म, इन चारों स्थानों को छोड़कर अन्यत्र सभी स्थानों में सासादन जीव उत्पन्न होता है।" इस नियम के अनुसार बादर पृथिवीकायिक, बादर जयकायिक और बादर वनस्पतिकायिक इन तीनों एकेन्द्रियों तीनों विकलेन्द्रियों और संज्ञी व असंज्ञी पंचेन्द्रियों, इन सब जीव समासों में सासादन सम्यक्त्वी जीव की उत्पत्ति हो सकती है।

अमितगति-कृत पंचसंग्रह

अमितगत्याचार्य ने अपने पंचसंग्रह में दो मतों का उल्लेख किया है। पहले तो उन्होंने कहा है कि—

चत्वारः श्वाभ्र-देवेषु पंचतिर्यक्षु भाविताः ।
नृषु सर्वे गुणा जैनैरेकमेकेन्द्रियादिषु ॥१, १२॥

अर्थात्— जैनों का कहना है कि नारकी और देवों में प्रथम चार गुणस्थान होते हैं, तिर्यंचों में पाँच, और मनुष्यों में सभी चौदहों और एकेन्द्रियादि अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय असंज्ञी जीवों में केवल एक ही गुणस्थान होता है।" पर आगे चौदह जीव समासों को बताकर उन्होंने अपने मतानुसार गुणस्थानव्यवस्था इस प्रकार दी है—

चतुर्दशसु पंचाक्षः पर्याप्तस्तत्र वर्तते ।
एतच्छास्त्रमतेनाद्ये गुणस्थानद्वयेऽपरे ॥१, १६॥

अर्थात्— इस शास्त्र(अर्थात अमितगतिकृतपंचसंग्रह) के मत से पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीव समास तो चौदहों गुणस्थानों में पाया जाता है और अन्य सब जीवसमास आदि के दो अर्थात् मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थानों में पाये जाते हैं। अपने इस पृथक् मत के सम्बन्ध में कोई भ्रम न हो इसलिये उन्होंने अन्य सिद्धान्त मत पुनः एक श्लोक में प्रकट कर दिया है—

पूर्णः पंचेन्द्रियः संज्ञी चतुर्दशसु वर्तते ।
सिद्धान्तमततो मिथ्यादृष्टौ सर्वे गुणे परे ।।१७॥

अर्थात्— सिद्धान्तमतानुसार संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तजीव समास तो चौदहों गुणस्थानों में होता है और शेष समस्त जीव समास एकमात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होते हैं।

आगे चलकर ग्रंथ के चौथे परिच्छेद में (पृ० ७५) अमितगति ने मार्गणाओं के भीतर गुणस्थानों की योजना करते हुए कहा है—

सासने तु विग्रहगत्यपेक्षया सप्तापर्याप्ताः संज्ञीपूर्णोऽष्टमः ।

अर्थात्— सम्यक्त्वमार्गणानुसार सासादन सम्यक्त्व में विग्रहगति की अपेक्षा सातों अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञी, ये आठ जीवसमास होते हैं। चूंकि उन्होंने बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, तीन विकलेन्द्रिय और संज्ञी-असंज्ञी ये दो पंचेन्द्रिय, इन सातों के पर्याप्त अपर्याप्त भेद से चौदह जीव समास लेकर ही उक्त प्ररूपणा की है, अतएव उनके मतानुसार सासादन जीव न केवल एकेन्द्रियों विकलेन्द्रियों

में व असंज्ञी पंचेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकता है, किन्तु एकेन्द्रियों के सूक्ष्मकायिको में भी उत्पन्न हो सकता है।

उसी परिच्छेद में आगे मार्गणाओं में गुणस्थानों की योजना करते हुए उन्होंने एक, दो, तीन और चार इन्द्रियों वाले जीवों में प्रथम दो गुणस्थानों और पंचेन्द्रियों में सभी गुणस्थानों का होना कहा है। यथा—

एक-द्वि-त्रि-चतुरक्षेषु द्वे प्रथमें, पंचाक्षेषु समस्तानि।

तथा काय-मार्गणानुसार पृथिवी, अप, और वनस्पतिकायिकों में दो गुणस्थान और तेज व वायुकायिकों में केवल आदि के एक गुणस्थान का विधान किया है। यथा—

धरा-वारि-वनस्पतिकायेषु द्वेप्रथमे, तेजोबालकाययोरेकमाद्यम्।

इस प्रकार तेज और वायु कायिकों में सासादन जीव के उत्पन्न होने का तो निषेध हो गया, पर सूक्ष्मकायिकों में उत्पन्न होने का विधान बना ही रहा।

चूंकि उन्होंने सिद्धान्त का मत देकर भी अपना अलग मत जोरों से स्थापित किया है इससे अनुमान किया जा सकता है कि उनके सन्मुख अपने मत की पुष्टि के लिये कोई प्रबल प्रमाण व युक्ति जरूर थी। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उन्होंने अपने ग्रंथ के चतुर्थ परिच्छेद की रचना दृष्टिवाद से उद्धृत किये हुए कुछ श्लोकों के आधार पर की है, जैसा कि उन्होंने परिच्छेद के आदि में ही कहा है—

दृष्टिवादादपोद्धृत्य वक्ष्यन्ते सारयोगिनः ।
श्लोकाः जीवगुणस्थानगोचराः कतिचिन्मया ।।२।।

गोम्मटसार जीवकाण्ड

गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार मार्गणाओं में गुणस्थानों की व्यवस्था निम्न प्रकार है—

चउपण चोद्दस चउरो णिरयादिसु चोद्दसं तु पंचक्खे ।
तसकाये सेसिंदियकाये मिच्छं गुणट्ठाणां ।।६७७।।

अर्थात्— गतिमार्गणा की अपेक्षा नरकगति में चार, तिर्यंचगति में पांच, मनुष्यगति में चौदह, तथा देवगति में चार गुणस्थान होते हैं। इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीवों के चौदह और शेष अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवों के केवल एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। कायमार्गणा की अपेक्षा त्रसकाय के चौदह और शेष स्थावर कायके एक मित्थात्व गुणस्थान ही होता है।

नेमिचन्द्राचार्य के इस मत के अनुसार यह प्रतीत होता है कि सासादन सम्यक्त्वी जीव मरकर एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि यदि उन्हें उनका उत्पन्न होना स्वीकार होता तो उक्त एकेन्द्रियादि जीवों की अपर्याप्त अवस्था की अपेक्षा मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानों का प्रतिपादन किया जाता, न कि केवल एकमात्र मिथ्यात्व गुणस्थान का।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड

पर नेमिचन्द्राचार्य के ही बनाये हुए कर्मकाण्ड में इसके विपरीत मत का प्रतिपादन पाया जाता है। इन्द्रिय मार्गणानुसार कर्मों की बंधच्युच्छित्ति आदि बतलाते हुए वे कहते हैं—

पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु सासणो देहे।
पज्जत्तिं ण वि पावदि इदि णर-तिरियाउगं णत्थि ।।११३।।
पंचिंदियेसु ओघं एयक्खे वा वणप्फदीयंते ।
मणुवदुगं मणुवाऊ उच्चं ण हि तेउवाउम्हि ।।११४।।
ण हि सासणो अपुण्णे साहारण-सुहुमगे य तेउदुगे ।
ओघं तसमणवयणो ओराले मणुवगइभंगो ।।११५।।

इन गाथाओं में यह स्पष्टतः स्वीकार किया गया है कि सासादन जीव एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में उत्पन्न होता है और उनकी अपर्याप्त अवस्था में उनके सासादन गुणस्थान रहता भी है। हां, लब्ध्यपर्याप्तक, साधारण, सूक्ष्म तथा तेज और वायुकायिक जीवों में सासादन गुणस्थान होता ही नहीं है, अर्थात् सासादन सम्यक्त्वी जीव मरकर वहां उत्पन्न नहीं होता। इस पर से बादर पृथिवी, बादर जल और बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर तथा विकलेन्द्रियों में सासादन सम्यक्त्वी उत्पन्न होता है यह सिद्ध हुआ। स्पष्टतः यहां जीवकाण्ड में एक मत की और कर्मकाण्ड में दूसरे मत की स्वीकारता पायी जाती है।

संस्कृत टीकाकार ने गाथा ११४ की टीका में यहां इतना स्पष्टीकरण और किया है कि पृथ्वी, अप् और वनस्पतिकायजीवों में उत्पन्न हुए सासादन जीव के सासादन गुणस्थान में शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हो पाती।

तत्र पृथ्व्यव्वनस्पतिकायेषु उत्पन्नस्य सासादनत्वे शरीरपर्याप्त्यसंभवात् ।

यही नहीं, कर्मकाण्ड में यह मतभेद व्यवस्थित रूप से भी उपस्थित किया गया है। गाथा २६२-२६५ में गुणस्थानानुसार प्रकृतियों के उदय और

उदयव्युच्छित्ति का वर्णन किया गया है। इस विषय में ग्रंथकर्ता ने बिना मतभेदोल्लेख के दो मत उपस्थित किये हैं। एक मत के अनुसार स्थावरकाय तथा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जाति नामकर्म प्रकृतियों का उदयव्युच्छेद प्रथम गुणस्थान में ही हो जाता है। पर दूसरे मत के अनुसार उक्त प्रकृतियों का व्युच्छेद प्रथम गुणस्थानों में न होकर दूसरे गुणस्थानों में होता है, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि स्थावरकाय एकेन्द्रिय व द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में भी सासादन गुणस्थान होता है और वह बात तभी घटित हो सकती है जब सासादन सम्यक्त्वी जीव मरकर एकेन्द्रियादि में उत्पन्न हो। संस्कृत टीकाकार ने प्रथम मत को एक पक्ष विशेष कहा है। यथा—

अथ गुणस्थानेषु व्युच्छित्तिं पक्षान्तरक्रमेणाह— गा० २६२ टीका) सासादने चतस्रः अस्मिन् पक्षे एकेन्द्रियस्थावर-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-नामकर्मणां मिथ्यादृष्टावेव उदयच्छेदकथनात्। (गा० २६३ टीका)

यद्यपि संस्कृतटीकाकार ने यहां इस पक्ष के समर्थक आचार्य का नाम नहीं दिया, तथापि हिन्दी टीकाकार पं० टोडरमलजी ने यहां कहा है—"जहां गुणस्थान विषैं व्युच्छित्ति पक्षांतर जो महाधवल का दूसरा नाम कषायप्राभृत का कर्त्ता जो यतिवृषभाचार्य ताके अनुसारिता करि अनुक्रम तै कहिए है।" यहां महाधवल का ही दूसरा नाम कषायप्राभृत और उसके कर्ता यतिवृषभाचार्य को कहना तो उक्त सिद्धान्त ग्रंथों के साक्षात् परिचय न होने का परिणाम है क्योंकि अब हम जानते हैं कि महाधवल का असली नाम महाबंध है और उसके कर्ता भूतबलि आचार्य हैं, तथा कषायप्राभृत गुणधराचार्य की रचना है और उसके चूर्णिसूत्रों के कर्ता यतिवृषभाचार्य हैं। प्रथमपक्ष यतिवृषभाचार्य के मतानुसार है या नहीं यह भी अभी हम निश्चयतः नहीं कह सकते जब तक कि चूर्णिसूत्रों की उस दृष्टि से जाँच न कर ली जाय। दूसरे पक्ष को संस्कृतटीकाकार ने स्पष्टतः भूतबलि आचार्यादि का कहा है। यथा—

अथभूतबल्याचार्यादिप्रवाहोपदेशेनाह— इसी के आधार से पं० टोडरमलजी ने कहा है। "आगैं भूतबलि आचार्यकृत धवलशास्त्र का उपदेश इत्यादिरूप दूसरा पक्ष कवि कथन करैं हैं— " हम आगे देखेंगे कि भूतबलि आचार्य के षट्खंडागम सूत्रों से वह दूसरा मत सिद्ध नहीं होता। 'आदि' शब्द से टीकाकार का किन आचार्यों से अभिप्राय है यह कहा नहीं जा सकता। 'प्रवाहोपदेश' कहने से जान पड़ता है कि उस मत की परम्परा टीकाकार तक बराबर प्रचलित थी। कर्मकांड की पूर्वोक्त गाथा ११३ आदि में उसी प्रवाहरूप उपदेश का ग्रहण पाया जाता है।

षट्खंडागम के जीवट्ठाण की सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणादि

अब हम पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों के षट्खंडागम सूत्रों पर आते हैं। जीवस्थान खंड की सत्प्ररूपणा में इन्द्रियमार्गणानुसार गुणस्थान व्यवस्था करते हुए पुष्पदन्ताचार्य सूत्र कहते हैं—

एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णि पंचिदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे ।।३६।।

इसके अनुसार एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों में सामान्य से केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही ठहरता है। कायमार्गणा सम्बन्धी **"पुढविकाइया आउकाइया तेउकायिका वाउकायिका वणप्फइकाइया एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठिट्ठाणे" ।।४३।।**

इस सूत्र से भी पृथिवी - कायादि एकेन्द्रिय जीवों के केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का ही प्रतिपादन पाया जाता है। द्रव्यप्ररूपणा के सूत्र नं० ८८ आदि में बादरपृथिवीकायादि जीवों की गुणस्थानभेद के बिना ही प्ररूपणा की गई है जिससे उनमें एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान माना जाना सिद्ध होता है। क्षेत्रादि प्ररूपणाओं के सूत्रों में भी एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय जीवों के गुणस्थानभेद का कथन नहीं पाया जाता। पर इस सम्बन्ध में स्पर्शनप्ररूपणा के कुछ सूत्र ध्यान देने योग्य हैं। जैसे—

सासणसम्माइट्ठीहिं केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जादिभागो। अट्ठ बारह चोद्दसभागा वा देसूणा ।।३-४।।

लेस्साणुवादेण किण्हलेस्सिय-णीललेस्सि-काउलेस्सियमिच्छाइट्ठी ओध। सासणसम्मांइट्ठीहि केवडियं खेत्तं पोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो। पंच चत्तारि वे चोछसभागा वा देसूणा ।।१४६-१४८।।

ये ही वे सूत्र हैं जिनके आधार पर सर्वार्थसिद्धिकार ने अपनी उपर्युक्त रचना की है। अतएव सर्वार्थसिद्धिकार के कथनानुसार इन सूत्रों के रचयिता को सासादन सम्यग्दृष्टियों का एकेन्द्रियों में उत्पन्न होना मान्य नहीं है। यह बात उपर्युक्त सत्प्ररूपणा व द्रव्यप्रमाणाणुगम के सूत्रों से भी प्रतीत होती है। पर यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सासादन सम्यक्त्वी एकेन्द्रियों में नहीं जाते तो उनका बारह राजू प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन करना कैसे घटित हो सकता है? इसके लिये हमें यह मानना ही पड़ता है कि सासादन जीव एकेन्द्रियों में मारणान्तिक समुद्घात तो करते ही हैं।

जीवट्ठाण की गति-आगति चूलिका

अब जीवट्ठाणकी गति-आगति चूलिका के कुछ सूत्रों को देखिये—

तिरिक्खसासणसम्माइट्ठी संखेज्जवस्साउआ तिरिक्खा तिरिक्खेहि कालगदसमाणा कदि गदीओ गच्छंति? तिण्णि गदीओ गच्छंति-तिरिक्खगदिं मणुस्सगदि देवगदिं चेदि। तिरिक्खेसु गच्छंता एइंदिए-पंचिंदिएसु गच्छंति, णो विगलिंदिएसु। एइंदिएसु गच्छंत। बादरपुढविकाइय-बादरआउकाइय-बादर-वणप्फाइयपत्तेयसरीरपज्जतएसु गच्छंति, णो अपज्जत्तेसु। पंचिदिएसु गच्छंता सण्णीसु गच्छंति, णो असण्णीसु ।।११९-१२३।।

मणुस्समासणसम्माइट्ठी संखेज्जवासाउआ मणुसा मणुसेहि कालगदसमाणा कदि गदीओ गच्छंति? तिण्णि गदीओ गच्छंति— तिरिक्खगदि मणुसगदिं देवगदिं चेदि। तिरिक्खेसु गच्छंता एइंदिय-पंचिंदिएसु गच्छंति, णो विगलिंदिएसु। एइंदिएसु गच्छंता बादरपुढवी-बादरआउ-बादरवणप्फदि काइयपत्तेयसरीर पज्जतएसु गच्छंति, णो अपज्जतेसु। पंचिंदिएसु गच्छंता सण्णीसु गच्छंति, णो असण्णीसु ।।१५१-१५५।।

देवा मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी देवा देवेहि उवट्टिद-चुदसमाणा कदि गदीओ आगच्छंति? दुवे गदीओ आगच्छंति— तिरिक्खगदि मणुसगदिं चेव। तिरिक्खेसु आगच्छंता एइंदिय-पंचिंदिएसु आगच्छंति, णो विगलिंदिएसु। एइंदिएसु आगच्छंता बादरपुढविकाइय-बादरआउकाइय-बादरवणप्फदिकाइय पत्तेयसरीरपज्जत्तएसु आगच्छंति, णो अपज्जत्तएसु। पंचिंदिएसु आगच्छंता सण्णीसु आगच्छंति णो असण्णीसु ।।१७३-१७७।।

इन सूत्रों में व्यवस्थित, स्पष्ट और बिना किसी भ्रान्ति की सम्भावना के भूतबलि आचार्य ने यह प्रतिपादित किया है कि तिर्यंच, मनुष्य और देव इन तीनों गतियों के सासादन सम्यक्त्वी जीव बादर पृथ्वी, बादर जल और बादर वनस्पति कायिक प्रत्येक शरीर जीवों में उत्पन्न होते हैं, किंतु विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते।

षट्खंडागमकी टीका धवला

उपर्युक्त सत्प्ररूपणादि के एकेन्द्रियों में केवल एक गुणस्थान को स्वीकार करने वाले सूत्रों और इन गति-आगति के तीनों गतियों से सासादन जीवों का एकेन्द्रियों में जाकर उत्पन्न होना प्रतिपादित करने वाले सूत्रों की संगति बैठाने का भार षट्खंडागम की धवला टीका लिखने वाले आचार्य वीरसेन पर पड़ा है। पहले तो वे एकेन्द्रियों में सासादन गुणस्थान माने जाने

व न माने जाने के विरोध को स्वीकार करते हैं। सत्प्ररूपण के ऊपर उद्धृत सूत्र ३६ की टीका में उन्होंने कहा है—

एइंदिएसु सासणगुणट्ठाणं पि सुणिज्जदि तं कधं घडदे? ण, एदम्हि सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो। विरुद्धत्थाणं कधं दोण्हं पि सुत्तत्तणमिदि? ण, दोण्हमेगदरस्स सुत्तत्तादो। दोण्हं मज्झे इदं सुत्तमिंद च ण भवदीदि कधं णव्वदि? उवदेसमंतरेण तदबगमाभावा दोण्हं पि संगहो कायव्वो। दोण्हं संगहं करें तो संसयमिच्छाइट्ठी होदि त्ति? तण्ण, सुत्तद्दिट्ठमेव अत्थि त्ति सद्दहंतस्स संदेहाभावादो। उत्तं च—

सुत्तादों तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो ।।

यहाँ शंका-समाधान के रूप में उपर्युक्त विरोध को आचार्य वीरसेन ने इस प्रकार समझाया है—

शंका— एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान भी तो सुना जाता है, वह किस प्रकार घटित होता है?

समाधान— वह नहीं घटित होता, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में उसका निषेध कर दिया गया है।

शंका— तो फिर एकेन्द्रियों में सासादन गुणस्थान होता है और नहीं होता है। इन दो विरोधी अर्थों का प्रतिपादन करने वाले दोनों वचनों में सूत्रपना कैसे बन सकता है?

समाधान— नहीं बन सकता, उनमें से कोई एक ही सूत्र माना जा सकता है।

शंका— पर यह जाना कैसे जाय कि इन दोनों के बीच यह सूत्र है, और यह सूत्र नहीं है।

समाधान— बिना किसी कुशल आचार्य के उपदेश के यह बात नहीं जानी जा सकती, अतएव दोनों मतों का संग्रह करना चाहिये।

शंका— दो विरोधी मतों का संग्रह करने वाला तो संशय-मिथ्यादृष्टि हो जायेगा?

समाधान— नहीं होगा, क्योंकि यह बात सूत्रोपदिष्ट ही है, ऐसा श्रद्धान करने वाले के संदेह नहीं रहेगा। कहा भी है—

सूत्र के द्वारा भले प्रकार दर्शाये जाने पर भी अब कोई श्रद्धान नहीं करता तब वहीं जीव उसी समय से मिथ्यादृष्टि होता है।

यहां आचार्य वीरसेन ने सासादन सम्यक्त्वी के एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने और न होने का प्रतिपादन करने वाले दोनों मतों में समान रूप से सूत्रत्व

स्वीकार किया है, और यह आदेश दिया है कि उनमें विवेचक उपदेश के अभाव में दोनों मतों का संग्रह किया जाना आवश्यक है। पर वीरसेनस्वामी ने अपनी यह दोनों मतों पर समानदृष्टि स्थिर नहीं रखी है जैसा कि स्पर्शन प्ररूपण के सूत्र ४ की टीका से स्पष्ट हो जाता है। वहां प्रश्नोत्तर इस प्रकार हुए हैं—

जदि सासणां एइंदिएसु उप्पज्जंति, तो तत्थ दो गुणट्ठाणाणि होंति। ण च एवं, संताणिओगद्दारे तत्थ एक्कमिच्छादिट्ठिंगुणप्पदुप्पायणादो, दव्वाणिओगद्दारेवितत्थए-गगुणट्ठाणदव्वस्स पमाणपरूवणादो च? को एदं भणदि जधा सासणा एइंदिएसुप्पज्जंति त्ति। किंतु ते तत्थ मारणंतियं मेल्लंति त्ति अम्हाणं णिच्छओ, ण पुण ते तत्थ उप्पज्जंति त्ति, छिण्णाउअकाले तत्थ सासणगुणाणुबलेभादो। x x x जे पुण देवसासणा एइंदिएसुप्पजंति त्ति भणंति, तेसिमभिप्पाएण बारह-चोद्दसभागा देसूणा उववादफोसणां होदि। एदं पि बक्खाणं संत-दव्वसुत्तविरुद्धं ति ण घेत्तव्वं।

शंका—यदि सासादन जीव एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं तो एकेन्द्रियों में दो गुणस्थान होने चाहियें। पर ऐसा तो है नहीं क्योंकि सत्प्ररूपणा अनुयोग द्वार में एकेन्द्रियों में एकमात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का प्रतिपादन किया गया है, और द्रव्यानुयोगद्वार में भी एकेन्द्रियों में एक गुणस्थान सम्बन्धी द्रव्य का ही प्रमाण बतलाया गया है।

समाधान—'कौन ऐसा कहता है कि सासादन जीव एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं? किन्तु सासादन जीव एकेन्द्रियों में मारणान्तिक समुद्घात करते हैं, यह हमारा निश्चय है। पर वे वहां उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि आयु छिन्न होने के काल में ही उनका सासादन गुणस्थान नष्ट हो जाता है और वह आयु छिन्न होने के पश्चात् काल में पाया नहीं जाता। X X X पर जो ऐसा कहते हैं कि सासादन सम्यग्दृष्टि देव एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं उनके अभिप्राय से सासादन जीवों का उपपादस्पर्शन बारह राजू प्रमाण होता है। किन्तु यह व्याख्यान सत्प्ररूपणा और द्रव्यप्रमाण के सूत्रों के विरुद्ध है इसलिये ग्रहण नहीं करना चाहिये।'

इस प्रकरण में धवलाकार ने उतने ही जोर से एकेन्द्रियों में सासादनों की उत्पत्ति मानने वाले मत का निषेध किया है जितने जोर से कि उन्होंने पहले दोनों मतों का संग्रह करने का उपदेश दिया था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि यहाँ उन्हें सासादनों के स्पर्शन क्षेत्र को बाहर राजू प्रमाण मानने और फिर भी एकेन्द्रियों में एक ही गुणस्थान स्वीकार करने की एक युक्ति मिल गयी। उन्होंने इन विरोधी मतों का समाञ्जस्य इस प्रकार बैठा लिया कि सासादन जीव अपने मरणकाल से पूर्व आयुबन्ध के बल से एकेन्द्रियों में मारणान्तिक समुद्घात तो करते हैं और इस प्रकार उन का

स्पर्शन क्षेत्र बारह राजू हो सकता है। पर वे ही जीव मरते समय सासादन गुणस्थान से च्युत होकर मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं, और इसलिये एकेन्द्रियों की अपर्याप्त अवस्था में भी सासादन गुण प्रकट नहीं होता, केवल मिथ्यादृष्टि गुण ही रहता है। आगे सर्वत्र धवलाकार ने इसी युक्ति से निर्वाह किया है। गति-आगति चूलिका के उपर्युक्त सूत्रों की भी उन्होंने इसी प्रकार उपपत्ति बैठाई है कि आयु छिन्न होने के समय ही सासादन गुणस्थान छूट जाता है। उदाहरणार्थ—

जदि एइंदिएसु सासणसम्माइट्ठी उप्पज्जदि तो पुढवीकायादिसु दो गुणट्ठाणाणि होंति त्ति चे ण, छिण्णाउअपढमसमए सासणगुणविणोसादो।

(सूत्र १२१ टीका)

जद्रि एइंदिएसु सासणसम्माइट्ठी उप्पजंति तो एइंदिएसु दोहि गुणट्ठाणेहि होदव्वमिदि? होदु, चे ण, एइंदियसासणदव्वस्स दव्वाणिओगद्दारे पमाणरूवणाभावा? एत्थ परिहारो वुच्चदे। तं जहा-सासणसम्माइट्ठी एइंदिएसु उप्पज्जमाणा जेण अप्पणो आउअस्स चरिमसमए सासणपरिणामेण सहिया होदूण तदो उपरिमसमए मिच्छत्तं पडिवज्जंति तेण एदंदिएसु ण दोण्णि गुणट्ठांणाणाणि, मिच्छाइट्ठिगुणट्ठाणमेक्कं चेव।

(सूत्र १५३ टीका)

श्वेताम्बर आगम

अब श्वेताम्बर ग्रंथों में सासादन गुणस्थान की प्रस्तुत विषय सम्बन्धी क्या व्यवस्था है वह भी देख लेना चाहिए। श्वेताम्बर आगमों में एकेन्द्रिय जीवों में केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही माना गया है। किन्तु द्वीन्द्रियादि के ऊपर के सब जीवनिकायों में सासादन गुणस्थान माना गया है। यह बात भगवती शतक ८, उद्देश २ सूत्र ३१७ के प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट हो जाती है। यह प्रकरण इस प्रकार है—

"पुढविक्काइया णं भंते किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नो नाणी, अन्नाणी। जे अन्नाणी ते नियमा दुअन्नाणी-मइअन्नाणी य सुयअन्नाणी य। एवं जाव वणस्सइकाइया। बेइंदियाणां भंते किं नाणी किं अन्नाणी? गोयमा! णाणी वि अन्नाणी वि। जे नाणी ते नियमा दुन्नाणी। तं जहा-आभिणिबोहियनाणी य सुयनाणी य। जे अन्नाणी ते नियमा दुअन्नाणी। तं जहा-आभिणिबोहिय अन्नाणी सुयअन्नाणि। एवं तेइंदिय-चउरिंदिया वि।" इत्यादि।

प्रश्न— राजगृह में भगवान् महावीर से गौतमगणधर ने प्रश्न किया— भगवन्

पृथिवीकायिक जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी?

उत्तर— हे गौतम पृथिवीकायिक जीव-ज्ञानी नहीं होते अज्ञानी ही होते हैं। और जो अज्ञानी होते हैं वे नियम से दो अज्ञानों वाले होते हैं— मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी।

इसी प्रकार अप्कायिक आदि वनस्पतिकायिक पर्यंत जीवों के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तरी समझना चाहिये। फिर प्रश्न होता है—

प्रश्न— भगवन् द्वीन्द्रिय जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी?

उत्तर— हे गौतम, द्वीन्द्रिय जीव ज्ञानों भी होते हैं और अज्ञानी भी होते हैं। जो ज्ञानी होते हैं वे नियम से दो ज्ञानों वाले होते हैं— आभिनिबोधिक ज्ञानी और श्रुतज्ञानी। जो अज्ञानी होते हैं वे नियम से दो अज्ञानों वाले होते हैं— आभिनिबोधिक अज्ञानी और श्रुतअज्ञानी।

इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तरी समझना चाहिये।'' इत्यादि

द्वीन्द्रियादिक जीवों को दो ज्ञानी वाले किस अपेक्षा से कहा यह टीकाओं में बतलाया गया है। प्रज्ञापना-टीका में कहा है—

बेइंदियस्स दो णाणा कहं लब्भंति? भण्णइ, सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो णाणा लब्भंति।

अर्थात्— 'द्वीन्द्रिय जीव के दो ज्ञान किस प्रकार पाये जा सकते हैं? इसका उत्तर कहते हैं कि सासादन सम्यक्त्व की अपेक्षा द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक जीव के दो ज्ञान पाये जाते हैं।

अभयदेवीया वृत्ति में भी कहा गया है कि—

द्विन्द्रियाः केचित् ज्ञानिनोऽपि सास्वादनसम्यग्दर्शनभावेनापर्याप्तकावस्थायां, भवन्तीत्यत उच्चते 'नाणी वि अन्नाणी वि' त्ति।

जीवाभिगम सूत्र में भी इसी प्रकार कथन पाया जाता है। इनसे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर आगमकार सासादन सम्यक्त्वी जीव का एकेन्द्रियों में उत्पन्न होना नहीं मानते, किन्तु विकलेन्द्रियों में उत्पन्न होना मानते हैं और उनकी अपर्याप्त दशा में सासादन गुणस्थान पाया भी जाता है। इसी से उनके दो ज्ञान होना भी माना गया है, जिसका विचार आगे चलकर करेंगे।

श्वेताम्बर कर्मग्रन्थ

किन्तु श्वेताम्बर कर्मग्रन्थों में आगम के विरुद्ध एकेन्द्रियों में भी सासादन गुणस्थान माना गया है। चौथे कर्मग्रन्थ की तीसरी गाथा है—

बायर-असंनि-विगले अपज्जि पढमवियसंनि अपज्जत्ते ।
अजयजुअ संनि पज्जे सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ।।

अर्थात्– अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञिपंचेन्द्रिय और अपर्याप्त विकलेन्द्रिय में पहला और दूसरा ये दो गुणस्थान पाये जाते हैं। अपर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रिय में पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान हो सकते हैं। पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रिय में सब गुणस्थानों का होना संभव है। शेष सात जीव स्थानों में, अर्थात् अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त असंज्ञि पचेन्द्रिय और पर्याप्त विकलेन्द्रिय त्रय में पहला ही गुणस्थान होता है।

यही बात उसी कर्मग्रंथ ४५वीं गाथा में भी सूचित की गयी है जहां कहा गया है कि–

सव्व जियठाण मिच्छे सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं

अर्थात्– मिथ्यात्व गुणस्थान में सब जीव स्थान होते हैं। सासादन में पांच अपर्याप्त– बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि पंचेन्द्रिय– तथा दो संज्ञी-अपर्याप्त और पर्याप्त-कुल सात जीवस्थान हैं।

यही नहीं किन्तु इस कर्मग्रंथ के कर्ता ने एक गाथा में यह भी प्रकट कर दिया है कि वे कौन कौन सी बातें हैं जो आगम सम्मत होने पर भी उक्त कर्म ग्रंथ में स्वीकार नहीं की गयीं।

सासणभावे नाणां विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं ।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगयं सुयमयं पि ।।४९।।

अर्थात् सासादन अवस्था में सम्यग्ज्ञान, वैक्रिय शरीर तथा आहारक शरीर बनाने के समय औदारिकमिश्रकाययोग और एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान का अभाव, ये तीन बातें यद्यपि आगम सम्मत हैं तथापि यहाँ उनका अधिकार नहीं स्वीकार किया गया।

श्वेताम्बर पंचसंग्रह

पंचसंग्रह के प्रथम द्वार की गाथा २८ में भी एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रिय जीवों में दो गुणस्थान स्वीकार किये गये हैं–

सुरनारएसु चत्तारि पंच तिरिएसु चोद्दस मणूसे ।
इगि-विगलेसु जुयलं सवाणि पणिंदिसु हवंति ।।

अर्थात्– देव और नारकों में प्रथम चार गुणस्थान होते हैं, तिर्यंचों में प्रथम

पाँच, मनुष्यों में चौदहों। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में दो— मिथ्यादृष्टि और सासादन-तथा पंचेन्द्रियों में सभी गुणस्थान होते हैं। किन्तु आगे की गाथा में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि एकेन्द्रियों में वायु और तेज कायिक जीवों में सासादन गुणस्थान नहीं होता—

सव्वेसु वि मिच्छो वाउ-तेउ-सुहमतिगं पमोत्तुणं ।
सासायणो उ सम्मो सन्निदुगे सेस सन्निम्मि ।।२९।।

अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान तो सभी जीव निकायों में होता है और सासादन गुणस्थान वायुकायिक और तेजकायिक तथा पृथ्वी, जल और वनस्पति इन तीन कार्यों के सूक्ष्म शरीरी जीवों को छोड़ शेष सब में होता है। इत्यादि यह व्यवस्था गोम्मटसार-कर्मकाण्ड की व्यवस्था से ठीक मिलती है।

मत-मतान्तरों का मथितार्थ

उपर्युक्त सब मत-मतान्तरों का मथितार्थ यह निकलता है कि—

(१) श्वेताम्बर आगम सासादन सम्यग्दृष्टियों का एकेन्द्रियों में होना सर्वथा नहीं मानते, किन्तु विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रियों में उनका होना मानते हैं।

(२) गोम्मटसार कर्मकाण्ड और श्वेताम्बर कर्मग्रंथ पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पति-कायिक बादर-निर्वृत्यपर्याप्तक एकेन्द्रियों तथा विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रियों में सासादन गुणस्थान मानते हैं।

(३) अमितगति कृत पंचसंग्रह में तेज और वायुकायिक जीवों को छोड़ शेष सातों अपर्याप्त जीव समासों में सासादन गुणस्थान माना है। जिससे सूक्ष्म पृथ्वी, अप्वनस्पति कायिक जीवों में भी सासादन सम्यक्त्वकी प्राप्ति का प्रसंग आता है।

(४) गोम्मटसार जीवकाण्ड तथा षट्खंडागम जीवस्थान के सत्प्ररूपणादि अधिकार में समस्त एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों में केवल एक ही गुणस्थान का विधान है, सासादन सम्यक्त्व का नहीं।

(५) सर्वार्थसिद्धिकार एकेन्द्रियों में सासादन सम्यक्त्वी जीव के उत्पन्न होने वाले मत का उल्लेख करते हैं।

(६) षट्खंडागम जीवट्ठाणकी गति-आगति चूलिका में तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के सासादन सम्यक्तियों का बादर पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने का विधान तथा विकलेद्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रियों में उत्पन्न होने का निषेध करते हैं।

(७) धवलाकार वीरसेनस्वामी एक स्थान पर एकेन्द्रियों में सासादन सम्यक्त्वी के उत्पन्न होने सम्बन्धी मत का सूत्रत्व स्वीकार कर उसको भी मानने का उपदेश देते हैं। किन्तु दूसरे स्थल पर उस मत का निषेध करते हैं। वे समस्त एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही स्वीकार करते हैं। हां, सासादन जीवों का एकेन्द्रियों में मारणान्तिक समुद्धात करना मानते हैं, किन्तु आयु क्षीण होने के साथ ही वह गुणस्थान छूट जाने से उन जीवों में सासादन भाव को नहीं मानते। और इसी युक्ति से वे सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणादि व गति-आगति चूलिका के सूत्रों में संगति बैठाते हैं।

जहां इस प्रकार का शासन-भेद हो वहां, वीरसेन स्वामी के शब्दों में, 'सत्य क्या है वह तो केवली और श्रुतकेवली ही जान सकते हैं' किन्तु यदि सर्वमान्य नियमों के भीतर युक्ति और तर्क के बल पर निर्णय किया जाय तो इस प्रकार हो सकता है— सासादन सम्यक्त्वका काल कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली प्रमाण कहा गया है। इन सीमाओं के भीतर उपशम सम्यक्त्व के काल में जिस जीव के जितना समय शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी के उदय से सासादन गुण प्रकट होता है, उतने ही काल तक वह जीव सासादन रह सकता है। अतएव यदि वह जीव उक्त काल पूर्ण होने से पहिले ही आयुक्षय से मरण करता है तो अगले भाव में उतना काल पूरा करेगा और इसलिये उतने काल तक अपर्याप्त दशा में उसके सासादन गुणस्थान पाया जायेगा। जिस जीव में निकट काल में उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करने की शक्ति हो उसके वायु और अग्निकाय तथा सूक्ष्म, साधारण व लब्ध्यपर्याप्तक जैसी अत्यन्त अशुभ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। पर जो जीव एक तरफ एकेन्द्रिय बादर काय में और दूसरी तरफ संज्ञी पंचेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकता है वह विकलेन्द्रिय व असंज्ञियों में क्यों उत्पन्न नहीं हो सकता यह कुछ समझ में नहीं आता। इस प्रकार अन्य प्रबलतर प्रमाण के अभाव में उपर्युक्त मत-मतान्तरों पर से यह मानना अनुचित न होगा कि सासादन सम्यक्त्वी जीव सूक्ष्म, साधारण व लब्ध्य-पर्याप्तक तथा वायुकायिक और अग्निकायिक जीवों में नहीं उत्पन्न होता, शेष सब में हो सकता है, और यदि आयु क्षय के साथ ही उसका सासादन सम्यक्त्वकाल समाप्त हो जाता है तो उस के नये भव में मिथ्यात्व गुणस्थान ही प्रकट होता है, अन्यथा जितना सासादन का काल शेष रहा हो उतने काल तक यह अपर्याप्त अवस्था में सासादन रहेगा।

सासादन काल में ज्ञान व अज्ञान

अब सासादन सम्यक्त्व के सम्बन्ध में मतभेद की एक और बात पर विचार कर लेना उचित है। ऊपर श्वेताम्बर आगम भगवती सूत्र से जो अवतरण दिया गया है उसमें सासादन जीव के मति व श्रुतज्ञान को अज्ञान न कहकर सद्ज्ञान माना है। किन्तु श्वेताम्बर कर्मग्रंथों तथा समस्त दिगम्बर साहित्य में सासादन सम्यक्त्वी जीव के ज्ञान को मिथ्या ज्ञान ही माना है। इस सम्बन्ध के अवतरण देने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि किसी भी ग्रंथ में जहाँ मार्गणा स्थानों और गुणस्थानों की परस्पर योजना की गई है वहां देखा जा सकता है कि सासादन सम्यक्त्व के साथ मति-श्रुतअज्ञान का ही सम्बन्ध बतलाया गया है। षट्खंडागम के जीवट्ठाण की सत्प्ररूपणा के सूत्र ११६ में इस विषय का प्रतिपादन किया गया है जो इस प्रकार है—

मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइंदियप्पहुडि जाव सासणसम्माइट्ठि त्ति।

इस सूत्र की टीका धवलाकार ने इस प्रकार से की है जैसे उन्हें सासादन में सद्ज्ञान मानने वाले मत का ध्यान रहा हो। वे लिखते हैं—

मिथ्यादृष्टेः द्वेऽप्यज्ञाने भवतां नाम, तत्र मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वात्। मिथ्यात्वोदयस्यासत्वात्र सासादने तयोः सत्त्वमिति? न, मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः, सच मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते। समस्ति च सासादनस्यानन्तानुबन्ध्युदय इति।

शंका— मतिअज्ञान और श्रुताज्ञान ये दोनों अज्ञान मिथ्यादृष्टि जीव के भले ही हों, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व का उदय विद्यमान रहता है। किन्तु सासादन जीव के तो मिथ्यात्व का उदय रहता ही नहीं है, अतएव सासादन जीव के उक्त दोनों अज्ञान रूप नहीं होना चाहिये?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व विपरीताभिनिवेश का ही नाम है, और यह विपरीताभिनिवेश मिथ्यात्व से भी उत्पन्न होता है और अनन्तानुबन्धी से भी उत्पन्न होता है और चूंकि सासादन जीव के अनन्तानुबन्धी का उदय हो ही जाता है, अतएव उसके ज्ञान को अज्ञान ही कहना चाहिये।

किन्तु यह समाधान सर्वथा सन्तोषजनक नहीं हुआ। यदि विपरीताभिनिवेश का ही नाम मिथ्यात्व है और वह विपरीताभिनिवेश सासादन जीव के अनन्तानुबन्धी के उदय से हो जाता है तो फिर उस जीव को सम्यक्त्वी न कहकर मिथ्यात्वी ही कहना चाहिये। सम्प्ररूपण सूत्र १० की टीका में धवलाकारने कहा है कि

विपरीताभिनिवेशदूषितस्य तस्य कथं सम्यग्दृष्टित्वमिति चेन्न, भूतपूर्वगत्या तस्य तद्व्यपदेशोपपत्तेः।

अर्थात– यद्यपि सासादन गुणस्थान में जीव विपरीताभिनिवेश से दूषित हो जाता है, फिर भी उसे भूतपूर्वन्याय से सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यदि यही बात है तो उसी न्याय से उसकी मति और श्रुति को भी ज्ञानरूप मानना कोई अनुचित नहीं। नामों में एकरूपता की दृष्टि भी वैसा मानना अयुक्तिसंगत नहीं है। आखिर यहाँ ज्ञान और अज्ञान में कोई आन्तरिक भेद तो होता नहीं है। वही ज्ञान सम्यक्त्व के सद्भाव में सद्ज्ञान और मिथ्यात्व के सद्भाव में मिथ्याज्ञान कहा जाता है।

श्वेताम्बर आगम का यह दृष्टिकोण निम्म अवतरण से स्पष्ट हो जाता है। भगवती शतक १ उद्देश ५ के सूत्र ४६ की टीका करते हुए अभयदेव कहते हैं–

ननु पृथिव्यम्वुवनस्पतीनां दृष्टिद्वारै सास्वादभावेन सम्यक्त्वं कमग्रंथेष्वभ्युपगम्यते, तत एव च ज्ञानद्वारे मतिज्ञानं श्रुतज्ञा नंच X X नैवं पृथिव्यादिषु सास्वादनभावस्यात्यन्त विरलत्वे नाविवज्ञित्वात्, तत एवोच्यते उभयाभावो पुढवाइएसु विगलेसु होज्ज उववण्णो।

अर्थात्– यहाँ प्रश्न हो सकता है कि कर्मग्रंथों में दर्शनद्वार में पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के सासादन भाव से सम्यक्त्व स्वीकार किया गया है जिसके अनुसार ज्ञानद्वार में उक्त पृथिवीकायिक आदि में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी मानना चाहिये, इसका उत्तर यह है कि वैसा माना नहीं है, क्योंकि पृथिवीकायादि एकेन्द्रिय जीवों में सासादन भाव अत्यन्त विरल रूप में पाये जाने से उसकी विवक्षा नहीं की गई और इसीलिये कहा गया है कि 'पृथिवीकायादि में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों का अभाव है तथा विकलेन्द्रियों में उनका सद्भाव मानना उचित है।'

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सासादन गुण को सम्यक्त्व रूप ही स्वीकार किया है और सासादनों के ज्ञान को पृथिवीकायादि में केवल इसीलिये सद्ज्ञान रूप स्वीकार नहीं किया क्योंकि उनमें सासादनभाव इतना कम पाया जाता है कि सामान्य कथन में उसकी विवक्षा नहीं की जाती।

सासादन संज्ञा की निरुक्ति

सासादन जीव के ज्ञान को सत् व असत् मानने में भेद का एक और कारण भी हो सकता है और वह यह कि सासादन के स्वरूप के संबंध में यद्यपि यथार्थतः कहीं कोई भारी मतभेद नहीं है तो भी सासादन संज्ञा का अर्थ

भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया पाया जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में इस नाम की जो सार्थकता प्रचलित है वह धवलाकार के शब्द में इस प्रकार है—

आसादनं सम्यक्त्वविरोधनम्। सह आसादनेन वर्तते इति सासादनो विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते। (सत्प्ररूपणा १, १० टीका)

अर्थात्— आसादन का अर्थ सम्यक्त्व का विनाश। इस विनाश से सहित जो जीव होता है वह सासादन है। जिस जीवने सम्यग्दर्शन का विनाश कर डाला है, किन्तु अभी भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न परिणामों को प्राप्त नहीं किया है, पर मिथ्यात्व के अभिमुख है वह सासादन कहा जाता है।

इस अर्थ में सम्यक्त्व के विनाश पर जोर दिया गया है और सासादन संज्ञा की सार्थकता भी इसी पर निर्भर की गयी है। अतः सम्यक्त्व के विनाश पर जोर होने के कारण उस जीव के ज्ञान में भी सद्भाव के विनाश पर ज़ोर देकर उसे असद्ज्ञान मानना स्वाभाविक है।

किन्तु सासादन प्राकृत रूप का एक संस्कृत रूपान्तर सास्वादन भी किया जाता है और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह संज्ञा विशेष रूप से प्रचलित है। इसकी सार्थकता पंचसंग्रह टीकाकार ने इस प्रकार बतलायी है—

सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमिति वा पाठः। तत्रायं शब्दार्थः— सह सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्त्तते इति सास्वादनः। यथा हि भुक्तक्षीरान्न विषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति, तथैषाऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमन् तद्रसमात्वादयति। ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च स सास्वादनसम्यग्दृष्टिः तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। (पंचसंग्रह १, पृ० १८)

अर्थात्— सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान की जगह सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, ऐसा पाठ भी पाया जाता है। इस पाठ का शब्दार्थ इस प्रकार है— जो जीव सम्यक्त्वलक्षण रसके आस्वादन सहित है, अर्थात् सम्यक्त्वका रस अभी भी चख रहा है, वह सास्वादन है। जैसे कोई पुरुष क्षीरभोजन कर लेने के पश्चात् व्याकुल चित्त होकर उसका वमन करने लगता है और वमनकाल में भी उस क्षीरान्न का स्वाद पाता है, इसी प्रकार जीव सम्यक्त्व पाकर भी व्याकुल चित्त हो सम्यक्त्व का वमन करता हुआ उसके रस का आस्वादन करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि है और उसके गुण स्थान को सास्वादन गुणस्थान कहते हैं।

द्वितीय गुणस्थान के नाम की इस व्युत्पत्ति में सम्यक्त्व के स्वाद पर जोर

दिया गया है और उसी पर उस संज्ञा की सार्थकता अवलम्बित की गई है। अतएव इस दृष्टिकोण से सासादन जीव में सम्यक्त्व के स्वाद की सत्ता को स्वीकार करते हुए उसके ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाय तो कोई विरोध नहीं आता। इस प्रकार सासादन के ज्ञान को मिथ्याज्ञान या सम्यग्ज्ञान मानने वाला मतभेद सासादनसंज्ञा की सार्थकता सम्बन्धी मतभेद या दृष्टिकोण भेद पर अवलम्बित हो तो आश्चर्य नहीं।

सासादन गुणस्थान में आहारक प्रकृति की सत्ता

कर्मकाड की गाथा ३३३ में बतलाया गया है कि सासादनगुणस्थान में आहारक प्रकृति की सत्ता नहीं हो सकती—

तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिए।

किन्तु आगे गाथा ३७२-३७३ में कहा गया है कि सासादन गुणस्थान में कोई तीन प्रकृतियाँ हीन मानते हैं। अर्थात् किसी के मत से उस गुणस्थान में आहारकादि चार प्रकृतियाँ हो सकती हैं और किसी के मत से नहीं हो सकती—

सत्ततिगं आसाणे मिस्से तिगसत्तसत्तएयारा।
परिहीण सव्वसत्तं बद्धस्सियरस्स एगूणं।।
तित्थाहारचउक्कं अण्णदराउगदुगं च सत्तेदे।
हारचउक्कं वज्जिय त्तिण्णि य केइं समुद्दिट्ठं।।

इस प्रकार कर्मकाण्डकार के निजी मतानुसार तो सासादन गुणस्थान में आहारक प्रकृति को सत्ता होती ही नहीं है। अर्थात् जिस जीव में आहारक प्रकृतिका बन्ध कर लिया है वह सासादन गुणस्थान में जा ही नहीं सकता। किन्तु कर्मकाण्डकार को एक ऐसे मत का भी परिचय है जिसके अनुसार सासादन गुणस्थानवर्ती जीव आहारक सत्ता वाला हो सकता है। यह मत हमें श्वेताम्बर कर्मग्रंथों में मिलता है। कर्मप्रकृति की गाथा ९ में कहा गया है कि आहारक प्रकृति की सत्ता सभी स्थानों में विकल्प से हो सकती है—

आहारग-तित्थयरा भज्जा दुसु णत्थि तित्थयरं।

यही बात पंचसंग्रह की गाथा ३४८ में भी कही गयी है—

सव्वाण वि आहारं सासण-मीसेयराण पुण तित्थं।
अभये संति न मिच्छे तित्थगरे अंतरमुहुत्तं।।

पंचम कर्मग्रन्थ 'शतक' की गाथा १२ में भी यही मत स्थापित किया गया है—

आहारसत्तगवासव्वुणे बितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसंते मिच्छो अंतमुहुत्तं भवे तित्थे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक मत के अनुसार आहारक प्रकृति की सत्ता वाला जीव सासादन गुणस्थान में जा सकता है और दूसरे मत के अनुसार नहीं जा सकता। यदि यहाँ भी युक्ति के बल पर विवेक किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि चूंकि आहारक प्रकृति का बन्ध केवल विशेष संयमी जीव ही कर सकते हैं, अतएव जिस मत के अनुसार उपशमश्रेणी से उतरा हुआ जीव सासादन हो सकता है उस मत के अनुसार तो सासादन गुणस्थान में आहारक प्रकृति की सत्ता संभव मानी जा सकती है। किन्तु जिस मत से उपशमश्रेणी वाला जीव सासादन नहीं हो सकता उस मत के अनुसार सासादन गुणस्थान में आहारक प्रकृति की सत्ता भी नहीं मानी जा सकती।

(श्री गुणधराचार्योपदिष्ट कषायप्राभृतस्य यति वृषभाचार्य कृत चूर्णि सूत्रस्य च)

वीरसेनविरचित जयधवला टीका

रचना का इतिहास

धवला और जयधवला दोनों ग्रंथों का स्थान जैन साहित्य में अद्वितीय है क्योंकि इनका सम्बन्ध सीधा महावीर भगवान् की द्वादशांग वाणी से है। महावीर स्वामी के उपदेश को उनके प्रमुख गणधर गौतम इन्द्रभूति ने बारह अंगों में रचा। बारहवें अंग का नाम दृष्टिवाद था। इस दृष्टिवाद के पांच भेद थे, जिनमें से चौथे भेद, पूर्वगत के चौदह विभाग थे। अग्रायणी नामक दूसरे पूर्व के चौदह 'वस्तु' अर्थात् अधिकारों में से पांचवें वस्तु के महाकर्म नामक चतुर्थ पाहुड का श्री धरसेनाचार्य ने भूतबलि और पुष्पदन्त नामक शिष्यों द्वारा उद्धार कराया और इसी के ऊपर वीरसेनाचार्य द्वारा वह धवला टीका निर्माण हुई जो धवल के नाम से प्रसिद्ध है। पांचवें विभाग का नाम ज्ञानप्रवाद था जिसमें बारह 'वस्तु' (अध्याय), और प्रत्येक वस्तु में बीस-बीस पाहुड थे। इसी के दशम वस्तु के तीसरे पाहुड का नाम 'पेज्ज' या 'पेज्जदोष' पाहुड था। इसी पेज्जपाहुड से कषायपाहुड की उत्पत्ति हुई। महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् एक सौ वर्ष में पांच श्रुतकेवली हुए जिन्हें समस्त द्वादशांग का ज्ञान था। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् यह श्रुतज्ञान लुप्त होने लगा। उनके पीछे १७३ वर्ष में ग्यारह आचार्य ऐसे हुए जिन्हें केवल ग्यारह अंग और दश पूर्वों का ज्ञान था। अन्तिम चार पूर्व लुप्त हो गये थे। इसी से ये आचार्य दशपूर्वी कहलाये। पूर्वों का ज्ञान बराबर लुप्त होता ही गया और दशपूर्वियों के पश्चात् २२० वर्ष में जो पांच आचार्य हुए उन्हें ग्यारह अंग

तथा पूर्वों के किसी एक देश का ज्ञान था। इसके पश्चात् आचारांग को छोड़ शेष अंगों का विस्मरण हो गया। ११८ वर्ष में जो चार आचार्य हुए उन्हें केवल प्रथम आचारांग मात्र का तथा पूर्वों के एकदेश का ज्ञान रहा। इसके पश्चात् आचारांग का भी लोप हो गया और आचार्यों को केवल पूर्वों के किसी एक-एक खंड मात्र का ज्ञान रह गया। इस प्रकार महावीर भगवान् के निर्वाण से ६११ वर्ष पश्चात् द्वादशांग का एक प्रकार से लोप हो गया। बचे हुए एकदेश पूर्व-ज्ञाताओं की परम्परा में गुणधर आचार्य हुए जिन्होंने लुप्त होते हुए श्रुतज्ञान को बचाने की अभिलाषा से पेज्जपाहुड के सोलह हजार पदों को एक सौ अस्सी गाथाओं में संक्षिप्त करके कषायपाहुड की रचना की। ये कषायपाहुड की सूत्र गाथाएँ आचार्य परम्परा से आर्यमंखु और नागहस्ती नामक दो आचार्यों को प्राप्त हुईं। इन्हीं दोनों से यतिवृषभाचार्य ने उन गाथाओं को सीखकर उनपर चूर्णिसूत्र रचे। ये गाथासूत्र और चूर्णिसूत्र बहुत संक्षिप्त अतएव दुर्बोध थे, अतः इन पर आचार्य वीरसेन ने एक विस्तृत टीका लिखी जिसका नाम उन्होंने जयधवला टीका रखा। इसी कारण यह सिद्धान्तशास्त्र संक्षेप में जयधवल के नाम से प्रख्यात है। वीरसेन की बनाई हुई होने के कारण वह वीरसेनीय टीका भी कहलाती है। वीरसेन स्वामी इस टीका को पूरी न कर पाये। अतएव उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्य ने उसे शक ७५९ (विक्रम संवत् ८९५) में समाप्त की। यह इस जयधवल सिद्धान्त ग्रंथ का संक्षिप्त इतिहास है। दुर्भाग्यतः उपलब्ध जैन पट्टावलियों आदि से गाथासूत्रों के कर्ता गुणधराचार्य तथा चूर्णिसूत्र के कर्ता यतिवृषभाचार्य के समय का ठीक निर्णय नहीं होता। अतएव उनके समय के विषय में इतना ही कह सकते हैं कि वे वीर निर्वाण संवत् ६११ (विक्रम संवत् ५४) के पश्चात् और वि. सं. ८९५ से पूर्व किसी समय हुए होंगे। पर इतना तो निश्चित है कि गुणधराचार्य की गाथाओं में तीर्थंकर भगवान् की द्वादशांग वाणी का एक अंश सुरक्षित है।

जयधवलाटीका

(मूल, संस्कृत छाया और भाषानुवाद)

जयइ धवलंग-तेयेणाऊरिय-सयल-भुवण-भवेण-गणो
केवल-णाण-सरीरो अणंजणो णामओ चंदो ।।१।।
तित्थयरा चउवीस वि केवलणाणेण दिट्ठ-सव्वट्ठा ।
पसियंतु सिवसरूवा तिहुवण-सिर-सेहरा मज्झं ।।२।।

सो जयइ जस्स केवल-णाणुज्जल-दप्पणम्मि लोयालोयं ।
पुढ पदिबिंबं दीसइ वियसिय-सयवत्तं-गब्भ-गउरो वीरो ।।३।।

जयति धवलाङ्गतजसापूरित-सकल-भुवन-भवन-गणः ।
केवल-ज्ञान-शरीरीऽनञ्जनो नामकश्चन्द्रः ।।१।।

तीर्थंकराश्चतुर्विंशतिरपि केवल-ज्ञानेन दृष्टसर्वार्थाः ।
प्रसीदन्तु शिवस्वरूपास्त्रिभुवनाशिरःशेखरा मह्यम् ।।२।।

सो जयति यस्य केवल-ज्ञानोज्वल-दर्पणे लोकालोकम् ।
पृथक् प्रतिबिम्बं दृश्यते विकसित-शतपत्र-गर्भ-गौरो वीरः ।।३।।

जिसने अपने धवल अंग के तेज से सकल भुवन रूपी भवनों के समूह को परिपूरित कर दिया है उस केवलज्ञान रूपी शरीर के धारक अनञ्जन नामक चंद्र की जय है ।।१।।

और जिन्होंने केवलज्ञान द्वारा सब पदार्थों को देख लिया है, जो शिवस्वरूप और त्रिभुवन के शिर के शिखर हैं, वे चौबीस तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न होयें ।।२।।

जिनके केवलज्ञान रूपी उज्वल दर्पण में लोकालोक पृथक्-पृथक् प्रतिबिम्बित होते हैं, उन फूले हुए कमल के अंतरंग समान, गौर वर्ण, वीर भगवान की जय है ।।३।।

---

१ आदर्श प्रति मे 'नभण' पाठ है।

अंगंग-वज्झणिम्मि अणाइ-मज्झंत-णिम्मलंगाए ।
अंसुय-देवय-अबाए णमो सया चक्खुमइयाए ।। ४ ।।

णमह गुण-रयण-भरियं सुअणाणामिय-जलोह-गहिरमपारं ।
गणहर-देव-महोवहिमणेय णय-भंग-भंगि-तुंग-तरंगं ।। ५ ।।

जेणिह कसाय-पाहुडमणेय-णयमुज्जलं अणंतत्थं ।
गाहाहि विवरियं तं गुणहर-वि भडारयं वंदे ।। ६ ।।

गुणहर-वयण-विणिग्गय-गाहाणत्थोवहारिओ सव्वो ।
जेमज्जमंखुणा सो स णागहत्थी वरं देऊ ।। ७ ।।

अङ्गाङ्गबाह्ये अनादि-मध्यान्त-निर्मलाङ्ग्यै ।
श्रुत-देवताम्बायै नमः सदा चक्षुमय्यै ।। ४ ।।

नमत गुण-रत्न-भरितं श्रुत-ज्ञानामृत-जलौघ-गभीरमपारम् ।
गणधर-देव-महोदधिमनेक-नय-भंग-भंगि-तुंग-तुरंगम् ।। ५ ।।

येनेह कषायप्राभृतमनेकनयमुज्वलमनन्तार्थम् ।
गाथाभिर्विवृतं तं गुणधर-विमपि भट्टारकं वन्दे ।। ६ ।।

गुणधर-वदन-विनिर्गत-गाथानामर्थोऽवहारितः सर्वः ।
यथार्यमंक्षुनाऽसौ स नागहस्ती वरं ददातु ।। ७ ।।

जो अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप में आदि, अंत और मध्य रहित, निर्मलांगी है उस सदा चक्षुष्मती श्रुतदेवी रूपी अम्बा को नमस्कार है।

जो गुण रूपी रत्नों से भरे हैं, श्रुतज्ञान रूपी अमृतजल के समूह से गम्भीर और अपार हैं, तथा अनेक नय-भंग-भंगि रूपी बड़ी-बड़ी तरंगों से युक्त हैं, ऐसे गणधर देव रूपी महोदधि को नमस्कार करो ।। ५ ।।

जिन्होंने अनेक नयों से युक्त, उज्वल, अनन्तार्थ, कषाय-प्राभृत का गाथाओं में विवरण किया है उन गुणधर भट्टारक की भी मैं वन्दना करता हूं ।। ६ ।।

जिन्होंने, आर्यमंक्षु के समान, गुणधर के मुख से निकली हुई गाथाओं का सब अर्थ ले लिया है, वे नागहस्ती मुझे वरदान देवें ।। ७।।

जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।
सो वित्ति-सुत्त-कत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ।।८।।

णामप्पवादामल-दसम-वत्थु-तदिय-कसाय-पाहुड-वहि-जल-णिवह-पक्खालिय-मयि-लोयण-कलाव-पञ्चक्खीकय-तिहुवणेण तिहुवण-परिपालएण गुणहर-भडारएण गाहासुत्ताणमादीये जयिवसहत्थेरेण वि चुण्णिसुत्तस्य आदीए मंगलं किण्ण कयं? ण एस दोसो। मंगलं हि करिदे पारद्ध कज्ज-विग्घयर-कम्म-विणासणट्ठं। तं च परमागमुवजोगादो चेव णस्सदि। ण चेदमसिद्धं। सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो। उत्तं च-

---

य आर्यमंक्षुष्यिोऽन्तेवास्यपि नागहस्तिनः ।
स वृत्तिसूत्रकर्ता यतिवृषभो मे वरं ददातु ।।८।।

ज्ञानप्रवादामल-दशम-वस्तु तृतीय कषायप्राभृतोदधि-जल-निवह-प्रक्षालित-मतिज्ञान-लोचन-कलाप-प्रत्यक्षीकृत-त्रिभुवनेन त्रिभुवन-परिपालकेन गुणधरभट्टारकेन गाथासूत्राणामादौ यतिवृषभ-स्थविरेणापि चूर्णिसूत्रस्यादौ मंगलं किं न कृतं? नैष दोषः। मंगलं हि क्रियते प्रारब्ध-कार्य-विघ्नकर-कर्म-विनाशनार्थम्। तच्च परमागमोपयोगादेव नश्यपति। न चेदमसिद्धम्। शुभ-शुद्ध-परिणामैः कर्म-क्षयाभावे तत्क्षयानुपपत्तेः। उक्तं च—

जो आर्यमंक्षु के शिष्य तथा नागहस्ती के अन्तेवासी थे वे वृत्ति-सूत्र के कर्ता यतिवृषभ मुझे वरदान देवें ।।७।।

ज्ञानप्रवाद की शुद्ध दशम वस्तु के तृतीय कषायप्राभृत रूपी उदधि के जलप्रवाह से प्रक्षालित मतिज्ञान रूप लोचनसमूह से जिन्होंने त्रिभुवन को प्रत्यक्ष कर लिया है, और जो त्रिभुवन के परिपालक हैं, ऐसे गुणधर भट्टारक ने गाथासूत्रों के आदि में, तथा यतिवृषभी स्थविर ने भी चूर्णिसूत्र के आदि में मंगल क्यों नहीं किया! यह कोई दोष नहीं है। मंगल तो प्रारब्ध कार्य में विघ्न करने वाले कर्म के विनाश के लिये किया जाता है। सो वह परमागम (उत्तम शास्त्र) में उपयोग से ही नष्ट हो जाता है। यह कोई असिद्ध बात नहीं है। शुभ और शुद्ध परिणामों से यदि कर्मों का क्षय न होगा तो उनका क्षय कभी होगा ही नहीं। कहा भी है—

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा ।
भावो दु पारिणमिओ करणोभयवज्जिओ होई ।।१।।

ण च कम्मक्खये संते पारुद्ध-कज्ज-विग्घस्स विज्जाफलाणुववत्तीए वा संभवो विरोहादो। ण च सद्दाणुसारि-सिस्साणं देवदा-विसय-भत्ति-समुप्पायणट्ठं तं कीरदे तेण विणा वि परूवणादो चेव तेसिं तदुप्पत्तिदंसणादो। ण च पमाणाणुसारि-सिस्साणं तदुप्पायणट्ठं कीरदे, जुत्तिविरहिय-गुरुवयणादो पयट्टमाणस्स पमाणाणुसारित्त-विरोहादो। ण च भत्तिमंतेसु भत्ति-समुप्पायणं संभवदि णिप्पण्णस्स णिप्पत्ति-विरोहादो।

औदयिका बंधकरा उपशम-क्षय-मिश्रकाश्च मोक्षकराः ।
भावस्तु पारिणामिकः करणोभयवर्जितो भवति ।।१।।

न च कर्मक्षये सति प्रारब्धकार्य-विघ्नस्य विद्याफलानुपपत्या वा संभवो विरोधात्। न च शब्दानुसारि-शिष्याणां देवता-विषय-भक्ति-समुत्पादनार्थं तत्क्रियते, तेन विनापि प्ररूपणाच्चैव तेषां तदुत्पत्तिदर्शनात्। न च प्रमाणानुसारिशिष्याणां तदुत्पादनार्थं क्रियते युक्ति-विरहित-गुरु-वचनात्प्रवर्तमानस्य प्रमाणानुसारित्व-विरोधात्। न च भक्तिमत्सु भक्ति-समुत्पादनं संभवति निष्पन्नस्य निष्पत्ति-विरोधात्।

औदयिक भाव बंध के कारण है, उपशम, क्षय, और मिश्र, मोक्ष के कारण हैं, तथा पारिणामिक भाव दोनों कारणों से रहित हैं और कर्मक्षय हो जाने पर प्रारम्भ किये हुए कार्य में विघ्न या विद्याफल की अनुत्पति की सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि यह तो विरोध हो जायगा और न शब्दानुसारी शिष्यों की देवता-विषयक भक्ति उत्पन्न करने के लिये मंगल किया जाता, क्योंकि बिना मंगल किये भी प्ररूपण मात्र से ही उनमें वह उत्पन्न होती हुई देखी जाती है और न प्रमाणानुसारी शिष्यों में उसे उत्पन्न करने के लिये मंगल किया जाता है, क्योंकि युक्ति से रहित गुरु के वचनमात्र से प्रवृत्त होने वाले के प्रमाणानुसारी होने से विरोध पड़ जायगा। और भक्तिवानों में भक्ति उत्पन्न होने की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि निष्पन्न की निष्पत्ति विरोधात्मक है।

ण च सिस्सेसु सम्मत्तत्थित्तमसिद्धं अहेदु-दिट्ठिवाद-सुणणस्सण्णहा-णुववत्तीदो तेसिं तदत्थित्तसिद्धीदो। ण च लाह-पूजा-सक्कारे पडुच्च सुणण-किरियाए वापदसिस्सेहि वियहिचारो, सम्मत्तेण बिना सुणंताणं दव्वसवणं मोत्तूण भाव-सवणाभावादो। ण च दव्वसवणे एत्थ पओजणमत्थि, तत्तो अप्पाण-णिराकरणदुवारेण कम्मक्खय-णिमित्त सण्णाणुप्पत्तीए अभावादो। तदो एवंविह-सुद्धणयाहिप्पायेण गुणहर-जयिवसहेहि ण मंगलं कदं ति दट्ठव्वं। ववहारणयं पडुच्च पुण गोदमसामिणा चउवीसण्हमणियोगद्दाराणमादीए मंगलं कदं ण च ववहारणओ पब्बलो।

न च शिष्येषु सम्यक्तवास्तित्त्वमसिद्धमहेतु-दृष्टिवाद-श्रवणस्यान्यथानु-पपत्तित:तेषां तदस्तित्वसिद्धेः। न च लाभ-पूजा-सत्कारे प्रतीत्य श्रवण-क्रियायां व्यापृतशिष्यै र्व्यभिचारः सम्यक्तवेन विना शृण्वतां द्रव्यश्रवणं मुक्त्वा भाव-श्रवणाभावात्। न च द्रव्यश्रवणेऽत्र प्रयोजनमस्ति, तत आत्म-निराकरणद्वारेण कर्मक्षयनिमित्तसद्ज्ञानोत्पत्तेरभावात्। तत एवंविध-शुद्धनयाभि-प्रायेण गुणधर-यति-वृषभाभ्यां न मंगलं कृतमिति दृष्टव्यम्। व्यवहारनयं प्रतीत्य पुनः गौतमस्वामिना चतुर्विंशतेरनुयोगद्वाराणामादौ मंगलं कृतं, न च व्यवहारनयः प्रबल।

और शिष्यों में सम्यक्त्व की अस्तित्व भी असिद्ध नहीं है क्योंकि इसके बिना हेतु रहित दृष्टिवाद के श्रवण की उपपत्ति नहीं हो सकती, और इसलिये उनमें भक्ति का अस्तित्व सिद्ध है। और न लाभ, पूजा व सत्कार की प्रतीति से श्रवण क्रिया में संलग्न शिष्यों का यहां व्यभिचार है क्योंकि सम्यक्त्व के बिना सुनने वालों में द्रव्य श्रवण को छोड़कर भाव श्रवण का अभाव होगा। और न द्रव्यश्रवण से यहां प्रयोजन है,. क्योंकि उससे आत्म के निराकरण द्वारा कर्मक्षय के निमित्तभूत सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः इस प्रकार शुद्ध नय के अभिप्राय से गुणधर और यतिवृषभ आचार्य ने मंगल नहीं किया, ऐसा समझना चाहिये। व्यवहार नय की अपेक्षा से ही गौतम स्वामी ने चौबीस अनुयोग द्वारों के आदि में मंगल किया है, तथापि व्यवहार नय प्रबल नहीं है।

---

१ आदर्श प्रेति में 'वदं' पाठ है। २ आदर्श प्रति में 'चप्पलओ' पाठ है।

तत्तो सेसाण पउत्तिदंसणादो जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं। पुण्ण-कम्म-बंधत्थीणं देसव्वयाणं मगलकरणं जुत्तं ण गुणणी कम्मक्खय-कंक्खुवाणमिदि ण वोत्तुं जुत्तं पुण्ण-बंधहेउत्तं पडि विसेसाभावादो मंगलस्सेव सराग-संजमस्स विपरिच्चागप्पसंगादो।

ण च संजम प्पसंग-भावेण णिव्वुइ-गमणाभाव-प्पसंगादो सराग-संजमो? गुण-सेडि णिज्जराए कारणं तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्ज-गुणो त्ति सराग-संजमे मुणीणं वट्टणं जुत्तमिदि ण पच्चवट्ठाणं कायव्वं। अरहंत-णमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्ज-गुण-कम्म-क्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं

ततः शेषाणां प्रवृत्तिदर्शनाद् यो बहुजीवानुग्रहकारी व्यवहारनयः स चैव समाश्रितत्व इति मनसावधार्य गौतम-स्थविरेण मंगलं तत्र कृतम्। पुण्य-कर्म-बंधार्थिनां देशव्रतीनां मंगलकरणं युक्तं, न गुणीनां कर्मक्षयकांक्षिणा-मिति न वक्तुं युक्तं पुण्य-बंध-हेतुत्वं प्रति विशेषाभावाद् मंगलस्यैव सराग-संयमस्य विपरित्याग-प्रसंगात्।

न च संयम-प्रसङ्ग-भावने निवृति-गमनाभाव-प्रसङ्गात् सराग-संयमो गुणश्रेणी-निर्जरायाः कारणं, तेन बंधाद् मोक्षोऽसंख्येयगुण इति सराग-संयमे मुनीनां वर्तनं युक्तमिति न प्रत्यवस्थानं कर्तव्यम्। अर्हन्नमस्कारः साम्प्रतिकबंधादसंख्येय-गुण-कर्म-क्षय-कारक इति तत्रापि मुनीनां—

इनसे जो शेष (इतर) हैं उनकी प्रवृत्ति को देखकर, जो बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला व्यवहार नय है उसका आश्रय लेना चाहिये, ऐसा मन में विचार कर गौतम स्थविर ने वहां मंगल किया। 'जो पुण्य कर्मबंध के अभिलाषी देशव्रती (श्रावक) हैं उन्हें मंगल करना उचित है, कर्मक्षय की आकांक्षा रखनेवाले गुणी (मुनियों) को नहीं' ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि पुण्यबंध के हेतुत्व के प्रति उन्हें कोई विशेष भाव नहीं है, तथा इससे तो जो मंगल सरागसंयम है उसके ही सर्वथा त्याग का प्रसङ्ग आयेगा।

और संयमप्रसंग के भाव में निर्वाणगमन के अभाव का प्रसंग नहीं हो सकता। सरागसंयम गुणश्रेणी-निर्जरा का कारण है और बंध से मोक्ष असंख्येय गुणा (अधिक उत्तम) है, इसी से सराग संयम में मुनियों का वर्तना योग्य है। अतः (मंगल का) प्रत्यवस्थान अर्थात् निराकरण नहीं करना चाहिये। अरहंत का नमस्कार साम्प्रतिक बंध से असंख्येय गुणा कर्मक्षयकारक है इससे उसमें भी मुनियों की

पवुत्ति-प्पसंगादो। उत्तं च—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुःखमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ।।२।।

तेण सोवण-भोयण-पयाण पच्चावण-सत्थ-पारंभादि-किरियासु णियमेण अरहंतणमोक्कारो कायव्वो त्ति सिद्धं।

ववहारणयमस्सिदूण गुणहर-भडारयस्स पुण एसो अहिप्पाओ, जहा, कीरउ अण्णत्थ सव्वत्थ णियमेण अरहंत-णमोक्कारो मंगल-फलस्स पारद्धकिरियाए अणुवलंभादो। एत्थ पुण णियमो णत्थि। परमागमुवजोगम्मि णियमेण मंगलफलोवलंभादो।

प्रवृत्ति-प्रसंगात्। उक्तं च—

अर्हन्नमस्कारं भावेन च यः करोति प्रकटमतिः।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ।।२।।

तेन स्वपन-भोजन-प्रयाण-प्रत्यापन-शास्त्र-प्रारम्भादि-क्रियासु नियमेन अर्हन्नमस्कारः कर्तव्य इति सिद्धम्।

व्यवहारनयमाश्रित्य गुणधरभट्टारकस्य पुन एष अभिप्रायो, यथा, क्रियतामन्यत्र सर्वत्र नियमेन अर्हन्नमस्कारो मङ्गलफलस्य प्रारब्धक्रियायामनुपलम्भात्। अत्र पुनर्नियमो नास्ति। परमागमोपयोगे नियमेन मङ्गलफलोपलम्भात्।

प्रवृत्ति का प्रसंग आता है। कहा भी है-जो प्रकटमति भावसहित अरहंत को नमस्कार करता है वह थोड़े काल में ही सब दुःखों से मोक्ष पा लेता है। इसलिये शयन, भोजन, प्रयाण, प्रत्यापन और शास्त्रप्रारंभादि क्रियाओं में नियम से अरहंत को नमस्कार करना चाहिये, यह सिद्ध हुआ।

व्यवहार नय का आश्रय लेकर गुणधर भट्टारक का यह अभिप्राय है कि अन्यत्र सब कहीं नियम से अरहंत का नमस्कार भले ही करें, क्योंकि उसके बिना प्रारम्भ की हुई क्रिया में मंगलफल की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु यहां इसका कोई नियम नहीं है, क्योंकि परमागम के उपयोग में नियम से मंगलफल की प्राप्ति होती ही है।

एदस्स अत्थविसेसस्स जाणावणट्ठं गुणहर-भडारएण गंथस्सादीए ण मंगलं कयं।

संपहि एदस्स गंथस्स संबंधादि-परूवणट्ठं गाहासुत्तमागयं—

पुव्वम्मि पंजमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिये ।
पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ।।१।।

संपहि एदिस्से गाहाए अत्थो वुच्चदे। तं जहा। अत्थि पुव्वसद्दो दिसावाचओ जहा पुव्वं गामं गदो त्ति। तहा कारणवाचओ वि अत्थि मइपुव्वं सुदमिदि। तहा सत्थवाचओ वि अत्थि जहा चोद्दसपुव्वहरो भद्दबाहु त्ति। पयरण-वसेण एत्थ सत्थवाचओ घेत्तव्वो। पुव्वम्मि त्ति वयणेण

एतस्यार्थविशेषस्य ज्ञापनार्थं गुणधरभट्टारकेन ग्रन्थस्यादौ न मङ्गलं कृतम्। सम्प्रत्येतस्य ग्रन्थस्य सम्बन्धादि-प्ररूपणार्थं गाथासूत्रमागतं—

पूर्वे पञ्चमे तु दशमे वस्तुनि प्राभृते तृतीये ।
पेज्जमिति प्राभृते तु भवति कषायाणां प्राभृतं नाम ।।२।।

सम्प्रत्येतस्या गाथाया अर्थ उच्यते। तद्यथा-अस्ति पूर्वशब्दो दिशावाचको, यथा, पूर्वं ग्रामं गत इति। तथा कारणवाचकोऽप्यस्ति, मतिपूर्व श्रुतमिति। तथा शास्त्रवाचकोऽप्यस्ति, यथा चतुर्दश-पूर्वधरो भद्रबाहुरिति। प्रकरण-वशेनात्र शास्त्रवाचको गृहीतव्यः। पूर्वेतिवचनेनाचाराद्यधस्तमैकादशानामंगानां

इसी अर्थविशेष का ज्ञान कराने के लिये गुणधर भट्टारक ने ग्रंथ के आदि में मंगल नहीं किया।

अब इस ग्रंथ का सम्बन्धादि बताने के लिये गाथासूत्र कहते हैं—

पंचम पूर्व के दशम वस्तु के 'पेज्ज' पाहुड नाम तृतीय पाहुड में कषाय पाहुड होता है।

अब इस गाथा का अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है—पूर्व शब्द दिशा वाचक है, जैसे वह पूर्व ग्राम को गया है। उसी प्रकार यह कारण-वाचक भी है, जैसे मतिपूर्व श्रुतज्ञान। तथा यह शास्त्रवाचक भी है, जैसे चतुर्दशपूर्वधारी, भद्रबाहु। प्रकरण के अनुसार यहां शास्त्रवाचक अर्थ ही लेना चाहिये। 'पूर्व में' इस वचन द्वारा आचारादि नीचे के ग्यारह अंगों का और दृष्टिवाद के अवयवभूत

आचारादि-हेट्ठिम-एक्कारसण्हमंगाणं दिट्ठिवाद-अवयवभूद-परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-चूलियाणं च पडिसेहो कदो तत्थ पुव्व-ववएसाभावादो। हेट्ठिम-उवरिम-पुव्व-णिराकरण-दुवारेण णाणप्पवाद-पुव्वग्गहणट्ठं पंचमम्मि त्ति णिद्देसो कदो। वत्थु-सद्दो जदिवि अणेगेसु अत्थेसु वट्टदे तो वि पयरण-वसेण सत्थ-वाचओ घेत्तव्वो। हेट्ठिम-उवरिम-वत्थुणिसेहट्ठं दसमग्गहणं कदं। तत्थतण-वीस[1]-पाहुडेसु सेस-पाहुड-णिवारणट्ठं तदिय-पाहुडग्गहणं कदं। तं तदिय-पाहुडं किण्णाममिदि वुत्ते पेज्ज-पाहुडं ति तण्णामं भणिदं।

दृष्टिवादावयव-भूत-परिकर्म-सूत्र-प्रथमानुयोग-चूलिकानां च प्रतिषेधः कृतः, तत्र पूर्वव्यपदेशाभावात्। अधस्तमोपरिम-पूर्व-निराकरण-द्वारेण ज्ञानप्रवाद-पूर्व-ग्रहणार्थं 'पंचमे' इति निर्देशः कृतः। वस्तु-शब्दो यद्यप्यनेकेष्वर्थेषु वर्तते तथापि प्रकरणवशेन शास्त्रवाचको गृहीतव्यः। अधस्तमोपरिम-वस्तुनिषेधार्थं दशम-ग्रहणं कृतम्। तत्रतन-विंशतिप्राभृतेषु शेष-प्राभृत-निवारणार्थं तृतीय-प्राभृत-ग्रहणं कृतम्। तत् तृतीय-प्राभृतं किन्नामेत्युक्ते पेज्ज-प्राभृतमिति तन्नाम भणितम्।

तत्रैतत्कषाय-प्राभृतं भवतीत्युक्ते तत्रोत्पन्नमिति गृहीतव्यम्। कथमेकस्मिन्नुत्पाद्योत्पादकभावो, नोपसंहार्यादुपसंहारस्य कथंचिद्भेदोपलंभतस्तयोरेकत्वा-

---

परिकर्म, सूत्र प्रथमानुयोग, और चूलिका, इनका प्रतिषेध किया, क्योंकि उनको 'पूर्व' यह नाम नहीं दिया जाता। नीचे के और ऊपर के पूर्वों के निराकरण द्वारा ज्ञानप्रवाद पूर्व के ग्रहणार्थ 'पांचवें में' ऐसा निर्देश किया है। वस्तुशब्द यद्यपि अनेक अर्थों में आता है तो भी प्रकरण के अनुसार यहां उसे शास्त्र के अर्थ में लेना चाहिये। नीचे के और ऊपर के 'वस्तु' के निषेध के लिये 'दशम' शब्द का उपयोग किया गया है। वहां के बीस पाहुडों में शेष पाहुडों के निवारणार्थ 'तीसरे पाहुड' का ग्रहण किया गया है। वह तीसरा पाहुड किस नाम का है? ऐसा पूछने पर 'पेज्ज पाहुड' यह नाम कहा।

'वहां यह कषाय-प्राभृत होता है' ऐसा कहने का अर्थ 'वहां उत्पन्न हुआ है' ऐसा लेना चाहिये। एक ही में उत्पाद्य और उत्पादकभाव कैसे हो सकता है? नहीं।

---

१ आदर्श प्रति में 'वीसं' पाठ है।

तत्थ एदं कसाय-पाहुडं होदि त्ति वुत्ते तत्थ उप्पण्णमिदि घेत्तव्वं। कथमेकस्मिन्नुत्पाद्योत्पादकभावो नोपसंहार्यादुपसंहारस्य कथंचिद्भेदोपलंभत-स्तयोरेकत्वाविरोधात्। पेज्ज-दोस-पाहुडस्य पेज्ज-पाहुडमिदि सण्णा कथं जुज्जदे। वुच्चदे। दोसो पेज्जाविणाभावि त्ति वा, जीव-दव्व-दुवारेण ते-सिमेयत्तमत्थि त्ति वा, पेज्ज-सद्दा पेज्ज-दोसाणं दोण्हं पि वाचओ सुप्पसिद्धोःवा। णामेगदेसेण वि णामिल्ल-वि, सय-संपच्चओ सच्चभामा दि सुत्तेण पेज्जदोस-पाहुडस्य पेज्ज-पाहुड-सण्णा वि ण विरुज्झदे। एवमेदीए गाहाए कसाय-पाहुडस्स णामोवक्कमो चेव परूविदो। पाहुडम्मि दु त्ति एत्थतण दु-सद्देण पुण सेस-उवक्कमा सूचिदा देसामासिय-भावेण वा। संपहि गाहाए दोहि पयारेहि सूचिदसेसोवक्कमाणं परूवणट्ठं जइवसहाइरियो चुण्णिसुत्तं भणदि—

विरोधात्। पेज्ज-दोष-प्राभृतस्य पेज्ज-प्राभृतमिति संज्ञा कथं युज्जते? उच्यते। दोषः पेज्जाविनाभावीति वा, जीव-द्रव्य-द्वारेण तयोरेकत्वमस्तीति वा, पेज्ज-शब्दः पेज्ज-दोषयो र्द्वयोरपिवाचकः सुप्रसिद्धो वा। नामैकदेशेनापि नामि-विषय-संप्रत्ययः सत्यभामेति सूत्रेण पेज्जदोष-प्राभृतस्य पेज्ज-प्राभृत-संज्ञापि न विरुध्यते। एवमेतस्यां गाथायां कषाय-प्राभृतस्य नामोपक्रमश्चैव प्ररूपितः। 'प्राभृते तु' इत्यत्रतनदुशब्देन पुनः शेषोपक्रमाः सूचिताः, तेषामाश्रित-भावेन वा। सम्प्रति गाथायां द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां सूचित-शेषोपक्रमाणां प्ररूपणार्थं यतिवृषभाचार्यश्चूर्णिसूत्रं भणति—

उपसंहार्य से उपसंहार का किसी प्रकार भेद न पाये जाने से उनके एकत्व में विरोध नहीं आता। पेज्ज-दोष-पाहुड की 'पेज्ज-पाहुड' संज्ञा कैसे कर डाली? कहते हैं। दोष पेज्ज के बिना नहीं हो सकता इस कारण; या जीव द्रव्य द्वारा उनका एकत्व है इसलिए; या 'पेज्ज' शब्द पेज्ज और दोष दोनों अर्थों का वाचक सुप्रसिद्ध है; या नाम के एकदेश से भी नामधारी विषय की संप्रतीति (जानकारी) हो जाती है। 'सत्यभामा' आदि सूत्र से पेज्ज-दोष पाहुड की पेज्ज-पाहुड संज्ञा भी विरोधवाचक नहीं है। इस प्रकार इस गाथा में कषाय-प्राभृत का नामोपक्रमण बताया गया। 'पाहुड में तो' यहाँ तो शब्द से शेष उपक्रमों की सूचना दी गई है क्योंकि वे इसके आश्रित हैं।

अब गाथा में दो प्रकार से सूचित शेष उपक्रमों का निरूपण करने के लिये यतिवृषभाचार्य चूर्णिसूत्र कहते हैं—

---

१ आदर्श प्रति में 'विसयं' पाठ है।

णाणपवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स पंचविहो उवक्कमो। तं जहा, आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि ।।१।।

उपक्रम्यते समीपीक्रियते श्रोत्रा अनेन प्राभृतमित्युपक्रमः।

ज्ञानप्रवादस्य पूर्वस्य दशमस्य वस्तुनस्तृतीयस्य प्राभृत य पंचविध उपक्रमः। तद्यथा, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाणं, वक्तव्यता, अर्थाधिकारश्चेति ।।१।।

उपक्रम्यते समीपिक्रियते श्रोत्रा अनेन प्राभृतमित्युपक्रमः ।

ज्ञानप्रवाद पूर्व की दशम वस्तु के तृतीय पाहुड का उपक्रम पांच प्रकार का है, जैसे आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार ।।१।। श्रोता जिस साधन के द्वारा प्राभृत को अपने समीप कर ले, अर्थात् समझ ले, उसका नाम उपक्रम है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की त्रुटिपूर्ति पर विचार

आचार्य नेमिचन्द्रकृत कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में पं० परमानंदजी शास्त्री ने एक लेख लिखा है, जिसका सारांश यह है—

आचार्य नेमिचन्द्र-विरचित कर्मकाण्ड के अनेक प्रकरण व संदर्भ अपने वर्तमान रूप में 'अधुरे और लंडूरे' हैं। इन्हीं आचार्य द्वारा विरचित एक दूसरा ग्रंथ प्राप्त हुआ है। जिसका नाम 'कर्म-प्रकृति' है। इस कर्मप्रकृति की १५६ गाथाओं में ५४ गाथायें कर्मकाण्ड में मौजूद ही हैं। शेष ७५ गाथाओं को भी कर्मकाण्ड में जोड़ देने से उसका अधूरापन दूर हो जाता है। ये ७५ गाथायें संभवतः किसी समय कर्मकाण्ड से छुट गई अथवा जुदा पड़ गई। अतएव जो सज्जन अब कर्मकाण्ड को फिर से प्रकाशित करना चाहें वे उसमें उन ७५ गाथाओं को यथास्थान शामिल करके ही प्रकाशित करें।

इस मत में तीन बातें मुख्यतः विचारणीय ज्ञात होती हैं—

(१) कर्मकाण्ड में से ७५ गाथाओं का छुट जाना या जुदा पड़ जाना कब और कैसे सम्भव हो सकता है?

(२) उन गाथाओं के न रहने से कर्मकाण्ड के उन प्रकरणों की अवस्था क्या है? तथा उन गाथाओं को जोडने से क्या अवस्था व विशेषता उत्पन्न होती है?

(३) कर्मप्रकृति ग्रन्थ किसका बनाया हुआ है, और उसका कर्मकाण्ड से क्या सम्बन्ध है?

(१) यदि उक्त ७५ गाथायें कर्मकाण्ड के रचयिता ने अपने ग्रंथ में यथास्थान रखी थीं तो क्या पश्चात् के लिपिकारों के प्रमाद से छूट गईं? यदि छुट गई होतीं तो टीकाकार अवश्य उस गलती को पकड़कर उन गाथाओं को यथास्थान रख देते, और यदि वे प्रसंग के लिये अत्यंत आवश्यक थीं तो वे जान बूझकर तो उन्हें छोड़ ही नहीं सकते थे। इस ग्रंथ की टीकाओं की परम्परा स्वयं उनके कर्त्ता के जीवन काल में ही, ग्रंथ की रचना के साथ ही साथ प्रारम्भ हो गई थी। कर्मकाण्ड की गाथा नं० ९७८ में आचार्य स्वयं कहते हैं कि गोम्मटसूत्र (गोम्मटसार) के लिखते ही वीरमार्तण्ड राजा गोम्मट राय

(चामुण्डराय) ने उसकी प्रतिलिपि कर देशी (टीका) डाली थी। यथा—

गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण कया देसी ।
सो राओ चिरकालं णमेण य वीरमत्तंडी ।।

इसके कोई तीन सौ वर्ष पश्चात् केशववर्णी ने गोम्मटसार वृत्ति कनड़ी में लिखी। फिर कर्नाटकवृत्ति के आधार से संस्कृत टीका रची गई। इन टीकाओं में चामुण्डरायकृत 'देशी' का आश्रय लिया जाना अनुमान किया जा सकता है। संस्कृत टीका के निर्माण में अनेक बहुश्रुत अनुरोधकों, सहायकों और संशोधकों का हाथ बतलाया जाता है। साङ्ग और सहेस नामक साधुओं की प्रार्थना से धर्मचन्द सूरि, अभयचन्द्र गणेश, लाला वर्णी, आदि विद्वानों के लिये यह टीका लिखी गई थी। त्रिविध-विधा विख्यात विशालकीर्ति सूरि ने उस कृति में सहायता पहुँचाई और सर्वप्रथम उसका चाव से अध्ययन किया, तथा निर्ग्रंथाचार्यवर्य त्रैविद्य चक्रवर्ती अभयचंद्र ने उसका संशोधन करके प्रथम पुस्तक लिखी। यथा—

श्रित्वा कणाटिर्कीं वृत्ति वर्णि श्रीकेशवैः कृतिः(तम्?)
कृतेयमन्यथा किंचित् विशाध्यं तद्बहुश्रतैः।।

त्रैविधविधाविख्यात विशालकीर्ति सूरिणा।
सहायोऽस्यां कृतौ चक्रेऽधीता च प्रथमं मुद्रा।।
सूरेः श्रीधर्मचन्द्रस्या भयचन्द्रगणे शनः।
वर्णिलालादि भव्यानां कृते कर्णाटवृत्तितः।।
रचिता चित्रकूटे श्रीपार्श्वनाथालयेऽमुना।
साधु साङ्ग सहेसाभ्यां प्रार्थितेन मुमुक्षुणा।।
निर्गंथाचार्यवर्येण त्रैविध चक्रवर्तिना।
संशोध्याभयचन्द्रेणालेखि प्रथमपुस्तकः।।

जहां यह टीका रची गई थी वह सम्भवतः वही चित्रकूट था जहाँ सिद्धान्त तत्वज्ञ एलाचार्य ने धवला टीका के रचयिता वीरसेनाचार्य को सिद्धान्त पढ़ाया था। ऐसी परिस्थिति में यह संभव नहीं जान पड़ता कि उक्त टीका के निर्माण काल में व उससे पूर्व कर्म काण्ड से उसकी आवश्यक अंगभूत कोई गाथायें छूट गई हों या जुदी पड गई हों।

(२) कर्मकाण्ड के 'अधूरे व लंडूरेपन' के पांच विशेष स्थल विद्वान् लेखक ने बतलाये हैं जो प्रकृति समुत्कीर्तन नामक प्रथम अधिकार की २२वीं और ३१वीं गाथाओं अर्थात् नौ गाथाओं के भीतर के हैं। इनके अतिरिक्त और भी कुछ स्थल ऐसे बतलाये गये हैं जहाँ कर्म प्रकृति की गाथाओं को सम्मविष्ट

करने की आवश्यकता लेखक को प्रतीत हुई है। मैंने इस महत्वपूर्ण विषय का विचार कर्मकाण्ड की प्रति को सामने रखकर अपने सहयोगी पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री व पं० हीरालालजी शास्त्री के साथ किया, जिसका निष्कर्ष निम्न प्रकार पाया गया। कर्मकाण्ड की नं० १५ की गाथा में दर्शन ज्ञान व सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाया गया है, और उसके अनन्तर १६वीं गाथा में उन्हीं जीव गुणों का क्रम निर्दिष्ट किया गया है। अब इन दोनों गाथाओं के बीच 'सियअत्थि' आदि सप्तभंगियों के नाम गिनाने वाली कर्मप्रकृति की १६ गाथा डाल देने से ऐसा विषयान्तर हो जाता है जिसकी सार-ग्रंथों में गुंजायश नहीं। परिपूर्णता की दृष्टि से तो यह भी कहा जा सकता है कि नयों के नाम गिना देने मात्र से क्या हुआ, उनके लक्षण भी बतलाना चाहिये था पर यहाँ आचार्य न्याय का ग्रंथ तो रच नहीं रहे। उन्होंने १५वीं गाथा में ज्ञान और दर्शन का सप्तभंगियों से निर्णय कर लेने मात्र का उल्लेख कर दिया है, जो यहां यथेष्ट है। वहां सप्तभंगियों के नाम गिनवाने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

कर्मकाण्ड की २०वीं गाथा में आठ कर्मों का नाम निर्देश किया गया है और २१वीं गाथा में उदाहरणों द्वारा उन आठों का कार्य सूचित किया गया है। इन दोनों गाथाओं के बीच जीवप्रदेशों और कर्मप्रदेशों के सम्बन्ध आदि बतलाने वाली कर्मप्रकृति की २२ से २६ तक की पांच गाथायें न रहने से विषय की संगति में कोई त्रुटि तो नजर नहीं आती, प्रत्युत उन गाथाओं के डाल देने से विषय साकांक्ष रह जाता है; क्योंकि कर्मप्रकृति की २६वीं गाथा प्रकृति आदि बंध के चार प्रकार के नाम निर्देशक के साथ समाप्त होती है। उस क्रम से तो फिर आगे चारों प्रकार के बन्धों का क्रम से विवरण दिया जाना चाहिये था; किन्तु वहां आठ कर्मों के कार्यों के उदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकार वर्तमान रूप में कर्मकाण्ड की २४वीं और २१वीं गाथायें सुसंगत प्रतीत होती हैं। उनके बीच उक्त पांच गाथायें डालने से उनमें व्युत्क्रम उत्पन्न होता है।

कर्मकाण्ड की आठ कर्मों के उदाहरण देने वाली २१वीं गाथा के पश्चात् २२वीं गाथा में उन अगठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या का क्रमिक निर्देश किया गया है जो बिलकुल सुसंगत है। उनके बीच में कर्म प्रकृति की आठ कर्मों के स्वभाव विषयक दृष्टान्तों को स्पष्ट करके बतलाने वाली २८ से ३५ तक की आठ गाथाओं की कोई विशेष आवश्यकता दिखाई नहीं देती, खास कर जबकि उनके दृष्टान्त आचार्य २१वीं गाथा में दे चुके हैं। ये आठ गाथायें २१वीं गाथा के स्पष्टीकरणार्थ टीका रूप भले ही मान ली जावें, किन्तु सार ग्रंथ के मूल पाठ में उनकी गुंजाइश नहीं दिखाई देती।

कर्मकाण्ड की २२वीं गाथा में, उत्तर प्रकृतियों की क्रमिक संख्या बता देने के पश्चात् २३वीं गाथा से एकदम पांच निद्राओं का कार्य आरम्भ हो जाता है। यह एक विशेष स्थल है जहां पं० परमानन्दजी को कर्मकाण्ड की त्रुटि बहुत खटकी है, क्योंकि उनके मतानुसार विषय को पूरा और सुसंगत बनाने के लिये यहां उत्तर प्रकृतियों के नाम व स्वरूप का क्रमशः वर्णन होना चाहिये, या और उसी में निद्रा का यथास्थान विवरण आता तब ठीक था। इसी कमी की ये कर्म प्रकृति की ३७ से ४८ तक की १२ गाथाओं द्वारा पूर्ति करते हैं। इस सम्बन्ध में कर्मकाण्ड की रचना की विशेषता की ओर हमारा ध्यान जाता है, और सारे ग्रन्थ को देखते हुये हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहां तथा आगामी त्रुटिपूर्ण जंचने वाले स्थलों पर कर्ता का विचार स्वयं प्रकृतियों के भेदोपभेदों गिनाने का नहीं था। वह सामान्य कथन या तो उनकी रचना में आगे पीछे आयु का है, या उन्होंने उसे सामान्य जानकर छोड़ दिया है। उनका अभिप्राय केवल भेद-अभेदों का वर्णन कर देना रहा है जिनमें उन्हें कुछ विशेषता दिखाई दी और जिनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना उन्हें आवश्यक जंचा। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के भेद-अभेदों का ज्ञान जीव काण्ड में भी कराया जा चुका है, जहां कर्म प्रकृति की इन्हीं १२ गाथाओं में से ९ गाथायें आ चुकी हैं। उन सबकी यहां पुनरावृत्ति करने की अपेक्षा आचार्य ने केवल उन स्थलों पर अपनी अंगुली रखी है जिनका ज्ञान उस सामान्य प्ररूपण से नहीं हो सकता था। निद्रादि के लक्षण इसी प्रकार के हैं और इसलिये मात्र उन्हीं का यहाँ वर्णन करना आचार्य ने उचित समझा। इसमें कोई त्रुटि ख्याल करना अनावश्यक है।

ठीक यही बात कर्मप्रकृति की उन दो गाथाओं और १४ गाथाओं व ४ गाथाओं के विषय में कही जा सकती है जिनको क्रमशः कर्मकाण्ड की २५वीं, २६वीं और २७वीं गाथा के पश्चात् रख देने की तजवीज की गई है। यथार्थतः उनसे सिवाय नाम निर्देष और सामान्य स्वरूप ज्ञान के कोई नया प्रकाश नहीं मिलता। उनमें से सात गाथायें जीवकाण्ड में आ भी चुकी हैं। दर्शन मोहनीय में बंध मिथ्यात्व का और उदय तथा सत्व तीनों का रहता है, अतः शेष दो प्रकृतियों का अस्तित्व कैसे हो जाता है, इस विशेषता का ज्ञान कराने के लिये कर्मकाण्ड में गाथा नं० २६ निबद्ध की गई है, तथा पांच शरीरों से संयोगी भेद कैसे बन जाते हैं, इस विशेषता को बतलाने के लिये गाथा नं० २७ रखी गई है। नामकर्म की प्रकृतियों में अंग और उपांग का भेद किस प्रकार हुआ इस विशेषता को दिखाने वाली गाथा नं० २८ रखी गई है। शेष भेद प्रभेद तो सामान्य है, अतः जान बूझकर भी वे यहाँ रचयिता द्वारा ही छोड़े जा सकते हैं।

कर्मकाण्ड की २९ से ३२ तक की गाथाओं में किस संहनन से जीव किस गति में जाता है, इसका विवरण दिया गया है; और केवल उन्हीं बातों को बतलाया गया है जिनके समझने के लिये बंधादि अधिकार पर्याप्त नहीं है। यहाँ मनुष्यों और तिर्यंचों के किन संहननों का उदय होता है, इसके बतलाने की तो आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि उदय प्रकरण की गाथा नं० २९४ से ३०३ तक की गाथाओं में तिर्यंचों और मनुष्यों के उदय, अनुदय और उदयव्युच्छित्तिरूप जो प्रकृतियाँ बतलाई गई हैं उसी से किस तिर्यंच के या मनुष्य के कितने संहनन होते हैं इसका भी पता लगा जाता है। नं० २६५ से २७१ तक की गाथाओं में जो गुणस्थानों की अपेक्षा उदयादि का कथन किया गया है, उससे किस गुणस्थान तक कितने संहनन होते हैं; इसका भी पता लग जाता है। क्षेत्र की दृष्टि से भोगभूमि के क्षेत्रों में पहला संहनन होता है, इसका पता ३०२ और ३०३ नं० की गाथाओं से लग जाता है और पारिशेष न्याय से यह भी समझ में आ जाता है कि कर्म भूमि में सभी संहनन होते हैं। इसी क्षेत्र-व्यवस्था के ऊपर से काल-व्यवस्था भी समझ में आ जाती है। अतएव कर्मप्रकृति की ७५ से ८२ तक की आठ व ८६ से ८९ तक की चार गाथाओं के यहाँ न रहने से कर्मकाण्ड में कोई त्रुटि नहीं रहती। संहननों का उन गतियों से संबंध उपर्युक्त प्रकरणों से नहीं जाना जा सकता था, अतएव उस विशेषता को बतलाना यहाँ आवश्यक था।

एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। कर्मकाण्ड की गाथा नं० ४७ में स्पष्ट कहा गया है कि देह से लगाकर स्पर्श तक पचास कर्म प्रकृतियाँ होती हैं—

देहादी फासंता पण्णासा.....।

किन्तु कर्मप्रकृति की गाथा नं० ८५ में दो प्रकार की विहायोगति भी गिना दी गई हैं, जिससे वहाँ शरीर से लगाकर स्पर्श तक की संख्या ५२ हो गई है। अब यदि इन गाथाओं को हम कर्मकाण्ड में रख देते हैं, तो गाथा नं० ४७ के वचन से विरोध पड़ जाता है। इससे सुस्पष्ट है कि कर्मकाण्ड के रचयिता की दृष्टि में इन गाथाओं का क्रम नहीं रहा है टीकाकार ने भी विहायोगति के दो भेदों को छोड़कर ही पचास भेद गिनाये हैं। अतएव इन गाथाओं को कर्मकाण्ड में रख देना उसमें पूर्वा पर विरोध उत्पन्न कर देना होगा।

कर्मकाण्ड की गाथा नं० ३३ में आताप और उद्योत नाम की प्रकृतियों के उदय का नियम बतलाया गया है जो अपनी विशेषता रखता है। शेष प्रकृतियों

में ऐसी कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। अतएव कर्म प्रकृति की नं० ८१ से ९५ तक की पाँच तथा ९७ से १०२ तक की छह गाथाओं के रहने न रहने से कोई बड़ा प्रकाश व अन्धकार नहीं उत्पन्न होता। यही बात कर्मप्रकृति की शेष १५३ से १५७ तक की पाँच गाथाओं के विषय में कही जा सकती है, जिनमें केवल तीर्थंकर प्रकृति का बंध कराने वाली षोडश भावनाओं के नाम गिनाये गये हैं और जिन्हें कर्मकाण्ड की गाथा नं० ८०८ के पश्चात् जोड़ने की कोशिश की गई है।

प्रसंगवश यहाँ कर्मप्रकृति को एक गाथा के पाठ व उसके अर्थ का स्पष्टीकरण अनुपयुक्त न होगा। गाथा नं० ८७ में 'मिच्छापुव्व दुगादिसु' के स्थान पर अर्थ सौ कर्म व आगे के संख्या क्रम से सामंजस्य बैठाने के लिये 'मिच्छापुव्व-खवादिसु' ऐसा संशोधन पेश किया गया है। किन्तु इस संशोधन के बिना ही उस गाथा का अर्थ बैठ जाता है और संशोधित पाठ से भी अच्छा बैठता है वहाँ अपूर्व द्विकादि से अपूर्वादि उपशम श्रेणी के चार और अपूर्वादि क्षपक श्रेणी के पाँच गुणस्थानों का अभिप्राय है, जो सुसंगत बैठता है। खवादि पाठ कर लेने से तो विसंगति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि अपूर्वादि को छोड़कर तो खवादि पाँच गुणस्थान हो नहीं सकते?

अब हम इस विषय की तीसरी विचारणीय बात पर ध्यान देंगे। क्या कर्म प्रकृति ग्रंथ गोम्मटसार के रचयिता का ही बनाया हुआ है? पं० परमानन्दजी ने इस विषय पर विशेष कोई प्रकाश डालने की कृपा नहीं की। उन्होंने उस ग्रंथ के विषय में निश्चयात्मक रूप से केवल यह कह दिया है कि "हाल में मुझे आचार्य नेमिचन्द्र के कर्मप्रकृति नामक एक दूसरे ग्रन्थ का पता चला है"।

पर उन्होंने यह नहीं बतलाया कि इस ग्रन्थ के कर्तृत्व का निश्चय उन्होंने किस प्रकार, किन आधारों पर से किया है। क्या गोम्मटसार की अधिकांश गाथायें उसमें देखकर उसे नेमिचन्द्राचार्य रचित कहा है या उनकी देखी हुई प्रति में कर्ता का नाम नेमिचन्द्र दिया हुआ है? यदि प्रति में कर्ता का नाम यह दिया हुआ है तो क्या वे गोम्मटसार के कर्ता से भिन्न कोई आगे-पीछे के संग्रहकार नहीं हो सकते? नेमिचन्द्र नाम के और भी मुनियों व आचार्यों का उल्लेख मिलता है। यदि यह कृति गोम्मटसार के कर्ता की ही है तो वह अब तक प्रसिद्ध में क्यों नहीं आई? क्या किन्हीं ग्रन्थकारों या टीकाकारों ने इस ग्रंथ का कोई उल्लेख किया है? इत्यादि अनेक प्रश्न उस कृति के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं, जिनका समाधान करना उसकी गाथाओं को कर्मकाण्ड में समाविष्ट कराने की तजबीज से पूर्व अत्यन्त आवश्यक था। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि

वह 'कर्मप्रकृति' एक पीछे का संग्रह है, जिसमें बहु भाग गोम्मटसार से व कुछ गाथायें अन्य इधर-उधर से लेकर विषय का सरल विद्यार्थी उपयोगी परिचय कराने का प्रयत्न किया गया है। उसकी गोम्मटसार के अतिरिक्त गाथाओं की रचना शैली आदि को सूक्ष्म जाँच पड़ताल से भी सम्भव है कुछ कर्तृत्व के सम्बन्ध में सूचना मिल सके। यदि पर्याप्त छान-बीन के पश्चात् वह ग्रंथ सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र की ही रचना सिद्ध हो तो यह मानना पड़ेगा कि उसे आचार्य ने कर्मकाण्ड की रचना के लिये प्रथम ढांचा रूप तैयार किया होगा। फिर उसकी सामान्य नाम व भेद-प्रभेद आदि निर्देशक गाथाओं को छोड़कर और उपयुक्त विषय का विस्तार करके उन्होंने कर्मकाण्ड की रचना की होगी।

इस प्रकार न तो हमें कर्मकांड में अधूरे व लंडूरेपन का अनुभव होता है, न उसमें से कभी उतनी गाथाओं के छूट जाने व दूर पड़ जाने की सम्भावना जँचती है, और न कर्मप्रकृति के गोम्मटसार के कर्ता द्वारा ही रचित होने के कोई पर्याप्त प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी अवस्था में उन गाथाओं के कर्मकांड में शामिल कर देने का प्रस्ताव हमें बड़ा साहसिक प्रतीत होता है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की त्रुटिपूर्ति संबंधी प्रकाश पर पुनः विचार

"गोम्मटसार" कर्मकाण्ड को त्रुटिपूर्ति पर एक लेख पं० परमानन्दजी शास्त्री ने 'अनेकान्त' में लिखा था। उसमें उन्होंने यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि कर्मकाण्ड के अनेक प्रकरण व संदर्भ अपने वर्तमान रूप में "अधूरे और लंडूरे" हैं, क्योंकि कुछ गाथाएं किसी समय वहाँ से छूट गई वा जुदा पड़ गई। इस त्रुटि की पूर्ति कर्म प्रकृति नामक ग्रंथ की ७५ गाथाओं को कर्मकाण्ड में इधर-उधर शामिल कर देने से हो जाती है। अतः आगामी प्रकाशन में ये गाथाऐं कर्मकाण्ड में शामिल कर दी जायें।

इस पर मैंने "गोम्मटसार कर्मकाण्ड की त्रुटि पूर्ति पर विचार" शीर्षक लेख में यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि यह विषय अत्यंत महत्वपूर्ण है, कर्म काण्ड के त्रुटिपूर्ण होने और उसमें से ७५ गाथाऐं छूट जाने या जुदा पड़ जाने की निश्चय बिना और भी गम्भीर विचार किये नहीं हो सकता, क्योंकि एक दृष्टि से ग्रन्थ में अधूरापन नहीं भी है। जिस ग्रन्थ में से यह त्रुटि पूर्ति की जा रही है, उसके भी समय, कर्तव्य आदि के निर्णय किये जाने की आवश्यकता है। अतः कर्मकांड में इन नई गाथाओं को शामिल कर लेने की उतावली नहीं करनी चाहियें, कुछ और खोज तथा विचार करना आवश्यक हैं।

इस लेख के उत्तर में अब पं० परमानन्दजी का दूसरा लेख "गोम्मटसार कर्मकांड की त्रुटि पूर्ति के विचार पर प्रकाश शीर्षक अनेकान्त, किरण १२ में प्रकाशित हुआ है, जिसमें पंडितजी ने मेरे पूर्व लेख में उठाई गई आपत्तियों के निराकरण का तथा अपने पूर्व प्रस्ताव के समर्थन का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत लेख में पंड़ितजी के इस नये "प्रकाश" पर ही पुनः विचार किया जाता है।

लिपिकार-प्रमाद व टीकाकारों का वैषम्य

कर्मकाण्ड में से उक्त गाथाएं कब और कैसे छूट गई होंगी, इसके उत्तर में पंडितजी ने केवल इस बात को उदाहरण दे देकर समझाया है कि प्राचीन लिपिकारों के प्रमाद से पाठ छूट जाया करते हैं। यथार्थतः इस साधारण सी बात

पर उतना लिखने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि यह बात तो सभी जानते हैं और पाठ संशोधकों के प्रति दिन अनुभव में आती है। किन्तु मेरी आपत्ति कुछ और गहरी थी, जिसका समाधान पंडितजी के लेख से बिलकुल नहीं हो पाया। कर्मकाण्ड में जो गाथाऐं छूटी हुई बताई जा रही हैं, उनका साम्य उन लिपिकारों के प्रमाद या टीकाकारों के वैषम्य से बिलकुल नहीं बैठता, जिनके उदाहरण पंडितजी ने प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने जो "सत्य शासन परीक्षा" नामक ग्रंथ में "शब्दाद्वैत परीक्षा" नामक एक पूरा प्रकरण छूटा हुआ बतलाया है, उससे प्रकृत विषय में कोई नया प्रकाश नहीं मिलता। उक्त ग्रंथ का जो परिचय पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य ने प्रकट किया है वह यथार्थतः उस ग्रंथ की एक "अपूर्ण" 'खंडित" और "नितान्त अशुद्ध" प्रति का परिचय है, जिसके लेखक व लेखन काल का भी पता नहीं है। उस प्रति के विषय में यह भी प्रकट नहीं है कि वह नवीन है या प्राचीन। बीच में एक पंक्ति का स्थान छूटा हुआ है और इसी पर से पंडितजी ने कहा है कि मालूम होता है कि शब्दाद्वैत परीक्षा वाला भाग छूट गया है। इस प्रकार की अधूरी और नितान्त अशुद्ध प्रति पर से न तो ग्रन्थ परम्परा चलती है और न कोई विद्वान टीकाकार केवल ऐसी एक प्रति को सामने रख कर उसकी टीका लिखने बैठता है। इस उदाहरण से प्रकृत विषय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। क्योंकि यहाँ उक्त प्रकरणों में से एक प्रकरण नहीं छूटा, किन्तु एक प्रकरण में दो इधर और चार उधर गाथाऐं छूटी बताई जा रही हैं और वे भी एक खास व्यवस्था को लिए हुए अर्थात् जहाँ कुछ महत्व की बात थी वहाँ कुछ नहीं छूटा और जहाँ केवल नाम निर्देश आदि थे वहीं गाथाऐं छूट गई। तथा इस तरह एक ८६ गाथाओं के छोटे से प्रकरण में ९६ गाथाऐं छूटी बताई जा रही हैं, जिन्हें बड़े-बड़े प्राचीन मुनि आचार्य विद्वान टीकाकार भी छूटी हुई नहीं कह सकें और उस प्रकरण को त्रुटित नहीं बता पायें।

कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रंथों पर टीकायें लिखने वाले अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य की रचनाओं में जो मूल ग्रन्थों की गाथा संख्या में अन्तर पाया जाता है, उसके संबंध में अन्य स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में तो सामान्य नियम यहीं कहा जा सकता है कि यदि पूर्व टीकाकार से पश्चात् के टीकाकार ने गाथाओं की संख्या अधिक दी है तो समझना चाहिये कि उतनी गाथाऐं पीछे से प्रक्षिप्त की गई हैं। वे मूल ग्रंथ का मौलिक अंग तब तक नहीं मानी जा सकती जब तक यह सिद्ध करके न बता दिया जाय कि वे वहाँ अर्थ के लिये अनिवार्य है तथा मूल ग्रन्थ का पाठ संशोधन करने के लिये जो साधन पुराने लेखक को उपलब्ध थे, उनसे अधिक पीछे के लेखक को उपलब्ध हो गये

थे। यथार्थतः प्राचीन काल में होता तो यह था कि पुराने लेखकों की साधन सामग्री का एक अंश भी उनसे बहुत पीछे के लेखकों को उपलब्ध नहीं होता था क्योंकि प्राचीन साहित्य नष्ट बहुत हो जाता था। वीरसेनाचार्य के सन्मुख सूत्रों के जो पाठ थे, जो टीकाएं थी व जितने अन्य ग्रन्थ व मतमतान्तर प्रस्तुत थे, वे हमारे लिये कुछ भी उपलब्ध नहीं है। अमृतचन्द्र को कुछ अन्य रचनाओं के देखने से पता चलता है कि जयसेन द्वारा स्वीकृत गाथाओं में से कुछ गाथाऐं अमृतचन्द्र के सन्मुख थी (देखें प्रवचनसार डॉ० उपाध्ये की भूमिका, पृ० ५३) फिर भी उन्होंने उन्हें प्रवचनसारादि में ग्रहण नहीं किया, जिससे स्पष्ट है कि वे उन्हें मूल ग्रंथ का अंग नहीं समझते थे। अतः अमृतचन्द्र और जयसेन की टीकाओं में मूल ग्रन्थ की गाथा संख्या में अन्तर पर से पंडित जी ने जो अनेक प्रश्न उठाकर अपनी "त्रुटिपूर्ति" का समर्थन करना चाहा है वह निष्फल ठहरता है। छोटे से प्रकृति समुत्कीर्तन-अधिकार का ठीक आधा सा हिस्सा लिपिकारों के प्रमाद से छूट गया मान लेना मुझे तो बड़ी साहसिक मान्यता दिखती है। क्या इसके समतौल का कोई अन्य उदाहरण भी साहित्य में पाया जाता है? पर यदि यह सम्भव मान भी लिया जाये तो यह भी कैसे माना जा सकता है कि टीकाकारों की दृष्टि इस भयंकर त्रुटि पर नहीं गई और वे आंखें मीचंकर उस अधूरे प्रकरण पर अपनी टीका लिख गये। उन्होंने अपनी टीका में जो प्रस्तुत विषय संबंधी विशेष नाम और लक्षण दिये हैं उनपर से यह नहीं कहा जा सकता, जैसा पंड़ित परमानंदजी कहते हैं, कि वे वहाँ प्रकरण को त्रुटित समझते थे। यदि ऐसा माना जाय तब तो प्रायः प्रत्येक गाथा में कुछ त्रुटित अंश का अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि टीकाकारों ने वहाँ विस्तार से नाम निर्देश और लक्षण किये हैं।

कर्मकाण्ड की टीका परम्परा

मैंने कर्मकाण्ड की टीकाओं को परम्परा नेमिचन्द्राचार्य के काल से ही बतलाई थी, क्योंकि चामुंडरायकृत "देशी" का उल्लेख ग्रंथ में ही पाया जाता है। किन्तु पंड़ितजी उस गाथा की अवस्था को वहाँ संदिग्ध बतलाते हैं, जिसका कारण वे केवल यह दे सके हैं कि "उसमें प्रयुक्त हुए" जा "पद का कोई सम्बन्ध व्यक्त नहीं होता। किन्तु प्राकृत के पाठक सहज ही जान सकते हैं कि यह कोई बड़ी आपत्ति नहीं है। यदि बिना संबंधवाची "सा" के "जा" का प्रयोग वहां क्षम्य न समझा जाय तो "जा" का अर्थ वहां यावत् ले सकते हैं। जो साकल्य या निश्चय बोधक अव्यय होता है। तात्पर्य यह है कि केवल

''जा'' के प्रयोग में वह गाथा दूषित और वहां से बहिष्कार्य नहीं कही जा सकती और यदि रचना की दृष्टि से वहाँ वह स्वीकार्य न भी हो तो भी उसमें दी हुई चामुण्डरायकृत ''देशी'' की सूचना को ठीक समझने के विरुद्ध क्या कारण हो सकता है? आखिर वह गाथा तो पुरानी ही है।

पं० परमानन्दजी ने इस संबंध में यह भी कहा है– ''थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि चामुण्डराय ने उसी समय गोम्मटसार कर्मकाण्ड पर कोई टीका लिखी थी, तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि ३००-४०० वर्ष के पीछे बनी हुई केशववर्णी की कनाड़ी टीका बिल्कुल उसी के आधार पर बनी है।

आश्चर्य है कि पंडितजी ने मेरे लेख में यह कथन कहाँ पढ़ लिया है कि केशवर्णी की टीका बिल्कुल उसी के आधार पर बनी है? चामुण्डराय कृत ''देशी'' से कनाड़ी टीकादि का ही तात्पर्य हो सकता है। चामुण्डराय कनाड़ी में रचना करते भी थे जैसा कि उनके चामुण्डराय पुराण से सिद्ध है। केशववर्णी ने भी अपनी टीका उसी प्रान्त में कनाड़ी में रची। अतएव मैंने केवल अपना यह अनुमान व्यक्त किया था कि ''इन टीकाओं (केशववर्णी की और उस पर से बनी हुई संस्कृत) में चामुण्डराय कृत ''देशी'' का आश्रय लिया जाना अनुमान किया जा सकता है। ''किन्तु इस पर से पंडितजी मेरे सिर पर यह कथन मढ़ते हैं कि केशववर्णी की कनाड़ी टीका ''बिल्कुल उसी के आधार पर बनी है।'' दोनों कथनों में कितना भेद है? किसी लेखक के कथन में अनधिकार अतिरेक कल्पित करके उसके दोष प्रदर्शन का श्रेय लूटना सच्चे समालोचक के विपरीत एक अत्यन्त दूषित मनोवृत्ति का परिचायक है।

चित्रकूट में विद्वत्परंपरा

संस्कृत टीका का चित्रकूट के पार्श्वनाथ जिनालय में रचना होने का खास उल्लेख किया गया है तथा वहां पर रचयिता को बहुत से बड़े-बड़े विद्वानों का सहयोग भी प्राप्त हो गया था, जिनमें अनेक निर्ग्रन्थाचार्य वर्य, त्रैविद्यविद्या- विख्यात, त्रैविद्यचक्रवर्ति, सूरि, वर्णी, साधु आदि उपाधिधारियों के नाम पाये जाते हैं। इस पर से मैंने यह भी अनुमान किया था कि संभवतः यह वहीं चित्रकूट थी जहाँ सिद्धान्त तत्वज्ञ एलाचार्य ने धवलाटीका के रचयिता वीरसेनाचार्य को सिद्धान्त पढ़ाया था और जहाँ तब से विद्वान साधुओं के विशेष जुटाव होते रहने की परम्परा का अनुमान किया जा सकता है। ऐसी अवस्था

में यह संभव नहीं जान पड़ता कि वहाँ पर कर्मकाण्ड के उस भयंकर अधूरेपन तथा उसकी पूर्ति करने वाली सिद्धान्तचक्रवर्ति नेमिचन्द्राचार्य की एक दूसरी कर्मप्रकृति नामक रचना की ओर किसी का ध्यान ही न जाता। किन्तु पंडित परमानन्दजी को "यह कल्पना बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है" और उन्होंने उसका मखौल उड़ाने का प्रयत्न कियाा है कि "आज यदि कोई वहाँ बैठकर ग्रंथ बनाने लगे तो क्या उसके सामने वह सब दफ्तर अथवा साधन-सामग्री मय शास्त्र भंडार मौजूद होगा जो एलाचार्य और वीरसेन के समय में था। "यदि आठवीं-नौवीं शताब्दी में हमें किसी स्थान के संबंध में यह उल्लेख मिले कि वहाँ विद्वत्समागम होता था और उससे कई शताब्दियों पश्चात् भी उसी प्रकार का दूसरा उल्लेख मिले तो इस पर से वहाँ उसी परम्परा के प्रचलित बने रहने का अनुमान करना "बड़ा विंचित्र" कैसे हो गया यह पंडितजी ही जानें। यथार्थत: तो यह अनुमान बिल्कुल साधारण और इतिहास सम्मत है। हाँ यदि यह सिद्ध करके बताया जाये कि बीच की शताब्दियों में वह सिलसिला अमुक कारण से टूट गया था और फिर अमुक कारण से पीछे पुन: प्रारंभ हुआ तो अवश्य उक्त अनुमान बाधित सिद्ध हो सकता है। नहीं तो वहाँ उस "सब दफ्तर और शास्त्र-भंडार के बने रहने और टीकाकार नेमिचन्द्र को उपलभ्य होने में कौन सी आपत्ति व विचित्रता उत्पन्न होती है? मूडविद्री, कारंजा, जयपुर आदि के शास्त्र भंडार और कितने ही अंशों में वहाँ की गुरु परम्परा, अनेक शताब्दियों से लगातार आज तक भी विद्यमान है। यदि चित्रकूट का यह पार्श्वनाथ जिनालय जहाँ टीका रची गई थी, ऊजड़े हुए चित्रकूट नगर में उसी रचना के लिये खास तौर से खड़ा किया गया सिद्ध किया जाय तो अवश्य मैं अपने पूर्वोक्त अनुमान को सदोष स्वीकार कर सकता हूँ। पं० परमानन्दजी की कल्पनानुसार यदि आज कोई चित्रकूट में जाकर टीका लिखने बैठे तो न तो उसे वह विद्वत्समागत मिल सकेगा जो संस्कृत टीका के रचयिता को मिला कहा गया है, और न कोई खास सुविधा व साधन सामग्री इसलिये किसी विद्वान आचार्य को वहाँ जाकर टीका लिखने की कोई प्रवृत्ति भी नहीं होगी।

प्राचीन पाठ-संशोधन में आवश्यक सावधानी

प्राचीन पाठ संशोधन का यह एक साधारण नियम है कि जहाँ तक हो सके उपलभ्य पाठ पर से ही विषय के संदर्भ को समझना चाहिये और जबकि अनेक स्थल उस प्रकार के मिलें तब तो लेखक की विशेष शैली के संबंध में कोई नियम ढूँढ निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। अपनी अधूरी समझदारी

के भरोसे कहीं से लाकर दूसरा पाठ वहाँ जोड़ देने की उतावली नहीं करना चाहिये। प्राचीन रचना में ऐसा भारी परिवर्तन असाधारण अवस्था में ही पर्याप्त कारण होने पर क्षम्य कहा जा सकता है और फिर भी उस नये जोड़े हुए पाठ को इसी रूप में रखना चाहिये जिससे उस पर आगे भी खोज विचार के लिये मार्ग खुला रहें। संदिग्धता की अवस्था में हमारा निर्णय सदैव प्राचीन पाठ रक्षा के पक्ष में ही होना चाहिये। जैसा वीरसेनाचार्य ने आगमसूत्रों की टीका में किया है जो आगे चलकर बतलाया जायगा। संशोधन संबंधी इसी नियम और परिपाटी के अनुसार हमने अपने पूर्व लेख में पं० परमानन्दजी के त्रुटिपूर्ण बतलाये हुए प्रत्येक प्रसंग की जाँच करके यह दिखलाया था कि वहाँ प्रसंग को स्खलित मानना अनिवार्य नहीं है। यह भी हो सकता है रचयिता ने उस बिल्कुल सामान्य नाम-निर्देश या लक्षण विधान को जान-बूझकर ही छोड़ दिया हो और प्रतिपादन के लिये अपनी अंगुली केवल उन स्थलों पर रखी हो जहाँ उन्हें कुछ विशेष बात बतलानी थी। हमारी इस परीक्षा पर पं० परमानन्दजी ने कहा है—

"मुद्रित कर्मकाण्ड के उक्त अधिकार में सम्पूर्ण उत्तर प्रकृतियों का वर्णन न होना जरूर ही उसके त्रुटित होने को सूचित करता है। प्रोफेसर साहब ने इस बात पर कोई खास लक्ष्य न देकर जैसे-तैसे यह बतलाने की चेष्टा की है कि यदि उक्त गाथाऐं इस ग्रन्थ में न रहें तो कोई विशेष हानि नहीं।

यहाँ पंडितजी स्वयं ही यह मान रहें हैं कि मैंने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि उक्त गाथाओं के न रहने से कोई विशेष हानि नहीं। इतने पर भी पंडितजी को शिकायत है कि मैंने उनकी बतलाई हुई त्रुटि की ओर "कोई खास लक्ष्य" नहीं दिया। यदि मैं उस पर कोई खास लक्ष्य न देता तो एक-एक स्थल की बतलाई हुई त्रुटि पर उतना विचार ही क्यों करता और यह कैसे बतला पाता कि उन गाथाओं के न रहने से कोई विशेष हानि नहीं है। पंडितजी ने मेरे उस प्रयत्न को "जैसे-तैसे" क्रिया विशेषण लगाकर इस बात को और भी व्यक्त कर दिया है कि उसके लिये मुझे विशेष प्रयत्न करना पड़ा है। जल्दी से बिना खास लक्ष्य के उन त्रुटियों की भी सार्थकता बतला सकना संभव नहीं था। मैंने जो प्राचीन पाठ की मर्यादा को कायम रखते हुए "जैसे-तैसे उसकी सार्थकता बतलाई है। उसमें दूषण दिखाकर पंडितजी को उसे असिद्ध करना चाहिये था किन्तु ऐसा कुछ न करके वे उल्टा मुझसे प्रश्न करते हैं कि "उक्त गाथाओं को ग्रंथ में त्रुटित मानकर शामिल कर लेने से क्या विशेष बाधा उत्पन्न हो सकती है?" पंडितजी का यह प्रश्न उक्त परिस्थिति में वैसा ही है जैसे कोई किसी एक भले चंगे

मनुष्य को रोगी मानकर कहें कि उसे औषधि खिलाने में क्या विशेष बाधा उत्पन्न हो सकती है। इसका सबसे बड़ा उत्तर तो यही है कि जो भला-चंगा है उसे औषधि देने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। परम्परागत प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार को पंडितजी अपने प्रक्षेप कार्य द्वारा लगभग दूना बना रहें हैं जो प्राचीन पाठ-संशोधक के लिये एक बड़ी भारी जिम्मेदारी का कार्य है। इसलिये यह देखने से पूर्व कि उनको रखने से क्या बाधा उत्पन्न होती है, यही विचार करना आवश्यक है कि क्या उनको रखना अनिवार्य है? और उनके बिना रखे क्या कर्ता के मन्तव्य असम्भव है। इसी दृष्टि से मैंने वहाँ एक-एक प्रसंग का सूक्ष्म परीक्षण किया था और यह बतलाया था कि त्रुटित ख्याल किये जाने वाले प्रसंग अपनी एक विशेषता को लिये हुए अपने रूप में पूर्ण हैं, और सम्भवतः रचयिता ने उन्हें जान-बूझकर उस प्रकार रखा है। केवल लिपिकारों के प्रमाद से गाथायें ऐसे व्यवस्थित रूप से नहीं छूट सकती थी कि केवल सामान्य नाम निर्देश व लक्षण कहने वाली ७६ गाथायें छूट जायें और विशेष महत्वपूर्ण बातें कहने वाली ८६ गाथाओं में से एक भी न छूटकर वे सब जहाँ की तहाँ बनी रहें।

गोम्मटसार के संग्रहत्व व सूत्रत्व का विचार

मैंने जो सामान्य नामनिर्देश संबंधी या पुनरावृत्ति वाली गाथाओं को प्रक्षिप्त करने के विरोध में यह बतलाया था कि उनको एक सार ग्रन्थ में रखना अनिवार्य नहीं कहा जा सकता, उस पर पंडित जी का कहना है कि "प्रोफेसर साहब ने गोम्मटसार को जिस अर्थ में सार ग्रंथ समझा है उस अर्थ में वह सार ग्रन्थ नहीं है। वह वास्तव में एक संग्रह ग्रंथ है जिसे मैं 'गोम्मटसार संग्रह ग्रंथ' है इस शीर्षक के अपने लेख में विस्तार के साथ प्रकट भी कर चुका हूँ। मूल ग्रंथ में भी "गोम्मट संगह सुत्त" नाम से ही उसका उल्लेख है। "यथार्थतः उक्त ग्रंथ को संग्रहरूप सिद्ध करने के लिये कोई बड़ी खोज की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि ग्रंथ का नाम ही इस बात को घोषित कर रहा है। किन्तु इसके द्वारा यहाँ पंडित जो यह सूचित करना चाहते हैं कि गोम्मटसार संग्रह ग्रंथ होने से संक्षेप प्रधान सार ग्रंथ नहीं कहा जा सकता, और इसलिये उसमें पुनरावृत्ति व विस्तार का समावेश करना अनुचित नहीं। किन्तु संग्रह ग्रन्थ होने से वह सार ग्रन्थ नहीं रहा, यह बात समझ में नहीं आती। संग्रह और सार रूप परस्पर विरोधी नहीं है, बल्कि एक दूसरे के बहुत अनुकूल हैं। ग्रंथ का जो असली नाम पंड़ितजी ने स्वयं बतलाया है, उसी से यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है। "गोम्मट संगह

सुत्त" नाम स्वयं बतला रहा है कि यह ग्रंथ संग्रह होते हुए भी सूत्ररूप है अर्थात् उसमें संग्रह सार रूप से किया गया है, विस्तार रूप से नहीं। "सुत्त" शब्द मेरे माने हुए सार के अर्थ को बहुत अच्छे और निर्विवाद रूप से घोषित कर रहा है। सारत्व सूत्र ग्रंथ का एक प्राण है। सूत्र की परिभाषा है—

अल्पाक्षरमसंदिग्ध सारवद् गूढनिर्णयम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

यथार्थतः सर्व मान्यतानुसाार संग्रहत्व की अपेक्षा उसके सूत्रत्व या सारत्व पर ही विशेष जोर रहा है और इसी से इस ग्रंथ का नाम "गोम्मटसार" प्रचलित हुआ। यदि मूल ग्रंथ में कुछ गाथाओं की पुनरावृत्ति पाई जाती है तो इससे ग्रंथ में कुछ और अनावश्यक पुनरावृत्ति उत्पन्न कर देना न्यायोचित नहीं हो जाता।

गाथाओं के प्रक्षेप से विशेष आपत्ति और दोष

कर्म प्रकृति की गाथाओं को कर्मकाण्ड में जोड़ने से जो अनावश्यक विस्तार, पुनरावृत्ति आदि बाधाऐं उत्पन्न होती हैं उनके अतिरिक्त मैंने एक ऐसा भी स्थल बतलाया था जहाँ एक जोड़ी हुई गाथा से कर्मकाण्ड में उक्त वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। कर्मकाण्ड गाथा नं० ४७ में देह से लेकर स्पर्श तक पचास प्रकृतियों के होने का उल्लेख है, किन्तु कर्मप्रकृति की गाथा नं० ७५ में देह से लेकर स्पर्श तक ५२ प्रकृतियाँ गिनाई गई हैं। इससे अनुमान होता है कि गाथा नं० ४७ को ग्रंथ में निबद्ध करने वाले के सन्मुख कर्मप्रकृति की उक्त गाथा का पाठ न होकर कोई अन्य पाठ होना चाहिये जिसमें देह और स्पर्श के बीच दो प्रकार की विहायोगति नहीं गिनाई गई होगी। इस आपत्ति का समाधान पं० परमानंदजी इस प्रकार करते हैं—

"यह आपत्ति ठीक नहीं है क्योंकि गाथा नं० ४७ में यह नहीं कहा गया कि" देह से लगाकर स्पर्श तक पचास कर्म-प्रकृतियाँ होती हैं। जैसा कि प्रोफेसर साहब ने समझ लिया है, बल्कि कथन का आशय यह है कि देह से स्पर्श पर्यन्त जो प्रकृतियाँ होती हैं, उनमें से ५० प्रकृतियाँ यहाँ पुद्गलविपाकी के रूप में ग्रहण की जानी चाहिये। "इत्यादि"।

आश्चर्य है "देहादी फासंता पणणासा, आदि गाथा में देह को आदि से लेकर स्पर्श पर्यन्त पचास प्रकृतियों का सूर्य प्रकाश के समान स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी पंडितजी बतलाते हैं कि वहाँ पचास प्रकृतियों का होना नहीं कहा गया, किन्तु दो को निकालकर एचान का होना कहा है। उस गाथा में आदि

और अन्त का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी पंड़ितजी को किस प्रकार दो को अलग कर देने की सूचना मिल जाती है, यह वे ही जाने। यदि विवक्षा के अनुसार पचास को ग्रहण करके शेष को अलग कराना कर्ता का अभिप्राय था तो फिर "देहादी फासंता" कहने की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि केवल "पणणासा" द्वारा ही पचास की सूचना मात्र से विहायोगति के समान अन्य प्रकृतियाँ भी छोड़ दी जा सकती थी। यदि यही कर्ता का अभिप्राय होता तो वहाँ "देहादी फासंता पणणासा" जैसा निर्विवाद और निश्शंक पद प्रयुक्त न होकर कुछ और ही प्रकार से बात कही जाती। टीकाकार ने भी यहाँ देह की आदि से लेकर स्पर्श तक पचास प्रकृतियाँ गिनाई हैं, उनके बीच में से दो छोड़कर पचास करने की कोई सूचना नहीं की। इतने पर भी यदि हम यहाँ उक्त गाथा को बावन प्रकृतियों में से बीच की दो छोड़कर पचास का ग्रहण कर लें और उस गाथा की वहाँ रक्षा कर लें तो भी आगे चलकर पुनः एक आपत्ति खड़ी हो जाती है। **कर्मकाण्ड की गाथा नं० ३४०-४१ इस प्रकार हैं—**

देहादी फासंता थिर-सुह-सर-सुर विहायदुग-दुभंग
णिमिणाजसडणादेज्जं पत्तेयापुराण अगुरूजऊ
अणुदयतदियं णीचमजोगिदुचरिमम्मि

सत्तवोच्छिराणा।

नई खोज और नई व्यवस्था

पं० परमानंदजी ने अपने प्रथम लेख में कर्म प्रकृति की गाथाओं को कर्मकाण्ड में प्रक्षिप्त कर देने की व्यवस्था को अपनी एक मौलिक सूझ के रूप में प्रकट किया था। उसमें ऐसी कोई प्राचीन प्रतियों का उल्लेख नहीं था, जिनमें वह प्रक्षेप उनके देखने सुनने में आया हो। किन्तु अपने इस दूसरे लेख में पंडितजी ने कर्मकाण्ड की ऐसी तीन प्रतियों का परिचय कराया है। "जिनमें वे सब विवादस्थ ७५ गाथाएँ मौजूद हैं, जिन्हें "कर्म प्रकृति" पर से वर्तमान मुद्रित कर्मकाण्ड के पाठ में शामिल करने के लिये कहा गया था। इन प्रतियों में से एक उनके पैत्रिक निवास स्थान शाहगढ़ (जिला सागर) के मंदिर भंडार से और दूसरा उनके स्वयं घर पर उनके पिताजी के संग्रह से उन्हें उपलब्ध हुई है। उनके लिये ये प्रतियाँ इतनी सुप्राप्य होने पर भी किसी कारण से वे उन्हें अब तक नहीं देख पाये थे। अपनी कल्पना के पश्चात् ही उन्हें प्राप्त हो सकीं। इसमें से एक प्रति अधूरी है उसमें कर्मकाण्ड के प्रथम अढ़ाई अधिकार हैं। दूसरी प्रति में कर्मकाण्ड का केवल प्रथम अधिकार

ही है। जिस पर ज्ञानभूषण सुमतिकीर्ति की बनाई हुई टीका भी विद्यमान है और यह सम्वत् १७०४ की लिखी हुई है। तीसरी प्रति उसी जिले के तिगोड़ा ग्राम के शास्त्र भंडार की है। इसमें भी केवल प्रथम अधिकार ही है जिस पर पंडित हेमराज की भाषा टीका भी है। यह सम्वत् १८२९ की लिखी हुई है। इन तीनों में प्रथम अधिकार की गाथा संख्या १६० पाई जाती है। जिनमें कर्मप्रकृति को वे ७६ गाथाऐं भी सम्मिलित हैं। पंडित परमानंदजी इन प्रतियों का यही सामान्य परिचय देकर निकल भागे हैं और अपनी नई खोज के हर्ष में यह आशा कर बैठे हैं कि "सम्पूर्ण विवेचन और प्रतियों के परिचय की रोशनी पर से मैं समझता हूँ इस विषय में अब कोई संदेह नहीं रहेगा कि कर्मकाण्ड का मुद्रित प्रथम अधिकार जरूर त्रुटित है और इसलिये प्रोफेसर साहब ने मेरे लेख पर जो आपत्ति की है वह किसी तरह ठीक नहीं है। किन्तु पंडितजी अपने आवेग के कारण यह नहीं जानते कि न तो उनका विवेचन सम्पूर्ण हुआ और न मेरी उठाई हुई आपत्तियों का ही कोई निराकरण किया जा सका है। उनके प्रतियों के परिचय की रोशनी भी इतनी स्पष्ट नहीं हुई कि जिससे सन्देह का निवारण हो सकता। उलटा उससे ऐसा धुंधलापन फैला है कि संदेह की मात्रा और भी अधिक बढ़ गई है।

पंडितजी ने अपने पहले लेख में यह प्रकट किया था कि "कर्मप्रकृति प्रकरण को" १५९ गाथाओं में से ७५ गाथाऐं ऐसी हैं जो उक्त (कर्मकाण्ड) में नहीं पाई जाती और जिन्हें यथास्थान जोड़ देने से कर्मकाण्ड का सारा अधूरापन दूर होकर सब कुछ सुसम्बद्ध हो जाता है। शेष ८४ गाथाऐं उसमें पहले से ही मौजूद हैं। इन ७५ गाथाओं में से ७० गाथाऐं तो कर्मकाण्ड के उक्त समुत्कीर्तन अधिकार में उपयुक्त बैठती हैं और शेष ५ गाथाऐं कर्मकाण्ड की ८०८ नम्बर की गाथा के बाद होनी चाहिये, क्योंकि इन ५ गाथाओं के बाद कर्मप्रकृति में जो दो गाथाऐं और दी हैं वे उक्त काण्ड में ८०९ और ८१० नम्बर पर पाई जाती हैं। आगे चलकर कहा गया था—शेष ३९ गाथाओं में से ३२ गाथाऐं (नं० १२१ से १५२) कर्मकाण्ड के दूसरे अधिकार में और दो गाथाऐं (नं० १५८, १५९)— छठे अधिकार में पाई जाती हैं। इस पर से कर्मप्रकृति की १५९ गाथाओं को कर्मकाण्ड में यह व्यवस्था जान पड़ी कि उसमें की ७० गाथाऐं प्रथम अधिकार में व ५ गाथाऐं छठे अधिकार में जोड़ दी जाय। शेष में से ३२ गाथाऐं दूसरे अधिकार में व दो गाथाऐं छठे अधिकार में पहले से ही मौजूद हैं। इस प्रकार ७०+५+३२+२ = १०९ गाथाओं के अतिरिक्त जो ५० गाथाऐं कर्म प्रकृति को शेष रहीं वे परिशेष न्याय से कर्मकाण्ड के प्रथम अधिकार में पहले से विद्यमान सिद्ध होती हैं। किन्तु उक्त सामूहिक कथन के अतिरिक्त पंडितजी ने कर्मप्रकृति की गाथाओं की जो

विशेष व्यवस्था कर्मकाण्ड के प्रथम अधिकार में बतलाई है उसमें केवल ६९ गाथाओं की व्यवस्था पाई जाती है। इस प्रकार एक गाथा कहाँ क्या हुई सो स्पष्ट नहीं होता। इसी तरह कर्मकाण्ड के द्वितीय अध्याय में कर्मप्रकृति की जिन ३२ गाथाओं का होना कहा है वे गाथाऐं कौन सी हैं, उनकी गाथा संख्या कर्मकाण्ड में कहाँ से कहाँ तक हैं यह भी नहीं बतलाया गया, यद्यपि यह बतलाने की अत्यंत आवश्यकता थी जैसी कि उन्होंने छठवें अध्याय वाली गाथाऐं निर्दिष्ट की हैं। उक्त व्यवस्था पर से परिशेष न्याय द्वारा यह भी जान पड़ा कि कर्मप्रकृति में वर्तमान प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार की ८६ गाथाओं में से १२९-१५९ अर्थात ५० गाथाऐं ही पाई जाती है। शेष ३६ गाथाऐं उसमें नहीं है। किन्तु पंडितजी द्वारा बतलाई हुई विशेष व्यवस्था पर से पाया जाता है कि उसमें प्रकृति समुत्कार्तन की ५२ से ८६ तक की ही ३५ गाथाओं का अभाव है। इस वैषम्य का संबंध पूर्वोक्त वैषम्य से अनुमान किया जा सकता है।

अब पंडितजी को शाहपुर के मंदिर भंडार से कर्म प्रकृति की जो प्रति मिली है उसमें १५९ की जगह १६० गाथाऐं पाई जाती हैं। यह एक अधिक गाथा पंडितजी ने उद्धृत भी कर दी है, किन्तु उसका कर्मप्रकृति में स्थान निर्दिष्ट नहीं किया न उसकी क्रम संख्या बताई। प्रसंग के अभाव में उस गाथा का अर्थ भी हमें सुस्पष्ट नहीं होता। इसमें की दो गाथाओं को टिप्पणकार ने प्रक्षिप्त कहा हैं तो भी उन सहित वे सब ७६ गाथाऐं कर्मकाण्ड में की नई मिली हुई प्रतियों में पाई गई हैं और वे भी सब प्रथम अधिकार में ही। पर वह एक अधिक गाथा तथा पहले छठे अधिकार में समाविष्ट की गई पाँच गाथा "कहाँ निबद्ध हुई हैं, यह नहीं बतलाया गया। समुत्कीर्तन अधिकार को पूर्वतः विद्यमान ८६ गाथाओं में कर्मप्रकृति की ७६ गाथाऐं जुड़ने से कुल गाथा संख्या १६२ हो जाना चाहिये, किन्तु कहा जाता है कि प्रतियों में कुल गाथा संख्या १६० ही है, फिर भी यह नहीं बतलाया गया कि कौन सी दो गाथाऐं यहाँ छोड़ दी गई हैं। पंडितजी कहते हैं कि कर्मकाण्ड के प्रथम अधिकार का अलग रूप में बहुत कुछ प्रचार रहा है। किसी ने उसे "कर्मप्रकृति" के नाम से, किसी ने कर्मकाण्ड के प्रथम अंश के नाम से और किसी ने कर्मकाण्ड के ही नाम से उल्लेख किया हैं किन्तु पंडितजी की पूर्व बांधी हुई व्यवस्था से तो ज्ञात हुआ कि समुत्कीर्तन अधिकार को ३५-३६ गाथाऐं कर्मप्रकृति में नहीं हैं और कर्म प्रकृति ३९ (३२+५+२) प्रकृति समुत्कीर्तन में समाविष्ट नहीं होती। किन्तु क्या दोनों अधिकारों में गाथा संख्या १६० होने पर ये सब गाथाऐं दोनों की एक हो गई या क्या हुआ सो पंडितजी ने कुछ भी स्पष्ट करने की

कृपा नहीं की। पंडितजी ने पहले समस्त कर्मकाण्ड की त्रुटि पूर्ति करने की व्यवस्था की थी किन्तु वहाँ से अब वे उन गाथाओं को उठाकर पहले ही अधिकार में रख रहे हैं और शेष के विषय में अब वे कुछ नहीं कहते तीर्थंकर प्रकृति के बंध के कारण का निरूपण करने वाली उनसे पहले ही कर्म प्रकृति की ३२ गाथाऐं कर्मकाण्ड के दूसरे अध्याय की हैं, पर कर्मकाण्ड के दूसरे अधिकार में कर्म प्रत्ययों का वर्णन नहीं पाये जाने से ऐसा जान पड़ता है कि कर्म-प्रकृति में तीर्थंकर प्रकृति गोत्र और अन्तराय कर्म के प्रत्ययों का ही कथन है शेष छह कर्मों का नहीं। यदि यह ठीक है तो कहना होगा कि कर्मप्रकृति में भी यह विषय अधूरा ही पाया जाता है।

इस प्रकार की अनेक बातें प्रस्तुत विषय को समझने के लिये नितान्त आवश्यक थी। पर उन सब को पंडितजी ने अंधेरे में ही डाल रखा है यदि पंडितजी चाहते थे कि इस विषय में कोई शंका न रहें तो इन बातों का अवश्य ही खुलासा करना चाहिये था।

इस-बस दृष्टियों से जब तक उन प्रतियों की तथा कर्मकाण्ड व कर्मप्रकृति की अन्यत्र पाई जाने वाली प्राचीन प्रतियों को सूक्ष्म जाँच नहीं की जायेगी तब तक उनके प्रमाणत्व के विषय में कुछ कहना अनधिकार होगा और यह तो माना ही नहीं जा सकता कि ''इस विषय में अब कोई सन्देह नहीं रहेगा, यदि इन प्रतियों में वे अधिक गाथाऐं पाई जाती हैं तो वर्तमान में तो केवल यही कहा जा सकता है क प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार को अधूरा समझकर उसे पूरा करने की कल्पना नई नहीं है किन्तु पुरानी है। यदि इन प्रतियों के पाठों की भूमिका को लेकर ही यह विषय प्रस्तुत किया गया होता तो अच्छा होता और उस पर विचार की दिशा भी भिन्न होती। पंडितजी ने अपने लेख के अंतिम भाग में कहा है कि कर्मप्रकृति को अलग प्रतियों और कर्मकांण्ड की उक्त प्रथमाधिकार की टीकाओं पर से यह स्पष्ट है कि कर्मकाण्ड के प्रथम अधिकार का अलग रूप में बहुत कुछ प्रचार रहा है किसी ने उसे कर्मप्रकृति के नाम से किसी ने कर्मकण्ड के ही नाम से उल्लेखित किया है। इस पर से पंडितजी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि—ऐसी हालत में प्रोफेसर साहब के इस लिखने में कुछ भी सार मालूम नहीं होता कि यदि वह कृति (कर्म प्रकृति) गोम्मटसार के कर्ता की ही है तो वह अब तक प्रसिद्धि में क्यों नहीं आई। किन्तु पंडितजी ने यह स्पष्ट करने की कृपा नहीं की कि मेरे उक्त कथन में सारहीनता पंडितजी को उनको शाहगढ़ की खोज से पूर्व ही मालूम हो गई थी या उसके पश्चात्? पंडित जी यह स्वयं

कहते हैं कि संस्कृत टीका के कर्ता के सन्मुख प्रकृति समुत्कीर्तन का विस्तृत संस्करण नहीं था और न त्रुटित गाथाओं को मालूम करने का उनके पास कोई साधन ही था। वर्तमान में भी उनकी नई खोज से पूर्व कोई भी विद्वान उसकी सत्ता और कर्मकाण्ड से संबंधित जानकारी नहीं रखता था, क्योंकि पंडितजी के कथनानुसार कर्मकाण्ड की त्रुटि खटकती अनेक विद्वानों को थी, किन्तु किसी को उसकी पूर्ति का साधन उपलब्ध नहीं था। ऐसी अवस्था में यदि इस ग्रन्थ के अब तक प्रसिद्धि में न लाने की बात कही जाये तो वह निस्सार कैसे हुई, यह पंडितजी ही जानें।

किसी ग्रन्थ की वर्तमान काल में प्रसिद्धि उसकी सार्वजनिक जानकारी और पठन-पाठन का विषय होने पर से समझी जाती है तथा प्राचीन काल में प्रसिद्धि उसके अन्य लेखकों द्वारा उल्लेखों पर से अनुमान की जाती है। कर्म-प्रकृति के विषय में ये दोनों बातें पंडितजी नहीं बता सके, फिर भी वे कहते हैं— वह काफी तौर से प्रसिद्धि में आई जान पड़ती है। क्या कुछ प्रतियाँ इधर-उधर भंडारों में छुपी हुई पाई जाने से उसकी काफी प्रसिद्धि समझ ली गई? यों तो अनेकानेक छोटी-मोटी रचनाओं, संग्रहों आदि की प्रतियाँ इधर-उधर भंडारों में पड़ी मिलती है। क्या उनकी इस अज्ञात सत्तामात्र से यह कहा जा सकता है कि वे काफी तौर से प्रसिद्ध हैं? यदि हाँ तो पंडितजी की काफी का रहस्य वे ही समझ सकते हैं, दूसरे नहीं।

कर्मप्रकृति और प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार की कुछ प्रतियों की जो अवस्था पंडितजी ने बतलाई है उस पर से तो अभी केवल यही कहा जा सकता है कि— प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार के विषय को सरल व स्वतंत्र ग्रन्थरूप बनाने के लिए कभी किसी ने उसमें कुछ गाथाऐं घटा-बढ़ा दी और उसका पृथक् नाम "कर्मप्रकृति" रख दिया। पश्चात् कर्मकाण्ड की कुछ प्रतियों में भी यह प्रकृतिसमुत्कीर्तन का विस्तृत संस्करण समाविष्ट हो गया। पंडितजी ने एक यह भी सूचना की है कि शाहगढ़ में पाई "कर्मप्रकृति की यह प्रति जो सं० १५२७ की लिखी हुई है, उसी वक्त के करीब की बनी हुई नेमिचन्द्राचार्य की जीवतत्व प्रबोधिनी नाम की संस्कृत टीका हैं।"

यदि ऐसा है तब तो यह बात और भी विचारणीय हो जाती है कि उक्त प्रकाण्ड बहुश्रुत विद्वान टीकाकार ने उस विस्तृत पाठ को अपनी टीका में क्यों नहीं अपनाया? इस पर से क्या यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि टीका लिख डालने के पश्चात् उन नेमिचन्द्राचार्य ने ही प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार को विस्तृत करके उसे कर्मप्रकृति का रूप दे डाला हो? नेमिचन्द्र नाम के साथ सिद्धान्तचक्रवर्ति पद जुड़ते देर भी नहीं लगी होगी। मेरे पूर्व लेख में भी उसी

अनुमान का संकेत था। किन्तु उन अधिक गाथाओं को शिथिल शैली पर से तो उन्हें इन विद्वान टीकाकारजी कृत मानने में भी संकोच होता है।

अभिप्राय यह है कि कर्मप्रकृति की गाथाओं को कर्मकाण्ड में शामिल कर लेने की उतावली नहीं करना चाहिये। अभी उस विषय पर बहुत कुछ सूक्ष्म विचार और खोज करने की आवश्यकता है। वर्तमान में बेहतर तो यह होगा कि उपलब्ध प्रतियों पर से कर्मप्रकृति ग्रन्थ छपा दिया जाय, जिससे उसकी गाथाओं पर सभी कोई आसानी से विचार कर सकें।

त्रुटिपूर्ति का एक प्राचीन उदाहरण

एक प्राचीन ग्रन्थ में कुछ कमी का अनुभव करके उसमें नई रचना जोड़े जाने तथा नामसाम्यादि व अधूरी जाँच पर से उसे पूर्व लेखक की ही रचना अनुमान कर लेने का एक स्वानुभूत उदाहरण देता हूँ। अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त हुये हैं जिनके बनाये हुयें "जसहर चरिउं", "णायकुमार चरिउ", और "महापुराण" काव्य मिले हैं। "इनकी रचना का समय मैंने जैन साहित्य संशोधक खंड २ अंक ३ में प्रकाशित एक लेख के द्वारा शक ८८७ के आसपास राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीय व उनके पुत्र खोट्टेगदेव का राज्यकाल सिद्ध किया था। इसी समय कधिला जिला मुजफ्फरनगर के शास्त्र भंडार से पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार को जसहर चरिउ की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई, जिसमें उन्हें कुछ कडवकों के पाठ अधिक दिखाई दिये। उनको ग्रंथ के मौलिक अंश समझकर मुख्तार साहब ने अपने ता. १ अक्टूबर सन् १९२६ के जैन जगत् में प्रकाशित एक लेख में यह प्रकट किया "कवि पुष्पदन्त विक्रम की १२वीं और शक की १२वीं-१३वीं शताब्दी में हुये हैं " तथा यशोधर चरित की रचना का ठीक समय विक्रम संवत् १३६५ है।" यह ग्रंथ वीसल साहू के उपरोध से लिखा गया है, जो संभवतः पद्दण निवासी खेला साहू के पूर्व तथा छंगे साहु के पौत्र थे और उस समय योगिनीपुर (देहली) में रहते थे। "किन्तु जब उन अधिक पाठों पर खूब गहरा विचार किया गया तब सिद्ध हुआ कि वे अधिक पाठ ग्रंथ के मूलांश नहीं है। उक्त वीसल साहु ने योगिनीपुर में जब ग्रंथ को सुना तब उन्हें जो कमी का अनुभव हुआ उसकी पूर्ति के लिये उन्होंने कण्हड़ के पुत्र गंधव्व नामक कवि से प्रार्थना की और फिर गंधव्व ने अपने पूर्ववर्ती कवि वत्सराज व वासवसेन की रचनाओं पर भैरवानंद का विशेष वर्णन, जसहरकुमार के विवाह का वर्णन तथा भवाँतरों का वर्णन ग्रन्थ में जोड़कर साहुजी की इच्छा को पूर्ण कर दिया। गंधव्व ने अपने पिता का नाम

कण्हड़ प्रकट किया है, इस पर से भी मुख्तार साहब को सहज ही उसके पुष्पदन्त से अभिन्न होने का भ्रम हो गया, क्योंकि पुष्पदन्त ने भी अपने पिता का नाम कण बतलाया है (देखो जैन जगत-१, दिसम्बर सन् १९२६ तथा कारजा सीरीज में प्रकाशित जसहर चरिउ की भूमिका)।

इस प्रकार त्रुटिपूर्ति और तत्संबंधी भ्रम कभी-कभी बड़ी-बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न कर देते हैं, जिनसे पाठ संशोधकों को अत्यंत सतर्क रहने की आवश्यकता है।

परमागम सूत्रों की रचना के उदाहरण और उनके द्वारा कर्मकाण्ड में त्रुटि की भावना का निराकरण;

अब मैं सिद्धान्त ग्रन्थों में से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ जहाँ सामान्य नाम निर्देश व प्ररूपणादि प्रसंगागत क्रम में से भी उनके सुगम होने या अन्यत्र रचना पर से अनुमेय होने के कारण जान-बूझकर बिना किसी खास सूचना के सूत्रकारों द्वारा छोड़ दिये गये हैं।

श्री धवल में (अ. प्रति पत्र १११४) फास अनुयोगद्वार का प्रकरण है। सूत्रकार ने फास के सोलह अनुयोग द्वार गिनाये हैं। यथा-तत्थ इमणि सोलस अणियोग दाराणि णोदव्वणिभवंति फासणिक्खेवे फासण्यविभासणादाए, आदि इनमें के प्रथम अनुयोगद्वार फासनिक्षेप प्ररूपण के साथ ही फास अनुयोगद्वार समाप्त कर दिया गया है। शेष पन्द्रह अनुयोगद्वारों का वहाँ कोई कथन नहीं है। इस पर धवलाकार कहते हैं—

जदि कम्मफासे पयदं तो कम्मफासो सेसपरणरस अणिओगद्दारेहि भूदबलि भयवदा सो एत्थं किरण परूविदो? णा एस दोसों, कम्मक्खंधस्स फाससणिणदस्स सेसाणिओगद्दारेहि परूवणए कोरमाणाए परूविदत्थादो विसेसो रात्थित्ति काइण अकयत्तप्परूवणात्तादो।

अर्थात् यदि कर्म स्पर्श से प्रकृत में अभिप्राय है तो कर्मस्पर्श का शेष पन्द्रह अनुयोगद्वारों से भी भगवान भूतबलि ने यहाँ क्यों नहीं उसका प्ररूपण किया? इसका उत्तर है कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वेदना में स्पर्श समन्वित कर्मस्कन्ध का शेष अनुयोगद्वारों से जो प्ररूपण किया जा चुका है उससे यहाँ कोई विशेष नहीं है और इसी कारण सूत्रकार ने यह प्ररूपण यहाँ नहीं किया।

इसी प्रकार कर्म का प्रकरण उक्त सोलह अनुयोगद्वारों में से केवल कर्मनिक्षेप का कथन करके सूत्रकार ने छोड़ दिया है। तो भी टीकाकार ने अल्पबहुत्व की वहाँ आवश्यकता समझकर उसका कथन कर दिया है और फिर शंका उठा कर उसका समाधान किया है।

"असम्बद्धमिदमप्पाबहुअं सुत्ताभावादों? णा एस दोसों, देसामासियसुत्तेण पुव्वपरूविदेण सूचिदत्तदों।"

अर्थात्—यदि कोई प्रश्न करें कि यह अल्प बहुत्व का कथन तो यहाँ सूत्र का आधार न होने से असम्बद्ध है, तो उसका उत्तर है कि यह कोई दोष नहीं है क्योंकि पूर्व प्ररूपति सूत्र देशाभाषक (एक देश प्ररूपण द्वारा समस्त प्रकरण को सूचित करने वाला) होने से यहाँ के विषय की सूचना मिल जाती है।

आगे फिर टीकाकार कहते हैं—

चौदस अणिओगदाराणि एत्थ परूवेदव्वणि।
उवसंधारकारएण किमटंठतेसि परूवणा णा कदा?
णा एस दोसों, कम्मस्म सेसाणिओगद्दारेहि परू वणाए
कीरमाणाए पुणारूत्तददोसो पसज्जदित्ति, तदपरूवणा दो।
महाकम्पयडिपाहुडे किमटंठ तेहि, अणिओगद्दारेहि तस्स
परूबण कदा? मा मंदः मेहाविजणाणुग्गहटंठ पयट्टपरूवणाए
पुणारूत्तदो साभावादों।

अर्थात् यहाँ चौदह अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा होनी चाहिये थी, फिर महाकर्मप्रकृति पाहुड के उपसंहारक अर्थात् भूतबलि आचार्य ने उनका प्ररूपण क्यों नहीं किया? यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कर्म की उन शेष अनुयोगद्वारों से प्ररूपणा करने में पुनरुक्ति दोष उत्पन्न होता है, इसलिये उनकी प्ररूपणा नहीं की गई। यहाँ शंका अनुयोगद्वारों से क्या महाकर्म प्रकृतिपाहुड़ में उनकी प्ररूपणा की गई है। इसका उत्तर है कि मंदबुद्धि लोगों के उपकार के लिये की गई प्ररूपण से वहाँ पुनरुक्तिदोष उत्पन्न नहीं होता।

इसी प्रकार सूत्रकार ने प्रथम वर्गणा के आठ अनुयोग द्वार बतलायें हैं और फिर उनमें से प्रथम अनुयोगद्वार वर्गणा के सोलह अवान्तर अनुयोगद्वार कहें हैं। किन्तु केवल प्रथम दो अनुयोगद्वारों से कथन करके तथा शेष चौदह छोड़कर सूत्रकार दूसरी मुख्य अनुयोगद्वार पर जा पहुँचते हैं। इस पर टीकाकार लिखते हैं—

वागणापरूवणा सोलसेहि अणियोगदारेहिक-टठामोत्ति पइज्जं काऊण पूणों तत्थ आइल्लाणं दोणणा चेव अणियोगद्दाराणां परूवणां काऊणा सेसेत्थतणा चोद्दसेहि अणिओगद्दारेहि वग्गणापरू वणामकाऊण वग्गणदव्वसमुदाहारे त्ति किमिदि बोत्त मारद्दो? णा, वग्गणापरूवणा वग्गणा-णामें गसेढ़ि भणादि वग्गणादव्वसमुदाहारों पुण वग्गणण णाणोगसेढीओ भणदि। तेण वग्गणादव्व समुदाहारं परूवणा वग्गणपरूवणविणाभविणि ति

कट्टु वग्गणदव्वसमुदाहारों वोत्तुमाढत्ती। अणणाहा गंथ बहुत पुराणरूत्तदोसपसंगादो। (ध.अ. पत्र १२२१)

अर्थात्— वर्गणा की प्ररूपणा सोलह अनुयोगद्वारों से करेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा करके भी केवल आदि के दो अनुयोगद्वारों का प्ररूपणा किया गया है और वहाँ के शेष चौदह अनुयोगद्वारों का प्ररूपण न करके सूत्रकार ने वर्गणाद्रव्य समुदाहार का कथन क्यों प्रारंभ कर दिया? इसका उत्तर है कि वर्गणा प्ररूपणा तो वर्गणाओं को केवल एक श्रेणी का कथन करती है किन्तु वर्गणाद्रव्य समुदाहार वर्गणाओं की अनेक श्रेणियों का वर्णन करता है। इससे सिद्ध है कि वर्गणाद्रव्य-समुदाहार प्ररूपणा वर्गणाप्ररूपणा के बिना होती ही नहीं है, अर्थात् उसकी अविनाभावी है। इसी विचार से यहाँ वर्गणाद्रव्यसमुदाहार का कथन प्रारंभ कर दिया गया है। अन्यथा ग्रंथ बहुत बढ़ जाता और पुनरूक्तिदोष का भी प्रसंग आ जाता।

जयधवला (अ.पत्र ६४०) में उत्तर प्रकृति अनुभाग संक्रम का चौबीस अनुयोगद्वारों द्वारा प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा पाई जाती है और चौबीसों अनुयोगद्वारों के नाम भी दिये गये हैं। उनमें से प्रथम अनुयोगद्वार "सरणा का प्ररूपणा" करते समय जयधवलाकार कहते हैं—

सामित्तमिदाणिं कस्सामों त्ति पइरणा वक्क मेद। सव्व-णोसव्वसंकमादीणां सुत्ते किमट्ठणिदेसों ण कदो? णा तेसि सुगमाणां वक्खाणादो चेव पड्वित्ती होइत्ति,— तदकरणादों।

अर्थात् सूत्र में यहाँ स्वामित्व अनुयोगद्वार के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सर्व संक्रम, नोसर्व संक्रम आदि (दस अनुयोगद्वारों) का निर्देश क्यों नहीं किया गया? इसका उत्तर यह है कि वे अनुयोगद्वार सुगम है, उनकी व्याख्यान से ही (व्याख्यानाचार्यकृत विवरण से) प्रतिपत्ति हो जाती है, इस कारण उनका यहाँ निर्देश भी सूत्रकार ने नहीं किया।

इस प्रकार सोलहवें अनुयोगद्वार भंगविचओं के पश्चात् फिर भागाभाग आदि चार अनुयोगद्वारों को छोड़कर एकदम "नानाजीवे हि कालों" सूत्र द्वारा इक्कीसवें अनुयोगद्वार का प्ररूपण कर दिया है। यहाँ फिर टीकाकार कहते हैं।

एवं भंगविचओं समत्तो। एत्थेदेण सूचिद-भागाभाग परिमाण खेत्त फोसणणां पि विहत्ति भंगों।

अर्थात् इस प्रकार भंगविचय समाप्त हुआ यहाँ इसी सूचना से भागोभाग, परिमाण, क्षेत्र और स्पर्शन इन चार अनुयोगद्वारों का भी विवरण समझ लेना चाहिये।

६— जयधवला, पत्र ६५४ पर अमुक विषय के अनुयोगद्वारों के विवरण

में सूत्रकार समुत्कीर्तना को छोड़कर स्वामित्व का कथन करने लगते हैं। यथा—

एदेण अटठपदेण सामित्त।।

यहाँ फिर जयधवलाकार कहते हैं—

किमटठमेत्थ सामित्तादीणां जोणोभूदा समुकित्तणा सुक्षयारेण ण परूविदा, णा, सुगमत्ता हिप्पाएणा तदपरूवणादों। तत्थ वक्खाणाइरिएहिं समुकित्ताणा कायव्वा। तं जहा।

अर्थात् यहाँ पर स्वामित्तवादि की योनिभूत समुत्कीर्तना का सूत्रकार ने क्यों नहीं प्ररूपणा किया? इसका उत्तर है कि हाँ किया, क्योंकि सूत्रकार का अभिप्राय था कि समुत्कीर्तना सुगम है। अतएव यहाँ व्याख्यानाचार्यों द्वारा समुत्कीर्तना का व्याख्यान किया जाना चाहिये और वह इस प्रकार है।

एक स्थान पर चूर्णिसूत्रकार बीच में आठ अनुयोगद्वारों का प्ररूपण छोड़ गये हैं। वहाँ जयधवलाकार कहते हैं—

संपहि एत्थुद्देसे सुगमत्ताहिप्पाएणा चुणिणा—सुत्तयारेणाडपरूविदाणां णाणाजीव भंगविचया

दोणामट्ठणह मणियोगदारणां उच्चारणावलेण परूवणां वत्तइस्मामों (*जयधवलापत्र* ६८६)

अर्थात् इस प्रकरण में सुगमत्व के अभिप्राय से चूर्णि-सूत्रकार नानाजीवभंग-विचय आदि आठ अनुयोगद्वारों का प्ररूपण छोड़ गये हैं। अतएव उनका प्ररूपण हम उच्चारणचार्य के कथन पर से करते हैं।

८— एक जगह तो सूत्रकार चौबीस अनुयोगद्वारों के नाम निर्देश में से भी अनेक नामों को छोड़ गये हैं। यथा—

तत्थ इमाणि अणियोगदृाराणि। तं जहा— पमाणाणुगमों सामित्तं कालो अंतरं नानाजीवेहि भंगविचअी काली अन्तरं सणिणायासों अप्पा-बहुअं-भुजयारों पदणिक्खेवों खड्ढिटठाणणि च

इस सूत्र को टीकाकार कहते हैं—

एत्थ सुगमत्तादो अणुवइटठाणां सव्वणोस—व्वउक्कस्स—धणुक्कस्स जहणणाजहणणा-सादि अगदि धुव अधुवाणियोगद्दाराणा मद्दाच्छेदा, णांतरणिद्देसा विहाणां भागाभाग परिमाण खेत्त पोसणणां च भंगविश्यणंतर णिद्देसजोग्गाण भावाणुगभस्स च संग हो कायव्वों।

अर्थात् यहाँ उक्त सूत्र में सुगमता के कारण अनुपदिष्ट सर्वनोसर्व उत्कृष्ट

अनुत्कृष्ट, जघन्या-जघन्य आदि-अनादि ध्रुव-अध्रुव अनुयोगद्वारों का अद्वाछेद के अनन्तर निर्देश होना चाहिये तथा भागाभाग, परिमाण क्षेत्र और स्पर्शन का भंगविचय के अनन्तर निर्देश योग्य है। अतः इनका तथा भावानुगम का भी यहाँ संग्रह कर लेना चाहिये।

ऐसे उदाहरणों की संख्या चाहे जितनी बढ़ाई जा सकती है जहाँ क्रमागत नामनिर्देश और उनके लक्ष्ण सूत्रकारों द्वारा छोड़ दिये गये हैं। अब यदि टीकाकार वीरसेन स्वामी को वे त्रुटित जान पड़ते तो उनके सन्मुख सूत्रों के अतिरिक्त उच्चारणाचार्यों और व्याख्यानाचार्यों की इतनी साहित्य सामग्री थी कि कहीं से भी जोड़-तंगोड़ कर वे उस कमी की पूर्ति कर देते। किन्तु वीरसेनाचार्य एक अत्यंत कुशल और सावधान टीकाकार थे। उन्होंने ऐसा ख्याल नहीं किया कि वहाँ पाठ त्रुटित है या कोई सूत्र छूट गये हैं या जुदा पड़ गये हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि सूत्रकार ने सुगम जानकर या पहले आ जाने से या व्याख्यान सुलभ होने से, उन निर्देशों, लक्षणों आदि को छोड़ दिया है। यदि इस बात की इतनी स्पष्ट सूचना न करके टीकाकार वहाँ उनका व्याख्यान कर देते तो शायद पं० परमानन्दजी यहाँ भी यही कहते कि टीकाकर अमुक सूत्रों को त्रुटित समझते थे नहीं तो वे उनका प्रसंग अपनी टीका में क्यों जोड़ते। क्या उन उदाहरणों के प्रकाश में पंडितजी अब भी कहेंगे कि "मुद्रित कर्मकाण्ड के उक्त अधिकार में सम्पूर्ण उत्तर प्रकृतियों का वर्णन न होना जरूर ही उसके त्रुटित होने को सूचित करता है? तथा कोई भी सहृदय विद्वान यह नहीं कह सकता कि नेमिचन्द्र जैसे सिद्धान्त चक्रवर्ति विद्वान आचार्य ने अपने कर्मकाण्ड को ऐसा त्रुटिपूर्ण बनाया होगा? क्या पंडितजी अब भी कर्मकाण्ड के विषय में "अधूरापन असंगतपन और लडूरापन" की कल्पना को कायम रखकर उसे दूर करने के लिये उसके परम्परागत पाठ में जोड़ा-तोड़ी करने का साहस करेंगे?

अनुभाग— ३

आचार्य

श्री कुन्दकुन्दाचार्य

भारतीय संस्कृति का विशेष लक्षण है—अध्यात्म चिन्तन। यह अध्यात्म चिन्तन की धारा इस देश के प्राचीनतम काल से लगाकर वर्तमान तक अक्षुण्ण पाई जाती है। हमारे धर्म, नीति और सदाचार में तो अध्यात्म की प्रधानता है ही, किन्तु हमारी कला व विज्ञान भी आध्यात्मिक प्रभाव से ओतप्रोत हैं। हमारा सहित्य तो एक प्रकार से अध्यात्मवादमय ही है।

भारतीय जीवन में भी अध्यात्मिकता ने ऐसा स्थान कर लिया है कि यहाँ वही साहित्य सर्वश्रेष्ठ माना गया है और वही अधिक से अधिक लोकप्रिय भी हुआ है, जिसमें आत्मा-परमात्मा का निरूपण है। इसी कारण सन्तसाहित्य हमारी संस्कृति की अनुपम निधि कहलाती है। चाहे ब्राह्मण साहित्य हो चाहे बौद्ध व जैन; आध्यात्मिकता की कसौटी पर ही उसकी अच्छाई-बुराई मापी गई है।

जैनधर्म एक प्रकार से आत्मा को परमात्मा बनाने की कला कहा जा सकता है। अतएव कोई आश्चर्य नहीं जो उसका साहित्य अध्यात्म-प्रचुर हो। यों तो भगवान् महावीर के समय से लगाकर आज तक जिन जैन आचार्यों ने साहित्य निर्माण किया है उन सभी ने अपने-अपने ढंग से आत्मा के ही गुण-धर्मों का विश्लेषण किया है और सत्प्रवृत्तियों के अभ्यास का उपदेश दिया है, किन्तु उनमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य की रचनायें अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। जनःश्रुति तो यह है कि कुन्दकुन्द स्वामी ने चौरासी 'पाहुड़ों' की रचना की थी। किन्तु आज उनके नाम की जो रचनायें उपलब्ध हैं और जिनके कर्तृत्व के संबंध में कोई विशेष विवाद भी नहीं है, उनकी संख्या १४ है। इन रचनाओं के नाम हैं— दर्शन पाहुड, चारित्रपाहुड, सूत्र पाहुड, बोध पाहुड, भाव पाहुड, मोक्ष पाहुड, लिंग पाहुड, शील पाहुड, रत्नसार, द्वादशानुप्रेक्षा, नियमसार, पंचास्तिकाय, समयसार और प्रवचनसार। इन सभी ग्रंथों में संसार के स्वरूप और आत्म कल्याण का विचार विविध दृष्टिकोणों से किया गया है। इनमें की अन्तिम चार रचनाओं की विशेष रूप से प्रसिद्धि है और वे बहुत ही लोकप्रिय हैं।

नियमसार में कुल १८७ प्राकृत गाथाएं हैं जिन पर पद्मप्रभ मलधारीदेव की संस्कृत टीका पाई जाती है। इसमें मोक्षमार्ग रूप रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप बतलाया गया है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप है आप्त, आगम और तत्त्वों में श्रद्धान करना। मोह आदि दोषों से रहित और केवल ज्ञान सहित जीव ही सच्चा आप्त है। ऐसे ही सर्वज्ञ आप्त द्वारा दिया हुआ उपदेश आगम कहलाता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल में छह-द्रव्य ही तत्वार्थ हैं। जीव का स्वरूप ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोगमय है। ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुलावधि तथा, मति, श्रुत, अवधिः मनःपर्यय और केवल रूप से आठ प्रकार और दर्शन व चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्थ केवल चार प्रकार का होता है। जीवों की सांसारिक गतियां चार हैं— मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरक। मनुष्य कोई कर्मभूमि में उत्पन्न होते हैं और कोई भोगभूमि में। ये सब जीव नाना प्रकार के कर्म करते हैं और तदनुसार ही सुख-दुःख भोगते हैं।

परमाणु से लगाकार अति स्थूल स्कंध तक पुद्गल के अनेक भेद हैं। रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्गल के विशेष गुण हैं। जीव और पुद्गल को एक स्थान से दूसरे स्थान जाने में जो द्रव्य सहायक होता है वह धर्म द्रव्य कहलाता है तथा उनके ठहरने में सहायक होने वाला द्रव्य अधर्म कहलाता है। जीवादिक द्रव्यों में जो परिवर्तन उत्पन्न करता है वह काल द्रव्य है। काल द्रव्य एक-एक प्रदेश रूप है जिनका संचय नहीं होता। इसी से काल को अस्तिकाय नहीं कहते। शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं। इन छहों द्रव्यों में से केवल जीव द्रव्य ही सचेतन है और शेष सब अचेतन। कर्मोपाधिरूप से संलग्न समस्त भावों को दूर कर शुद्ध आत्मोपयोग को प्राप्त होना ही जीव का परम ध्येय है। इस परमध्येय की प्राप्ति के लिये जीव को व्यवहार और निश्चय रूप चारित्र का अभ्यास करना आवश्यक है। अहिंसादि पांच व्रत, ईर्यादि पांच समिति तथा मन वचन और काय रूप तीन गुप्ति समुचित रूप में इन सब का समुचित रूप से पालन करना ही व्यवहार चारित्र है। इस चारित्र की परिपूर्णता द्वारा घातिया कर्मरहित व केवल ज्ञान सहित होकर जीव अरहंत परमेष्ठी बन जाता है। इस चारित्र द्वारा जो संसार के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो चुकें हैं वे सिद्ध परमेष्ठी हैं। जो पंचाचार में पूर्णता प्राप्त कर जीवों को इस चारित्र की दीक्षा देते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। जो इस चारित्र के पालने योग्य रत्नत्रय का उपदेश देते हैं वे उपाध्याय हैं तथा जो सर्वपरिग्रह का त्यागकर चारित्र की साधना के अभ्यास में संलग्न हैं वे साधु कहलाते हैं। निश्चय चारित्र की प्राप्ति का साधन हैं 'न मैं नारकी हूं, न तिर्यंच; न मनुष्य हूं न देव' इत्यादि रूप से भेद बुद्धि द्वारा माध्यस्थ भाव की उपलब्धि। इसके लिये मौन रहकर राग-द्वेष रहित परिणामों से धर्म ध्यान व ध्रुव ध्यान रूप प्रतिक्रमण करना चाहिये। शुभ और अशुभ का त्यागकर आत्मा के केवलज्ञानादि स्वरूप के ध्यानरूप प्रत्याख्यान करे। समता भाव रखें,

कर्मों के नाश योग्य अपने परिणामों को निर्मल बनावे, वीतराग भाव में लवलीन हो तथा मद, मान, माया, लोभादि भावों से अपने को विशुद्ध करें, ये आलोचना के प्रकार हैं। व्रत और शील संयुक्त होकर, इंद्रियों की प्रवृत्ति को रोकना, क्रोधादि शत्रुओं को क्षमादि भावों द्वारा जीतना, आत्मस्वरूप के चिन्तन द्वारा कायोत्सर्ग करना, ये ही प्रायश्चित्त के लक्षण हैं। समस्त स्थावर व त्रस जीवों के प्रति समताभाव प्राप्त करना, राग द्वेष रूप विकृतियों का अभाव कर डालना, आर्त और रौद्रध्यान का सर्वथा हर कर देना, पुण्य और पाप दोनों प्रवृत्तियों के परे अपने परिणाम विशुद्ध बनाना यही सामायिक रूप परम समाधि है। परम भक्ति दो प्रकार की है—जब कोई श्रावक या मुनि रत्नत्रय तथा सिद्धों की भक्ति करता है तो वह निवृत्ति भक्ति है। और जब वह रागादिक भावों का परित्याग कर आत्म में लीन होता है तब योगभक्ति होती है। परभाव को छोड़कर अपने ही निर्मल स्वभाव आत्मा का ध्यान करना ही निश्चय 'आवश्यक' है और इसी के द्वारा श्रामण्य संपूर्ण होता है। और क्रमशः जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

दर्शन और ज्ञान में भेद यह है कि जिस चैतन्यवृत्ति के द्वारा जीव को आत्मभान होता है वह दर्शन है, और जिसके द्वारा उसे पर पदार्थ का भान होता है वह ज्ञान है। छद्मस्थ अवस्था में ये दोनों वृत्तियां एक साथ नहीं होती; किन्तु केवली के एक साथ होती है। केवली होकर ही जीव वह मुक्त अवस्था प्राप्त करता है जहां न जन्म जरादि का भय है, न इन्द्रियों की विषयता है, न पुण्य पाप का बंधन और सुख-दुःख का भेद। वहां आत्मा की अनन्त शक्तियों का विकास होकर परमात्मत्व भाव प्राप्त हो जाता है।

नियमसार के इस समस्त विषय प्ररूपण को टीकाकार पद्मप्रभ मलधारी-देव ने बारह अधिकारों में विभाजित किया है जो किसी विशेष व्यवस्था को लिये हुए नहीं प्रतीत होते। इस ग्रंथ की कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। जिन तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यदर्शन का अंग माना गया है वे अन्यत्र जीव, अजीव आश्रव, संवर, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष माने गये हैं। किन्तु यहां पर जीव पुद्गल आदि षट्द्रव्यों को ही तत्त्वार्थ कहा है (गाथा ९)। षड् आवश्यकों के नाम मूलाचारादि ग्रंथों में पाये जाते हैं—

यहां (गाथा ८३ आदि में) श्रुति और वन्दना को न गिनाकर आलोचना और परम भक्ति का निरूपण किया गया है। यद्यपि अन्य दो में समावेश द्वारा इस विषमता का परिहार किया जा सकता है, फिर भी आवश्यकों की नामावली और ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय है। १७हवीं गाथा में उल्लेख किया गया है कि मनुष्य आदि चार गतियों के जीवों के जिन विभागों का ऊपर संकेत किया जा चुका है

उनका विस्तार 'लोक विभागों में' से जानना चाहिये। कुछ विद्वानों का मत है कि यहां 'लोक विभाग' नामक किसी ग्रंथ विशेष या और संभवतः—लोक विभाग का उल्लेख है। किन्तु अन्य विद्वानों का मत है कि यहाँ बहुवचन का प्रयोग होने से किसी विशेष ग्रंथ का उल्लेख न होकर तद्विषयक साहित्य का अभिप्राय लेना चाहिये।

पंचास्तिकाय पाहुड में अमृतचन्द्र की टीकानुसार १७३ तथा जयसेनाचार्य की टीकानुसार १८१ गाथाएं हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश, इन पांच अस्तिकायों के समवाय को ही तीर्थंकरों ने 'समय' कहा है, और इन्हीं से तीनों लोक उत्पन्न हुए हैं। काल द्रव्य के प्रभाव से इनमें परिवर्तन भी होता रहता है। ये परस्पर मिलकर भी रहते हैं। किन्तु अपने-अपने ध्रुव स्वभाव की कमी हानि नहीं करते। सभी द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं, अपनी पर्याय बदलते भी हैं और अपना स्वभाव स्थिर भी रखते हैं ये ही द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण हैं। वे सब परस्पर सापेक्ष हैं। अर्थात् एक-दूसरे के बिना नहीं होते। जो वस्तु हैं उसका कभी सर्वथा नाश नहीं होता और जो नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं होती : केवल वस्तुओं के गुण पर्यायों में उत्पाद और व्यय होता रहता है। जैसे, जीव में चैतन्य गुण है जो कभी नष्ट नहीं होता। किन्तु उसकी पर्यायें देव मनुष्य, तिर्यच व नारक रूप में बदलती रहती हैं। वही जीव मनुष्य पर्याय से नष्ट होकर देव, नारक या तिर्यंच हो जाता है। यथार्थतः जीव न मरता न उत्पन्न होता है। ज्ञानावरणादि कर्म जीव के साथ लगे हैं, इनसे छूटने पर ही वह अभूतपूर्व सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है।

पुद्गल काय के स्कंध, स्कंध देश, स्कंध प्रदेश और परमाणु ये चार प्रकार हैं। परमाणु स्कंध का अन्तिम भेद अखंड और अविनाशी है। उसमें रस, वर्ण, गंध और स्पर्श क्षय जाते हैं। किन्तु शब्द स्कंध से ही उत्पन्न होता है, परमाणु से नहीं। धर्म और अधर्म अरूपी द्रव्य हैं और लोकाकाश भर में व्याप्त है। तथा जीव और अजीव को क्रमशः गमन व स्थिति में सहायक होते हैं। आकाश लोक और अलोक में विभाजित हैं। जहां जीवों तथा अजीव द्रव्यों का वास पाया जाता है। वह लोकाकाश है, और जहां नहीं पाया जाता वह अलोकाकाश हैं। सिद्धों का निवास लोक शिखर पर है, क्योंकि उसके आगे धर्म द्रव्य का अभाव होने से उनका गमन नहीं होता। इंद्रियों द्वारा मूर्तीक पदार्थों का ही ग्रहण होता है, किन्तु मन मूर्तीक व अमूर्तीक दोनों को ग्रहण करता है। काल का विचार दो प्रकार से किया गया है। निश्चय और व्यवहार। निश्चय नय के अनुसार काल द्रव्य अविनाशी है, किन्तु व्यवहार से वह क्षणभंगुर है। द्रव्य होते हुए भी काल अस्तिकाय नहीं है।

जीव, अजीव, पुण्य और पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये नव पदार्थ

हैं। पृथ्वी, अप, और वनस्पति कायिक ये तीन एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं तथा अग्नि और वायु में कायिक एकेन्द्रिय जीव तथा द्वीन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यन्त सब त्रस हैं। पुद्गलादि द्रव्य अजीव हैं जिनमें सुख, दु:ख का ज्ञान व हिताहितविवेक नहीं पाया जाता। जीव के शुभ परिणामों में पुण्य और अशुभ परिणामों से पाप उत्पन्न होता है। प्रशस्त राग, अनुकम्पा युक्त परिणाम तथा चित्त में कालुष्य का अभाव में इनसे पुण्यास्त्रव होता है। अरहंत, सिद्ध साधु व धर्म में भक्ति रखना व गुरुओं का अनुसरण करना प्रशस्त राग कहलाता है। दुखी व भूखे-प्यासे जीव को देखकर स्वयं दुखी होना अनुकम्पा है तथा क्रोध, मान, माया और लोभकषायों से जो क्षोभ होता है वही मन का कालुष्य है। इसी से तथा प्रमाद युक्त चारित्र विषयों में लोलुपता तथा परताप व परनिन्दा आदि से पाप का आस्त्रव होता है। इन्द्रियों के संयम से तथा द्रव्यों में राग, द्वेष व मोह के अभाव से पुण्य-पाप आस्त्रव की रोक हो जाती है वही संवर है। संवर के साथ जब नाना प्रकार का तप भी किया जाता है तब कर्मों की निर्जरा होती है। और समस्त कर्मों की निर्जरा से मोक्ष प्राप्त होता है।

यह पंचास्तिकाम पाहुड का सार है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि गाथा १०३ व १०४ में कर्ता ने स्पष्ट रूप से पंचास्तिकाय संग्रह का उपसंहार कर दिया है और गाथा १०५ में उन्होंने महावीर को नमस्कार करके मोक्षमार्ग रूप पदार्थों के अंगों को कहने की प्रतिज्ञा की है। इससे अनुमान होता है कि कर्त्ता ने इन दो रचनाओं को पृथक्-पृथक् ग्रंथों के रूप में निर्माण किया होगा। किन्तु एक तो दूसरी रचना की प्रथम गाथा में 'तेसिं' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है। और दूसरे ग्रंथ की अन्तिम गाथा में पुन: 'पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र' का उपसंहार किया गया है, जिसके कारण ही ये दोनों पृथक् रचनायें एक ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत की हुई मिलती हैं।

कर्ता ने दो बार अपनी इस रचना को 'संग्रह' कहा है जिससे अनुमान होता है कि उन्होंने इसमें बहुत सी प्राचीन, रचनाओं का समावेश किया होगा। ग्रंथ की अनेक गाथाएं विविध प्राचीन ग्रंथों मे पाई भी जाती हैं।

पत्तिथावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया तेसु तसा।

विषय की दृष्टि से ध्यान देने योग्य बात यह है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने यहां गा० ११९९ में अग्नि और वायु कायिक जीवों की गणना त्रस जीवों में की है, जबकि अन्यत्र दिगम्बर ग्रंथों में पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति ये पांचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीव स्थावर माने गये हैं।

महाकवि पुष्पदन्त के समय पर विचार

अपभ्रंश भाषा के इन जैन महाकवि का परिचय श्रीयुक्त नाथूराम जी प्रेमी द्वारा सर्वप्रथम कराया गया है। कवि के बनाये हुए 'महापुराण' और 'यशोधर चरित' से कर्त्ता के सम्बन्ध में जो कुछ विदित हो सका है वह प्रेमी जी बता चुके हैं। कवि के बनाये हुए 'नागकुमार चरित' नामक एक और काव्य की जानकारी हमें मिल चुकी है, पर प्रेमीजी को उसकी कोई प्रति देखने नहीं मिल सकी थी। जब मुझे कारंजा (बरार) के शास्त्रभंडारों को देखने का अवसर मिला। वहां के बलात्कार गण मन्दिर में पुष्पदन्त कवि के 'महापुराण' और 'यशोधर चरित' के अतिरिक्त 'नागकुमार चरित' की दो प्रतियां देखने को मिली। एक संवत् १५५६, चैत्र शुक्ल १, शनिवार की लिखी हुई १३६ पत्रों की है, व दूसरी ८८ पत्रों की है, जिसमें लिखने का संवत् नहीं पाया गया, पर देखने से यह प्रथम प्रति से कुछ पीछे की जान पड़ती हैं। ग्रंथ ९ संधि अर्थात् परिच्छेदों में समाप्त हुआ है। इसके भी आदि और अंत में कवि ने अपना कुछ परिचय दिया है। अपने पिता 'केशवभट्ट' व माता 'मुग्धादेवी' अपने आश्रयदाता भरत के पुत्र 'नन्न' व उनके 'कौण्डिन्य' गोत्र और अपने 'ब्राह्मणकुल' व 'काश्यप गोत्र'; का कवि ने यहां भी उल्लेख किया है। एक पद्य से कुछ ऐसा भाव निकलता है कि कवि पहले शिवभक्त थे, पर पीछे 'गुरु' के वचनामृतपान से जिनभक्त हो गये थे[2]। उक्त दोनों प्रतियों में 'गुरु' पर 'दिगम्बर' ऐसा टिप्पण दिया है, जिससे विदित होता है कि किसी दिगम्बर मुनि के उपदेश से वे शैवधर्म को छोड़ जिन धर्मावलम्बी हुए थे। अपने आश्रयदाता 'नन्न' की माता भरतमंत्री[3] की भार्या का नाम कवि ने

---

१. जैन साहित्य संशोधक', खण्ड २, अंक १, पृष्ठ ५७-८०.

२. सिवभत्ताइमि जिण सण्णासे। वेविमयाइ दुरियणिण्णासे।

वैभणाइ कासवरिसि गोत्तइं। 'गुरु' वयणामय पूरिय सोत्तइं। (अवतरण देखिये)

३. शक सं० १०६० में 'होयसाला नरेश', 'विष्णुवर्धन' के एक मंत्री का नाम भी 'भरत' था। वह जैन धर्मावलम्बी व माघनन्दि आचार्य का शिष्य था। (Repertoire D'Epigraphic Jaina by Guerinot p. 13, Ins. No. 307-308).

'कुंदव्वा'[1] दिया है। जिस प्रकर भरत के अनुरोध से उन्होंने महापुराण की रचना की थी, उसी प्रकार 'नागकुमार चरित' उन्होंने 'नन्न' की प्रार्थना से रचा। उनके दो शिष्य 'गुणध(व)र्म' और 'शोभन'[2] व अन्य दो सज्जन 'नाइल्ल' और 'शीलभट' ने भी इस रचना के लिये कवि को प्रेरणा की। ग्रंथ के आदि और अंत में कवि ने नन्न की खूब प्रशंसा की है।

साहित्य-क्षेत्र में पुष्पदन्त की खूब ख्याति रहीं है। उनका उल्लेख बहुत से कवियों ने किया है। 'कनकामर' कवि ने अपने करकण्डू चरित में उन्हें 'वाएसरि घरु' (वागेश्वरी गृह) कहा है, यथा :—

जयएव सयंभु विसाल चित्तु। वाएसरिघरु सिरि पुष्फयंतु ।।

सोमकीर्ति अपने 'यशोधर चरित' (संपूर्ण हुआ वि० सं० १५३६) में कहते हैं :—

यत्प्रोक्तं हरिषेणाद्यैः पुष्पदन्त पुरःसरैः ।
श्रीमद्वासवसेनाद्यैः शास्त्रस्यार्णवपारगैः ।।
तच्चरित्रं मया नूनं बालेन शक्यते कथम् ।
बाहूभ्यां सागरं घोरं केनापि तरितुं यथा ।।

सोलहवीं शताब्दी के एक और अपभ्रंश भाषा के कवि 'सिंहसेन' अपने आदिपुराण में पुष्पदन्त को स्मरण करते हैं :—

पुणु वि सयंभु महाकइ जायउ ।
चउमुह पुष्फयंतु विक्खायउ ।।

यहां हम पुष्पदन्त कवि के समय पर विचार करेंगे। महापुराण में पुष्पदन्त ने जिन आचार्यों व कवियों का उल्लेख किया है उनमें 'अकलंक', 'वीरसेन' और 'जिनसेन' सबसे पीछे के विदित होते हैं। 'राज वार्त्तिक' आदि ग्रंथों के कर्त्ता प्रसिद्ध तार्किक अकलंक राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज के समय में हुए हैं जिन्होंने शक संवत् ६७५ से ६९७ तक राज्य किया[3]। जयधवल सिद्धान्त की वीरसेनीय टीका के पूर्व भाग को वीरसेन स्वामी ने जयतुंग देव के समय में रचा था और उसी के उत्तर भाग को उन के शिष्य जिनसेन ने शक सं० ७५९ में अमोघवर्ष

---

१ **'कुदव्वागब्भसतुब्भवस्स'**। राष्ट्रकूटवंशी प्रसिद्ध नरेश महाराज अमोघवर्ष की रानी का नाम 'कन्दक देवी' था। ये 'कन्दक देवी' चेदि नृप 'युवराज' की राज कन्या थी।
(Studies in South Indian Jainism)

२ सम्भवतः ये दोनों भरत के सात पुत्रों में से थे। (देखों प्रेमीजी का लेख)

३ देखो 'जैनहितैषी' भाग ११, अंक ७-८ पृ०, ४२७-४२९.

नृप के समय में समाप्त किया था[१]। जयधवल सिद्धान्त का भी उल्लेख पुष्पदन्त ने अपने काव्य में किया है। अत: अकलंक, वीरसेन, जिनसेन व जयधवल सिद्धान्त का उल्लेख करने वाले कवि को शक सं० ७५९ से पीछे होना चाहिये।

अब हमें देखना चाहिये कि क्या कोई अन्य बात भी पुष्पदन्त के काव्यों में ऐसी हैं जो उनके समय-निर्णय में सहायक हो सकती हों। आदिपुराण की उत्थानिका से विदित होता है कि कवि ने उस की रचना मान्यखेटपुर में आकर की थी और उस समय वहां 'तुड़िगु' नाम के राजा राज्य करते थे जिन्होंने चोड़ राजा का मस्तक काटा था। 'मान्यखेट' निजाम हैदराबाद के राज्यान्तर्गत आधुनिक 'मलखेड़' का ही प्राचीन नाम है। अनुमान होता है कि कवि के समय में वह चोड़ मंडल को जीतने वाले किसी प्रतापी नरेश की राजधानी थी। पर जब हम इतिहास के सफे उलटते हैं तो शक सं० ७३७ से पूर्व मान्यखेट का कोई पता नहीं चलता। जान पड़ता है कि उक्त समय तक वह कोई प्रसिद्ध नगर नहीं था। उस के आसपास का प्रदेश चालुक्य राज्य के अंतर्गत था, जिस की राजधानी नासिक के निकट 'वातापि' या 'बादामि' नगरी थी। चालुक्य वंश की इतिश्री शक सं० ६७५ में राष्ट्रकूट वंश के राजा दन्तिदुर्ग द्वारा हुई; और उनके वंशज महाराज अमोघवर्ष ने शक सं० ७३७ (सन् ८१५) में अपनी राजधानी 'मान्यखेट' में प्रतिष्ठित की। इसी समय से यह नगर इतिहास में प्रसिद्ध हुआ है।[२]

अब हमें यह खोज करना चाहिये कि क्या 'तुड़िगु' नाम के यहां कोई राजा हुए हैं? महापुराण में अन्य कई स्थानों पर पुष्पदन्त ने इसी राजा का उल्लेख 'शुभतुंगदेव' और 'भैरव नरेन्द्र' के नाम से किया है और 'यशोधरचरित' व 'नागकुमारचरित' में राजा का नाम 'बल्लभराय' पाया जाता है। जहां-जहां इन नामों में से किसी का भी उल्लेख आया है वहां टिप्पणकार ने उस पर 'कृष्णराज' ऐसा टिप्पण दिया है। इस पर से यही अनुमान किया जा सकता है, जैसा कि प्रेमीजी ने कहा है, कि 'तुड़िगु', 'शुभतुंगदेव', 'भैरवनरेन्द्र', 'वल्लभराय' और 'कृष्णराज' ये पांचों किसी एक ही राजा के नाम हैं और इन्हीं के समय में पुष्पदन्त ने अपने काव्यों की रचना की है। 'बल्लभराय' राष्ट्रकूट नरेशों की आम उपाधि थी। अरब के कई लेखकों ने इन नरेशों का

---

१. देखो 'विद्वद्रत्नमाला' भाग १, पृ० २९

२. 'उब्बद्धजूडु भूभंग भीसु। तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीसु।
भुवणेक्कराम रायाहिराउ। जहि अच्छइ तुड़िगु महाणुभाउ।
तं दीण दिण्ण घन कणयपयरु। महिपरि भमंत मेवा(ल्पा) डिनयरु।।

उल्लेख 'वल्हारा' शब्द में किया है, जो वल्लभराय का ही अपभ्रंश है[१]। जिनसेनाचार्य ने हरिवंशपुराण की प्रशस्ति में 'इन्द्रायुध' को 'श्रीवल्लभ' विशेषण दिया है।[२]

'कृष्णराज' नाम के तीन राजा राष्ट्रकूट वंश में हुए हैं। इनमें से प्रथम तो वे हैं जिनके समय में अकलंक स्वामी हुए हैं, व जिनके पुत्र और उत्तराधिकारी 'इन्द्रायुध' के समय (शक सं० ७०५) में जिनसेन ने हरिवंश पुराण की रचना समाप्त की थी। इनके समय तक मान्यखेट राजधानी नहीं हुई थी। पर दूसरे और तीसरे कृष्णराज मान्यखेट के सिंहासन पर हुए हैं। कृष्णराज द्वि० अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी थे, जिन्होंने लगभग शक सं० ८०० से ८३७ तक राज्य किया। इनके समय में मान्यखेट पुरी चालुक्य वंशी राजा विजयादित्य तृतीय द्वारा लूटी और जलाई गई थी[३]। कृष्णराज तृतीय के लिये शिलालेखों से शक सं० ८३२, ८६७, ८७३ और ८७८ के उल्लेख मिले हैं। उन का सब से अन्तिम उल्लेख शक सं० ८८१ का सोमदेव ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में किया है। इन सबसे पहले की एक तिथि कृष्णराज के लिये मुझे कारंजा भंडार के 'ज्वाला मालिनि कल्प' नामक ग्रंथ में देखने को मिली, इस ग्रंथ के अन्तिम पद्य में हैं—

अष्टाशत सैकषाष्ठिप्रमाण शक वत्सरेध्वतीतेषु ।
श्री-मान्यखेटकटके पर्वण्यक्षयतृतीयायाम् ।।१।।
शतदलसहित-चतुःशत-परिमाण-ग्रंथ-रचनया युक्तम् ।
श्रीकृष्णराज-राज्ये समाप्तमेतनमतं देव्याः ।।२।।

इससे विदित होता है कि उक्त ग्रंथ की रचना शक संवत् ८६१ की अक्षय तृतीया को समाप्त हुई थी और उस समय मान्यखेट नगर में 'कृष्णराज' राज्य करते थे। ये राजा कृष्णराज तृतीय के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकते। इस प्रकार कृष्णराज तृतीय का राज्य काल कम से कम शक सं० ८६१ से लगाकर ८८१ तक सिद्ध होता है।

---

१. V. Smith, Early History of India. Ed. III. pp.424-430.

२. "They (Arabe) called the 'Rāshtrakūta kings 'Balhārā' because those princes were in the habit of assuming the title 'Vallabha' (Beloved Bier, aime) which, in combination with the word 'Rai' (prince) was easily corrupted in to the form 'Balhārā'.

'पातीन्द्रायुधि नाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्'।
[V. Smith, E. H. I. pp. 424-430]

३. 'The Eastern Chalukya Vijayaditya III (A.D. 844-888) boasts that he captured the Rāshtrakūta capital and burnt it; and the assertion seems to be borne out by other inscriptions. Imp. Gaz. Vol. II, p. 33.

हम ऊपर कह गये हैं कि पुष्पदन्त ने अपने समय के 'तुड़िगु' अपर नाम कृष्णराज द्वारा चोड़ नृप के मारे जाने का उल्लेख किया है। राष्ट्रकूट वंशी राजा जैन धर्मानुयायी थे और इस समय के चोड़ नरेश कट्टर 'शैव'। दोनों खूब बलवान् भी थे। अतः दोनों बीच अक्सर ही युद्ध छिड़ा रहता था। कभी राष्ट्रकूटों की जीत हो जाती थी तो कभी चोड़ों की। मैसूर प्रान्त के 'अतकूर' नामक स्थान से एक शिलालेख मिला है जिसमें ऐसे ही एक युद्ध का उल्लेख है। उससे विदित होता है कि शक सं० ८७१ (सन् ९४९) में जब राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज और चोड़ नृप 'राजादित्य' के बीच युद्ध चल रहा था तब कृष्णराज के सहायक व उनके बहिनोई गंगनरेश 'बुनुग' (भूतराय द्वि०) द्वारा राजादित्य की मृत्यु हुई[१]। इसी शिलालेख के आधार पर सर विन्सेन्ट स्मिथ ने अपने 'भारत के प्राचीन इतिहास' में लिखा है कि 'कृष्ण तृतीय' के समय की राष्ट्रकूटों और चोड़ों की लड़ाई विशेष उल्लेखनीय है–क्योंकि सन् ९४९ में चोड़ राजा 'राजादित्य' की समरभूमि में ही मृत्यु हुई[२]। क्या आश्चर्य यदि पुष्पदन्त ने अपने पुराण में इसी घटना का उल्लेख किया है।

प्रेमीजी ने उत्तर पुराण के ५०वें परिच्छेद के प्रारम्भ का एक श्लोक उद्धृत किया है जिससे विदित होता है कि उस पुराण के समाप्त होने से कुछ पूर्व मान्यखेट पर किसी 'धारा नरेश' ने चढ़ाई की थी और उस सुन्दर नगर को नष्ट भ्रष्ट कर डाला था[३]। हम ऊपर कह आये हैं कि कृष्णराज द्वितीय के समय में मान्यखेट पुरी लूटी और जलाई गई थीं, पर किसी 'धारानाथ' के द्वारा नहीं, वेंगी के चालुक्यवंशी राजा ने उसे लूटा था। देखना चाहिये कि क्या कभी किसी धारा के राजा द्वारा भी मान्यखेट लूटा गया है। धनपाल कवि अपने 'पाइयलच्छी नाम माला' नामक कोष के अंत में, श्लोक २७६ आदि में लिखता है कि 'विक्रम संवत् १०२९ में जब मालवा वालों के द्वारा मान्यखेट लूटा गया था तब धारा नगरी निवासी धनपाल कवि ने अपनी बहिन सुन्दरा के लिये यह पुस्तक बनाई[४]। इस उल्लेख से हमें मान्यखेट पर आक्रमण करनेवाले राजा का नाम तो विदित नहीं हुआ, पर इतना पता चल गया कि वि० सं० १०२९ (शक सं० ८९४) के लगभग धारा वालों ने मान्यखेट को लूटा था। खोज करना चाहिये। शायद इस विषय पर कहीं से कुछ और प्रकाश पड़े। ग्वालियर के 'उदयपूर' नामक स्थान

१. Epigraphia Indica Vol. III, p. 50.
२. V. Smith, E.H. I., pp. 424-430.
३. दीनानाथधनं सदा बहुधनं प्रोत्फुल्ल-वल्ल-वनम् मान्याखेटपुरं पुरंदरपुरीलीलाहरं सुन्दरम्। धारानाथनरेन्द्रकोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियम्। क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदन्तः कविः।
४. विक्कमकालस्सगए अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि। मालवनरिन्द धाडिए लूडीए मन्नखेडम्मि।। इत्यादि

से एक शिलालेख मिला है, जिस में मालवा के परमारवंशी राजाओं की प्रशस्ति दी हुई है[१]। इस प्रशस्ति का बारहवां पद्य यह है :—

तस्माद् (वैरिसिंहात्) अभूदरिनरेश्वर-संघ-सेवा-
गर्जद्गजेन्द्र-रव- सुन्दर-तूर्य-नादः।
श्रीहर्षदेव इति खोटिगदेव-लक्ष्मीं
जग्राह यो युधि नगाद-सम-प्रतापः।।

'खोट्टिगदेव' कृष्णराज तृतीय के चचेरे भाई थे जो उनके पीछे मान्यखेट के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। उक्त पद्य से हमें दो बातें नई विदित हुईं। एक तो वही कि जिस की हम खोज में थे। अर्थात् मान्यखेट की लूटमार कराने वाले 'धारानाथ' का नाम। और दूसरी यह कि उस लूटमार के समय मान्यखेट के स्वामी खोट्टिगदेव थे। वैरिसिंह के पुत्र श्रीहर्षदेव का नाम 'नव साहसांकचरित' में 'श्रीहर्ष' या 'सीयक', तिलकमंजरी में हर्ष और सीयक व प्रबन्धचिन्तामणि में श्रीहर्ष, सिंहभट और 'सिंहदन्त' पाया जाता है[२]। इस प्रकार 'पाइयलच्छी नाममाला' और उदयपुर प्रशस्ति से यह सिद्ध हुआ कि वि० सं० १०२९ लगभग जब सीयक 'श्रीहर्ष' द्वारा मान्यखेट लूटा गया था उस समय कृष्णराज तृतीय की मृत्यु हो चुकी थी और उन का उत्तराधिकारी खोट्टिगदेव वहां के सिंहासन पर था।

अब इससे आगे बढ़ने से पूर्व हमें यहां तक की छानबीन को पुनः दृष्टि गोचर कर लेना चाहिये :—

१. पुष्पदन्त ने अकलंक, वीरसेन और जिनसेन का उल्लेख किया है। इससे उनका काव्य-रचना-काल शक सं० ७५९ से पीछे होना चाहिये।

२. पुष्पदन्त ने अपने समकालीन मान्यखेट नरेश का 'वल्लभराय' नाम से उल्लेख किया है, जिस पर 'कृष्णराज' टिप्पण पाया जाता है। मान्यखेट के सभी राष्ट्रकूट वंशी राजाओं की 'बल्लभराय' उपाधि थी, उनमें कृष्णराज नाम के दो राजा हुए हैं।

३. पुष्पदन्त ने अपने समय के मान्यखेट नरेश द्वारा 'चोड' राजा के मारे जाने का उल्लेख किया है। कृष्णराज तृतीय ने शक सं० ८७१ में चोड़ राजा से युद्ध किया था और वहां के राजा की समरभूमि में ही मृत्यु हुई थी।

४. पुष्पदन्त ने धारा नरेश द्वारा मान्यखेट के लूटे जाने का उल्लेख किया है। शक सं० ८९४ के लगभग धारा के परमार राजा श्रीहर्ष द्वारा मान्यखेट के लूटे जाने का पता चलता है।

---

१. Epigraphia Indica Vol. I., p. 226.
२. भारत के प्राचीन राजवंश, भाग १, पृ० ९२.

इस प्रकार इन ऐतिहासिक तथ्यों के मिलान से इसमें बहुत कम सन्देह रह जाता है कि पुष्पदन्त ने अपने काव्यों की रचना मान्यखेट के राष्ट्रकूट वंशी राजा कृष्णराज तृतीय के समय में की थी, जिनके अभी तक, जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं, शक सं० ८६१ से लगाकर ८८१ तक के उल्लेख मिले हैं। यह राजा जैनियों का बड़ा भक्त था व बड़ा प्रतापी और बलवान् भी था। सोमदेव ने उसे पांड्य, सिंहल, चोल, चेरम, आदि प्रदेशों का विजेता कहा है। शिलालेखों से भी सिद्ध है कि उसने चोड़ मण्डल के प्रबल राजा को परास्त कर वहां राष्ट्रकूटाधिपत्य स्थापित किया था। उसने गंगराजा 'राचमल' को पराजित कर वहां की गद्दी पर 'भूतराय' को बैठाया था[१]। यही 'भूतराय' चोड़युद्ध में उनके सहायक हुए थे और इन्हीं के द्वारा चोड़ राजा का मस्तक काटा गया था। सम्भव है कि इसी प्रताप के कारण उन्होंने 'भैरव नरेन्द्र' की उपाधि भी प्राप्त कर ली हो, जिसका कि उल्लेख पुष्पदन्त ने अपने काव्य में किया है। या स्वयं पुष्पदन्त ने ही उनके लिये उक्त 'विरुद' निर्धारित कर लिया हो। कविराजों को ऐसी स्वतंत्रता रहती है। 'शुभतुंग' कृष्णराज प्रथम का उपनाम अनुमान किया जाता है। ब्रह्मनेमिदत्तने इस राजा का इसी पद से उल्लेख किया है[२]। उसी का 'मल्लिषेण प्रशस्ति' में 'साहसतुंग' नाम पाया जाता है[३]। पर सम्भव है कि ये भी वल्लभराय के समान राष्ट्रकूट नरेशों के सामान्य 'विरुद' थे। देवली के ताम्रपत्रों से यही बात सिद्ध होती है[४]। यह भी हो सकता है कि शुभतुंग व साहसतुंग इस वंश के खास-खास प्रतापी नरेशों की उपाधि रही हो। हम देख चुके हैं कि मान्यखेट को लूटमार से कुछ पूर्व ही कृष्णराज की मृत्यु हो चुकी थी क्योंकि उस लूटमार के समय उनके उत्तराधिकारी 'खोट्टिगदेव' सिंहासन पर थे। यदि इसी लूटमार का उल्लेख पुष्पदन्त ने किया है तो स्वयंसिद्ध है कि उन्होंने उत्तरपुराण का अन्तिम भाग, 'यशोधर चरित' और 'नागकुमार चरित' कृष्णराज के उत्तराधिकारियों के समय में लिखे थे। ये राजा 'कृष्णराज'

---

१. Duff's Chronology, p. 89.

२. अत्रैव भारते मान्यखेटाख्य नगरे वरे। राजाभूत् शुभतुंगाख्यस्तनमंत्री पुरुषोत्तमः।।
यह शुभतुंग (कृष्ण प्रथम) की मान्यखेट का राजा कहा है, पर इतिहास कहता है कि इनके समय तक राष्ट्रकूट राजधानी वातापि में थी। मान्यखेट पुरी को अमोघवर्ष प्रथम ने सन् ८१४ ईस्वी में बसाया था। (Deoli plates).

३. राजन् साहसतुंग सन्ति वहवः श्वेतातपत्रा नृपाः
किंतु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः। इत्यादि।

४. 'The Rashtra-Kutas are stated in it (Deoli plates) to have sprung from the Satyiki branch of Yadava race and to be known as '*Tunga*'
(Ins. in C.P. & Berar, p. 10)

के समान प्रतापशाली नहीं हुए। इनके समय में राष्ट्रकूट राज्य को अवनति प्रारम्भ हो गई थी। शायद इसी से हम उत्तरपुराण के अन्तिम भाग, यशोधर चरित और नागकुमार चरित में शुभतुंगराय व भैरवनरेन्द्र का उल्लेख नहीं पाते। यहां राजा का उल्लेख केवल 'वल्लभराय' से किया गया है जो राष्ट्रकूट नरेशों की साधारण उपाधि थी। 'तुड़िगु' तामिल व कनड़ी आदि किसी दक्षिणी भाषा का शब्द है। सम्भवतः वह भी कोई प्रतापसूचक उपाधि होगी।

अब हमें प्रेमीजी के उस पाठ पर विचार करना चाहिये, जिससे महापुराण की समाप्ति सं० ६०६ में पाई जाती है। समयसूचक पद्य 'जैन साहित्य संशोधक' में उद्धृत अंश के अनुसार ये हैं :—

पुप्फयंत कयणा धुयपंके। जइ अहिमाण मेरुणामंके।।
कयउं कव्वु भत्तिए परमत्थें। छसय छडीत्तर कय सामत्थें।।
कोहण संवच्छरे आसाढए। दहमए दियहे चंद रुइ रूढ़ए।।

निस्सन्देह इन पदों से संवत् ६०४, क्रोधन, आषाढ शुक्ल १०वीं को महापुराण समाप्त होने का बोध होता है। अब इनके स्थान पर कारंजा की प्रति का पाठ देखिये[१]:—

पुप्फयंत कइणा धुयपंके। जइ अहिमाण मेरुणामंके।
कयउ कव्वु भत्तिए परमत्थें। जिणपयपंकय मउलियहत्थें।
कोहण संवच्छरे आसाढए। दहमए दियहे चंदरुइ रूढ़ए।

यह पाठ और तो सब बातों में ऊपर के पाठ के ही समान है पर इसमें सं० ६०६ के सूचक पद का पता नहीं है। उसके स्थान पर जो पद हैं उससे संवत् का कोई बोध नहीं होता। इन पाठों में से कौन सा शुद्ध और कौन सा अशुद्ध माना जाये। प्रेमीजी मुझे सूचित करते हैं कि ऊपर वाला पाठ अनेक प्राचीन प्रतियों में पाया जाता है। इससे उसे सहसा अशुद्ध और जाली कहने का भी साहस नहीं होता। न तो सं० ६०६ शक गणना के अनुसार क्रोधन था और न विक्रम गणना के अनुसार। पर सम्भव है कि यह इन से भिन्न कोई और संवत् का वर्ष हो[२]।

अब हमें महापुराण की समाप्ति का समय अन्य प्रकार से शोधना पड़ेगा। इस पुराण के प्रारम्भ के एक पद्य से विदित होता है कि पुष्पदन्त ने उस पुराण

१. यह प्रति संवत् १६०५ मार्गशीर्ष वदि ५, भृगुवार की है।

२. गुप्त और कलचुरि संवत् से भी यह समय ठीक नहीं बैठता। गुप्त संवत् का प्रारम्भ सन् ३१९ ईसवी व कलचुरि संवत् २४९ ईसवी से माना जाता है।

की रचना किसी सिद्धार्थ संवत्सर में प्रारम्भ की थी। सोमदेवकृत यशस्तिलक चम्पू के उपसंहार वाक्य को देखिये :—

शक-नृप-कालातीत-संवत्सर-शतेष्वष्टस्वेकाशीत्याधिकेषु गतेषु अंकतः (८८१) सिद्धार्थ-संवत्सरान्तर्गत चैत्रमासमदन-त्रयोदश्यां पांड्य-सिंहल-चोल-चेरम-प्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाद्ध्य मेलपाटी-प्रवर्धमान-राज्य-प्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगत-पञ्च-महा- शब्द-महासामन्ताधिपतेश्चा-लुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूड़ामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथम पुत्रस्य श्रीमद्वद्दि-गराजस्य लक्ष्मीप्रवर्द्धमान-वसुंधरायां गंगाधारायां विनिर्मापितामिदं काव्यमिति।

इससे प्रसंगोपयोगी हमें केवल इतनी बात विदित होती है कि शक सं० ८८१ सिद्धार्थ संवत्सर था और उस समय मान्यखेट में चोल आदि नरेशों को जीतने वाले रांजा कृष्णराज (तृतीय) का राज्य था। महापुराण का प्रारम्भ भी इसी सिद्धार्थ संवत्सर में होना चाहिये। पुराण की समाप्ति का समय प्रेमीजी के पाठ के समान ही 'कारंजा' की प्रति में भी क्रोधन संवत्सर आषाढ़ शुक्ल १०वीं दिया हुआ है। क्रोधन संवत्सर साठ-साला-संवत्-चक्र में सिद्धार्थ संवत्सर से ६ वर्ष बाद आता है। अतः महापुराण की समाप्ति का ठीक समय शक सं० ८८७ आषाढ़ शुक्ल १०वीं सिद्ध होता है। श्रीयुत राय बहादुर बाबू हीरालालजी ने मेरे लिये इस तिथि का मि. स्वामी कन्नूपिलाइ के 'इंडियन एफेमेसिस' नामक सारिणी से मिलान किया तो इसकी अंग्रेजी सम-तिथि ११ जून सन् ९६५ ईस्वी (रविवार) आती है। प्रेमीजी ने 'चंदरुइरूढए' का अर्थ 'सोमवार' किया है। पर मेरी समझ में उसका ठीक अर्थ चंद्रवार नहीं शुक्लपक्ष है। चंद्ररुचि रूढे—अर्थात् जब चंद्रमा वृद्धिशील होता है। मुझे भी सन्देह था कि सम्भव है उक्त पद में 'सोमवार' का भी भाव हो और शायद आषाढ़ शुक्ल १०वीं रविवार को प्रारम्भ होकर सोमवार तक गई हो। पर राय बहादुर हीरालालजी उसका ठीक मिलान कर लिखते हैं कि उक्त तिथि रविवार को ही सूर्योदय से १३ घंटे १५ मिनट पश्चात् अर्थात् सायंकाल को समाप्त हो चुकी थी।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब पुष्पदन्तने अपने पुराण समाप्त होने के माह और तिथि दिये हैं तब क्या उन्होंने संवत् का उल्लेख नहीं किया होगा? यह तो सिद्ध है कि 'छसय छडोत्तर कय सामत्थे' वाला पाठ ठीक नहीं है या कम से कम उपर्युक्त चार संवतों के अनुसार वह ठीक नहीं बैठता। पर उसके स्थान पर कारंजा की प्रति का जो पाठ है उसमें संवत् आदि का कोई भाव नहीं है। जब मैंने कारंजा की प्रति का अवलोकन किया था, उस समय तक प्रेमीजी के अवतरण मेरे देखने में नहीं आये थे। तब मुझे ऊपर उद्धृत

पद्यों में 'जइ अहिमाण मेरुणामंके' में किसी संवत् की सूचना छुपी होने का सन्देह हुआ था, पर प्रेमीजी के संवत् का स्पष्ट बोध कराने वाले पाठ को देखकर मेरा वह सन्देह दूर हो गया था। पर अब पुनः मेरी दृष्टि उसी पद पर जाती है। मैंने अपने इस सन्देह का संकेत बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार से भी किया था। पर उन्होंने लिखा कि 'अभिमानमेरु' कवि का उपनाम है, उसमें अंकों आदि का कोई भाव नहीं। पर मुझे इससे सन्तोष नहीं हुआ 'अभिमानमेरु' कवि का उपनाम अवश्य है; कई स्थानों पर उन्होंने अपने इस 'विरुद' का उल्लेख किया है; पर हो सकता है कि यहां पर कवि का यह भाव रहा हो और अंकों का भी। खासकर 'अंके' शब्द से यह सन्देह और भी दृढ़ होता है। अंक का लांछन भी अर्थ होता है और गणना भी। अतः संभव है कि प्रयत्न करने से उसमें संवत् का भाव निकले। उक्त पद के एक २ अक्षर को लीजिये। 'जइ' संस्कृत के 'यति' का अपभ्रंश-रूप विदित होता है। उससे सप्त ऋषियों का भी बोध हो सकता है अतः उसकी अंक संख्या ७ मानी जा सकती है। 'अहिमाण' अभिमान के बराबर है जिससे अष्ट मद का बोध होता है और उसकी अंक संख्या ८ ली जा सकती है। 'मेरु' से आठ का भाव लेने के लिये मैं कोई प्रमाण नहीं पा सका[१]। पर यदि उससे ८ का भाव लिया जा सकता हो और '*अंकानां वामतो गतिः*' के नियमानुसार हम इन अंकों को '*दांये से बांई की ओर का रक्खें*' तो संवत् ८८७ निकल सकता है। बहुत सम्भव है कि इस पद में ऐसा अर्थ हो, पर जब तक अष्ट मेरु के लिये कोई प्रमाण न मिल जावे तब तक इस कल्पना पर अधिक जोर नहीं दिया जा सकता।

जब हम यह सिद्ध करते हैं कि महापुराण शक संवत् ८८७ (वि० सं० १०२२) में समाप्त हुआ था तब हमें मानना पड़ेगा कि मान्यखेट की जिस लूटमार का कवि ने उत्तरपुराण के ५०वें परिच्छेद में उल्लेख किया है वह वि० सं० १०२२ से पश्चात् नहीं हो सकती। पर धनपाल की 'पायलच्छी नाम माला' में उस घटना के उल्लेख से ऐसा मालूम पड़ता है कि वह उस ग्रंथ के समाप्त होने के वर्ष वि० सं० १०२९ में ही हुई थी। इस विरोध का परिहार कैसे हो? उदयपुर प्रशस्ति से सिद्ध है कि उक्त घटना के समय मान्यखेट के सिंहासन पर 'खोट्टिगदेव' आरूढ थे। 'खोट्टिग' के उत्तराधिकारी कक्कराज का एक दानपत्र शक सं० ९९४ (वि० सं० १०२९) आश्विन शुक्ल १५ का मिला है।[२] उससे सिद्ध होता है कि

१. जैन शास्त्रों में 'मेरु' पांच माने गये हैं। शक संवत् ८८७ भी क्रोधन था पर अन्य प्रमाणों से वह समय पुप्पदन्त के लिये ठीक नहीं माना जा सकता।

२. Ind. Ant., Vol XII, p. 263.

'खोट्टिग' की मृत्यु आश्विन शुक्ल १५ सं० १०२९ से पूर्व ही हो चुकी थी और उस समय तक हर्षदेव के भीषण आक्रमण के पश्चात् इतना समय बीत चुका था कि राजधानी में फिर से शान्ति और सुप्रबंध स्थापित हो जाये। यदि ऐसा न होता तो उक्तसमय में मान्यखेट के राजा को दान पत्र निकालते बैठने का अवकाश न मिलता। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वि०सं० १०२९ में उक्त घटना कम से कम पांच-सात वर्ष पुरानी हो चुकी थी। हर्षदेव का आक्रमण मलयखेट पर कब हुआ इस का कुछ अनुमान इस प्रकार लगाया जा सकता है। 'महापुराण', 'सिद्धार्थ' संवत्सर में प्रारम्भ होकर क्रोधन संवत्सर में समाप्त हुआ था। अत: उसके १०२ परिच्छेदों की रचना में कवि को छह वर्ष लगे, जिसकी औसत एक वर्ष में १७ परिच्छेदों की आती है। कवि ने मान्यखेट की लूटमार का उल्लेख आदिपुराण के ३७ व उत्तर पुराण के ४९ परिच्छेद पूर्ण हो जाने पर किया है। उत्तर पुराण के शेष १६ परिच्छेदों की रचना में कवि को अधिक से अधिक एक वर्ष लगा होगा। अत: वि०सं० १०२२-१=१०२१ के लगभग मान्यखेट की लूटमार होना सिद्ध होता है लगभग आठ वर्ष पुरानी घटना का वि० सं० १०२९ में हुई जैसी उल्लेख करने का यह कारण हो सकता है कि हर्षदेव मान्यखेट पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् और कई प्रदेशों को जीतते हुए वि० सं० १०२९ में धारा राजधानी में पहुंचे होंगे। इस विजय यात्रा में मान्यखेट की विजय ही सबसे अधिक कीर्त्तिकारी हुई होगी। इसी से धनपाल ने उसका उल्लेख विशेषरूप से किया। ऐसी यात्रा में सात-आठ वर्ष व्यतीत हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

महापुराण की उत्थानिका से विदित होता है कि पुष्पदन्त किसी राजा द्वारा सताये हुए मान्यखेटपुर को आये थे। आंध्र-कर्नाटकदेश में विक्रम की १०वीं शताब्दी तक तो जैनधर्म का खूब जोर रहा और वहां के राजा जैन आचार्यों की अच्छी भक्ति करते रहे, पर दशवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वहां शैवधर्म का प्राबल्य बढ़ा और जैनियों को आपत्ति पहुंचाई जाने लगी। 'वारंगाल कैफियत' से जाना जाता है 'राजराज नरेन्द्र' के समय में वहां के एक बड़े जैन आचार्य 'वृषभनाथ तीर्थ' को राजधानी 'राजमहेन्द्री' छोड़कर वारंगाल भाग आना पड़ा था, जिसका कारण उनका राजराजनरेन्द्र द्वारा सताया जाना ही विदित होता है। यह राजा कट्टर शैव था, जो सन् १०२२ (शक ९४४) में राजमहेन्द्री के तख्त पर बैठा[१]। क्या आश्चर्य यदि महाकवि पुष्पदन्त भी यहीं के किसी ऐसे ही राजा द्वारा सताये हुए मान्यखेट आये हों। मान्यखेट के राष्ट्रकूट नरेश

१. Studies in South Indian Jainism, p. 18.

जैनधर्म में श्रद्धा और जैन कवियों को आश्रयदान के लिये खूब विख्यात थे। यही नहीं, उनमें से कई स्वयं अच्छे कवि हुए हैं। 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' के कर्त्ता अमोधवर्ष प्रसिद्ध ही है। इन्हीं की छत्र-छाया में जिनसेन, गुणभद्र, सोमदेव, महावीराचार्य आदि धुरंधर जैनाचार्यों ने वहां जैनधर्म की ध्वजा फहराई थी। मान्यखेट में जैन कवियों का अच्छा जमाव रहता था। कवि ने स्वयं उसे 'दीनानाथ-धनं सदा बहुधनं' कहा है। इसी कीर्त्ति से आकर्षित होकर पुष्पदन्त मान्यखेट आये होंगे। पर वे 'अभिमान मेरु' थे, इससे सीधे राजदरबार में नहीं गये। नगर के बाहर ही एक उपवन में टिके रहे। पर मान्यखेट में उनके जैसे कवि रत्न देर तक छिपे नहीं रहे सकते थे। वे मंत्री भरत से मिला दिये गये। वहां उनका खूब आदर सत्कार हुआ, स्वयं भरत के प्रासाद में उन्हें रहने को स्थान दिया गया और वे कविता करने को प्रोत्साहित किये गये।

यह निर्णय किये जाने के अभी कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं कि महापुराण से कितने समय पश्चात् 'यशोधर चरित' और 'नागकुमार चरित' को रचना हुई। पर इतना निश्चित है कि वे दोनों महापुराण से पीछे लिखे गये हैं। महापुराण पूर्ण होने तक भरत मान्यखेट के मंत्रित्व पद पर थे। पर अन्य दो काव्यों की रचना के समय उन के पुत्र 'नन्न' उक्त पद को विभूषित कर रहे थे। उन्हीं की प्रेरणा से उन्हीं के शुभतुंग प्रासाद में रहते हुए कवि ने उक्त दो काव्यों की रचना की। इन काव्यों में यथावसर 'नन्न' की ही कीर्ति वर्णित है। इस समय या तो भरत की मृत्यु हो चुकी थी या उस समय की प्रथा के अनुसार वे अपने चौथेपन में संसार से विरक्त हो, गृहभार अपने सुयोग्य पुत्र को सौंप, मुनि-धर्म का पालन करने लगे थे। आश्चर्य है कि कवि ने अपने काव्यों में इस विषय का कोई उल्लेख नहीं किया। 'नागकुमार चरित' की रचना के समय कवि के माता पिता भी स्वर्गवासी हो चुके थे[१]।

हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि कृष्णराज की मृत्यु महापुराण पूर्ण होने से पूर्व ही हो चुकी थी। पर 'यशोधर चरित' और 'नागकुमार चरित' में जो वल्लभराय का उल्लेख आया है उस पर भी महापुराण के समान 'कृष्णराज' ऐसा टिप्पण पाया जाता है। टिप्पणकर्ता की यह अवश्य भूल है। वहां 'बल्लभराय' से कृष्णराज के उत्तराधिकारियों का तात्पर्य लेना चाहिये। यह हम देख ही चुके हैं कि राष्ट्रकूट वंशी सभी राजा 'बल्लभराय' कहलाते थे।

महापुराण, यशोधर चरित और नागकुमार चरित के अतिरिक्त भी महाकवि पुष्पदन्त ने कोई ग्रंथ रचे या नहीं इस के जानने के लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

---

१ 'महु पियराइं होन्तु सुहधामइ'।

पुष्पदंत विरचित नागकुमार चरित की उत्थानिका एक अंश

पणवेप्पिणु भावें पंच गुरु, कलिमल वज्जिउ गुणभरिउ।
आहासमि सिय पंचमिहे फलु, णायकुमार चारु चारेउ।।
दुविहालंकारें विप्फुरंति। लीला कोमलइ पयाइं दिंति।
मह कव्व निहेलणे संचरंति। बहु हाव भाव विब्भम धरंति।।
घत्ता। सिरिकन्हराय करयलनिहिय असिजलवाहिणि दुग्गयरि।
धवलहर सिहरिहय मेहउलि पविउल मण्णखेडनयरि।।१।।
मुद्धाई केसव भट्ट पुत्तु। कासव रिसि गोत्ते विसाल चित्तु।
णण्ण हो मंदिरे णिवसंतु संतु। अहिमाण मेरु गुण गण महंतु।।
पत्थिउ महि पणवियसीसएण। विणएण महोदोहि सीसएण।।१।।
दुरुज्झिय-दुक्किय-मोहणेण। गुणधम्में अवरवि सोहणेण।।
भो पुप्फयंत पड़िवण्णपणय। मुद्धाएवि केसइय तणय।
तुहुं वाईसरि देवी निकेउ। तुहुं अम्हहं पुण्ण निबंध हेउ।।
तुहुं भव्वजीव पंकरुह भाणु। पइं धणु मणे मण्णिउ तिण समाणु।
गुणवंत भत्तु तुहुं विणय गम्मु। उज्झास पयासहि परम धम्मु।।
घत्ता। ओलग्गिउ भावें दिणि जिदिणें। णिय मण पंकएप्पिरु थविउ।
कइ कव्व पिसल्लउ जस धवलु। सिसजुयलेण पविण्णवउ।।
भणु भणु सिरि पंचमि फलु गहीरु। आयण्णहि णायकुमारु वीरु।
ता वल्लहराय महत्तएण। कलिविलसिय-दुरिय-कयंतएण।।
कोण्डिण्णगोत्त-णह-ससहरेण। दालिइकंद-कंदल-हरेण।
वर कव्व रयण रयणायरेण। लच्छी पोमिणि माणस सरेण।।
पसरंत कित्ति बहु-कुलहरेण। विच्छिण्ण सरासइबंधवेण।
बहु दीणलोहयपूरिया धणेण। मइ-पसर-परज्जिय-परबलेण।।
णियवइवि दिण्ण चिंतियफलेण। छण इंद बिंब सन्निह मुहेण।
कुंदव्व[२]-भरह दिय तणुरुहेण।
णण्णेण पवुत्तु महाणुभाव। भो कुसुमदसण हय वसण ताव।
करि कव्वु मणोहरु मुयहि तंदु। जिणधम्म कज्ज मा होहि मंदु।।
आयण्णमि भणु हउं णिम्मलाइं। सियपंचमि उववासहो फलाइं।

---

१. महोदेर्धनाम्नः शिष्येण।
२. कुंदाम्बा।

णण्णेण पवोल्लिउ एम जाम। णाइल्लइं सीलई एण ताम[१]।।
घत्ता। कइ भणिउं समंजसु जस विमलु, णण्णु जि अण्णु न घरसिरिहे।
तहो केरउ णाउ महग्घयरु, देविहिं गायउ सुरगिरिहे।।
तं तुहुंपि चडावहु नियकव्वे। दिहि होउ णण्णे आसण्ण भव्वें।
बुद्धीए णण्णु सुरगुरु णमंति। पर णण्णहो णउ वइरिय जिणंति।
पहुभत्तिए हणु व समाणु दिट्ठु। परणण्णु ण वाणरु णरु विसिट्ठु।
गांगेउ सउच्चें जणिय तुट्ठि। पर णण्णु ण वइरिहुं देइ पुट्ठि।।
धम्मेण जुहिट्ठिलु धम्मरत्तु। पर णण्णु पवासदुहेण चत्तु।
चाएण कण्णु जण दिण्ण चाउ। पर णण्णु ण बंधुहुं देइ घाउ।।
कंतीए मणोहरु छण ससंकु। पर णण्णहो णउ दीसउ कलंकु।
गरुयत्तें महि सुविसुद्ध चरिउ। पर णण्णु ण किडि दाढाइ धरिउ।।
सुथिरत्तै मेरु भणंति जोइ। पर णण्णु पुरिसु पसरु ण होइ।
सायरु व गहीरु कयायरेहिं। पर णण्णु ण मंथिउ सुरवरेहिं।।
घत्ता। जो एहउ वण्णिउ वर कइहिं। भाविं णियमणे भावहि।
तहो णण्णहो केरउ णाउ तुहुं। सुललिय कव्वे चड़ावहि।।
णाइल्ल सील भट्टारु वयणु। तं आयण्णेवि नवकमल वयणु।
पडिजंपइ वियसिरि पुप्फयंतु। पडिवज्जमि णण्णु जि गुणमहंतु।।
धणु पुणु महुं तणुच तणाउ कट्ठु। धम्मेण णिवद्धु मुएवि खट्ठु। (शाठ्यं)
हउं-कहउं कव्वु णिंदंतु पिसणु। वण्णंत सुयण विप्फुरिय वयणु।।
दुज्जण सज्जणहो सहाउ एहु। सिहि उण्हउ सीयलु होइ मेहु।
भो णिसुणि णण्ण कुलकमल सूर। सुरसिहरि धीर पडिवण्ण सूर।।
जिण भणिउं अणताणंत गयणु। तहो मज्झे परिठिउ तिविहु भुअणु।
पहिलउ मल्लय संकासु दिट्ठु। वीयउ कुलिसोवसु रिसिहि सिट्ठु।।
तइयउ मुइंद सण्णिहु कहंति। अरहंत अरुह भणु किं रहंति।
घत्ता। तइ लोकु कमलरुह हरि हरिहिं ण धरिउ ण किउ ण णिट्ठियउ।
तहिं वहु दीवोवहि मंडियउ। मज्झिउ भुअणु परिट्ठियउ।।
इय णाय कुमार चारु चरिए नन्ननामंकिए महाकइ पुप्फयंत विरइए महाकव्वे।
जयंधर-विवाहकल्याण वण्णणो नाम पढमो परिच्छेओ सम्म तो।।छ।।

---

१. मातृर्नाम।

नागकुमार चरित का अंतिम भाग।

गोत्तम गणहर एवं सिट्ठउ। सूरिपरंपराए उवइट्ठउ।
णायकुमारचरित्तु पयासिउ। इयसिरिपंचमि फल मइं भासिउ।।१।।
सो णंदउ जो पढइ पढावइ। सो णंदउ जो लिहइ लिहावइ।
सो णंदउ ओ विवरि विदावइ। सो णंदउ जो भावें भावइ।।२।।
णंदउ सम्मइ सासणु सम्मइ। णंदउ पयसुह णंदह नरवइ।
चिंतिउ चिंतिउ वरिसउ पाउसु। णंदउ णण्णु होउ दीहाउसु।।३।।
णण्ण हो संभवंतु सुपवित्तइं। णिम्मल दंसण णाण चरित्तइं।
णण्णहो होउ पंच कल्लाणइं। रोय-सोय-खयकरण विहाणइं।।४।।
णण्णहो जसु भुअणत्तए विलसउ। णण्णहो घरे वसुहार पवरिसउ।
सिवभत्ताइमि जिणसण्णासें। बे वि मयाइं दुरिय णिण्णासें।।५।।
बंभणाइं कासवरिसि गोत्तइं। गुरुवयणामय पूरिय सोत्तइं।।
मुद्धाएवी केसव णामइं। मंहु पियराइं होंतु सुहधामइं।।६।।
संप्पज्जउ जिण भावें लइयहो। रयणत्तय विसुद्धि दंगइयहो।
मज्भु समाहि वेहि संफज्जउ। मज्झु विमलु केवलु उप्फज्जउ।।७।।
घत्ता। णण्णहो मज्झु विदय करउ। पुप्फयंत जिणणाहपियारी।
खमउ असेसु वि दुव्वयणु। वसउ वयणे सुयदेवि भडारी।।८।।
सुहतुंग भवण वावार भार णिव्वहण वीर धवलस्स।
कोंडेल्ल गोत्त नहससहरक्स पयइएं सोमस्स।।९।।
कुंदव्वागब्भसमुव्यवस्स सिरि भरहभछ तणयस्स।
जय पसर भरिय भुअणोयरस्स ज़िणचरण कमल भसलस्स।।१०।।
अणवरय रइय वरजिणहरस्स जिण भवण पूयणिरयस्स।।
जिण सासणायमुद्धारणस्स मुणदिण्णदाणस्स।।११।।
कलिमलकलेक परिवज्जियस्स जियदुविहवइरिणियरस्स।।
कारुण्णकंद णव जलहरस्स दीणयण सरणस्स।।१२।।
णिवलच्छी कीला सरवरस्स वाएसरि णिवासस्स।
णिस्सेस विउस विज्जाविणोय णियरस्स सुद्ध हिययस्स।।१३।।
णण्णस्स पत्थणाए कव्व पिसल्लेण पहसिय मुहेण।
णाय कुमार चरित्तं रइयं सिरिपुप्फयंतेण।।१४।।

महाकवि पुष्पदन्त का समय

जैन साहित्य की नवीन खोज में जो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उसमें महाकवि पुष्पदन्त के ग्रन्थ अग्रगण्य हैं। ये ग्रन्थ जैन साहित्य में तो महत्वपूर्ण हैं ही, पर भारतीय भाषा के विज्ञान के लिये भी ये कम महत्व के नहीं हैं, क्योंकि वे एक ऐसी भाषा में लिखे गये हैं जिसके अब तक बहुत कम ग्रंथ प्रकाश में आये हैं पर जो देश की प्रचलित भाषाओं के इतिहास के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। यह भाषा अपभ्रंश कहलाती है। इसी भाषा से हिन्दी-गुजराती आदि भाषायें बनी हैं। इसी कारण इन ग्रन्थों का रचनाकाल ठीक-ठीक निश्चित किया जाना नितान्त आवश्यक है।

महाकवि पुष्पदन्त का समय मैं अपने पूर्व लेख में निश्चित कर चुका हूँ। उसमें मैंने उपलब्ध प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि उक्त कवि ने अपना उक्त शक सं० ९९७ आषाढ़ शुक्ला १०वीं० तदनुसार तारीख ११ जून, सन् ९६५ ईसवीं को समाप्त किया था। इसके ही पश्चात् यशोधरचरित और नागकुमार चरित की रचना हुई होगी। मेरा विश्वास था कि अब पुष्पदन्त के समय के विषय में किसी शंका को स्थान नहीं रहा— उसका अंतिम निर्णय हो चुका और आगे कोई प्रमाण इस विषय के मिलेंगे तो वे मेरे निश्चित किये हुए समय की पुष्टि में ही मिलेंगे। जैन जगत् में मान्यवर पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने इस विषय पर एक लेख लिखा है जिसमें उन्होंने एक नवीन प्रमाण पर से यह निर्णय निकाला है कि कवि ने अपना "यशोधर चरित" काव्य शक सं० १२३० के वैशाख मास में समाप्त किया था, व तदनुसार उनका महापुराण शक संवत् ११९७ अर्थात् हमारे निश्चित किये हुए समय से ठीक तीन सौ वर्ष पश्चात् समाप्त हुआ होगा। इसी लेख ने पुष्पदन्त के समय पर पुनः विचार

महाकवि पुष्पदन्त के समय पर विचार: जैन साहित्य संशोधक खण्ड २ अंक ३ पृ० १४५-१४६।

महाकवि पुष्पदन्त और उनका महापुराण पं० नाथूरामजी लिखित: जै०सा० ख० २ अं०, महाकवि पुष्पदन्त के समय पर विचार जैसा सं० ख० २ अं० ३, पृ० १४५-१४६ महाकवि पुष्पदंत का समय, पं० जुगलकिशोर जी लिखित जैन जगत वर्ष २ अंक ४.

करने के लिये मुझे बाध्य किया है। इस विषय के पूर्णरूप से समझने के लिये मैं पाठकों से अनुरोध करूंगा कि वे इस संबंध में पूर्व प्रकाशित लेखों का पुनरावलोकन कर जायें।

जिन प्रमाणों से मैंने महापुराण की समाप्ति की तिथि अपने पूर्व लेख में निश्चित की है उनकी मैं यहां पुनरावृत्ति नहीं करना चाहता। यहां मेरा ध्येय केवल मुख्तारजी के नये प्रमाणों पर संक्षेप में विचार करने का हैं कवि ने अपने पूर्ववर्ती जिन ग्रन्थों, आचार्यों व कवियों का उल्लेख किया है। वे सब शक संवत् की नवमी शताब्दि पूर्व के सिद्ध हो चुके हैं, अथवा अनुमान किये जाते हैं। इन उल्लेखों में श्रीहर्ष कवि का भी उल्लेख है। मुख्तारजी का मत है कि इस उल्लेख का तात्पर्य नैषधीय चरित के कर्ता से है। यथार्थ में नैषधीय चरित श्रीहर्ष कृत माना जाता है और उसकी रचना सन् ईस्वी की १२हवीं शताब्दि की अनुमान की जाती है। यदि सचमुच ही पुष्पदन्त ने नैषधीय चरित के कर्ता का उल्लेख किया हो तो कहा जा सकता है कि वे उक्त शताब्दि में अथवा उसके पश्चात् हुए होंगे। पर उनके ग्रन्थ में नैषधीय चरित का उल्लेख नहीं है। अतएव केवल श्रीहर्ष के नामों-उल्लेख से हम "नैषधीय चरित" के कर्ता का अभिप्राय नहीं ले सकते, क्योंकि इस नाम से एक और संस्कृत कवि "नैषधीय चरित" के कर्ता से पूर्व हो चुके हैं। ये श्रीहर्ष भारत सम्राट् हर्षवर्धन ही थे, जिन्होंने सन् ६०६ से ६४७ तक उत्तर भारत में राज्य किया था। ये भी संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों में से है। उनके बनाये हुए नागानन्द रत्नावली आदि नाटकों का अभी भी अच्छा प्रचार है। ये बड़े ही विद्याप्रेमी और धर्मिष्ट थे। वे जैन, बौद्ध और ब्राह्मण विद्वानों के शास्त्रार्थ सुना करते थे और उन्हें यथेष्ट दान भी देते थे। इन्हीं के दरबार में बाण कवि थे जिनका उल्लेख भी पुष्पदन्तजी ने महापुराण में किया है। अतएव जब तक कोई अन्य स्पष्ट प्रमाण इस बात का न उपस्थित किया जाये कि उक्त उल्लेख नैषधीय चरित के कर्ता का ही है तब तक उसे इन्हीं सम्राट कवि श्रीहर्ष का ही समझना चाहिये। पुष्पदन्त ने जिन अन्य व्यास, भास, कालिदास, भारवि आदि भारत के प्रमुख कवियों का उल्लेख किया है वे सभी श्रीहर्ष से पूर्व के सिद्ध हो चुके हैं।

कवि के उल्लेख में हमें समय के अनुसार सब से अंतिम उल्लेख वीरसेन और जिनसेन का ही प्रतीत होता है। वीरसेन जयधवल सिद्धान्त के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। उन्हीं के शिष्य जिनसेन थे, जिन्होंने अपने गुरु की प्रारंभ की हुई टीका को अमोध वर्ष नृप के समय में शक सं० ७५९ में समाप्त की थी। ये ही जिनसेन संस्कृत आदिपुराण के कर्ता हैं। जैन साहित्य में इनसे भिन्न

एक और जिनसेन प्रसिद्ध हैं जो हरिवंशपुराण के कर्ता हैं। वे आदिपुराण के कर्ता से भी पूर्व के सिद्ध हो चुके हैं। अतएव इतना निश्चित है कि पुष्पदन्त शक सं० ७५९ के पश्चात् हुए हैं।

कवि के समय की अंतिम सीमा निश्चित करने के लिये हमारे पास एक मात्र साधन उनके ग्रन्थ ही है। इनसे विदित होता है कि कवि ने अपने ग्रन्थों की रचना मान्यखेटपुरी में की थी। कवि ने अपने जीवनकाल की कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया है, जो उनके कालनिर्णय में अत्यंत उपयोगी है। महापुराण के प्रारंभ में ही वे कहते हैं कि उनके समय में मान्यखेटपुरी में जो राजा राज्य करते थे उन्होंने चोल नरेश का मस्तक काटा था। मान्यखेटपुरी के इस राजा को उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों में तुडिंगु, भैरवनरेन्द्र, शुभतुंग्ड और वल्लभराय नाम दिये हैं। इसी महापुराण में एक जगह उन्होंने धाराधीश द्वारा मान्यखेट के लूटे व जलाने जाने का भी उल्लेख किया है। इन सब उल्लेखों पर विचार कर मैं अपने पहले लेख में सिद्ध कर चुका हूँ कि वे सब बातें राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीय और उनके उत्तराधिकारी खरिगदेव के समय में घटित होती हैं। महापुराण की प्रतियों में भी जहाँ-जहाँ उक्त नरेश का उल्लेख आया है वहाँ-वहाँ उस पर "कृष्ण राज" ऐसा टिप्पण पाया जाता है। कृष्णराज तृतीय के समय के एक लेख में उल्लेख है कि राष्ट्रकूट वंश की उत्पत्ति यादव कुल में से हुई थी और उस वंश के राजा "तुंग्ड" नाम से प्रख्यात हुए[१]। इसी से इस वंश के अनेक राजाओं के नामों व उपनामों के साथ तुंग्ड शब्द जुड़ा हुआ पाया जाता है जैसे जगतुंग्ड, नृपतुंग्ड आदि। शुभंतुग भी कई राजाओं की उपाधि थी। ब्रम्हनेमिदत्तजी ने अपने कथा कोश में एक मान्यखेट नरेश का "शुभतुंग" नाम से उल्लेख किया है। वल्लभराय तो राष्ट्रकूट नरेशों की साधारण उपाधि थी। अरब के लेखकों ने इन नरेशों को इसी नाम पर से बल्हारा (बल्लभराय) कहा है[३]। कैरव नरेन्द्र केवल प्रतापसूचक उपाधि ही प्रतीत होती है।

शिलालेखों पर से इतिहास में यह बात प्रसिद्ध है कि कृष्णराज तृतीय ने सन् ९४९ ई० में चोल नरेश राजादित्य को परास्त किया था और युद्ध में ही राजादित्य मारा गया था। पुष्पदन्त ने महापुराण के प्रारंभ में जहाँ चोल नरेश के मारे जाने का उल्लेख किया है वहाँ कहा है कि उन्होंने अपना महापुराण

१. एपीग्राफिआ इण्डिका ५, १९९, देवली के ताम्रपत्र।

२. "अभैव भारते मान्यखेटाव्य नगरे वरे, राजाभूत शुभतुंगाख्यों तन्मन्त्री पुरुषात्तम"।

३. विन्सेन्ट स्मिथ अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया "तृ" संस्करण, पृ० ४३०

सिद्धार्थ संवत्सर में प्रारंभ किया था। उक्त समय के लगभग सिद्धार्थ-संवत्सर शक सम्वत् ८८१ व सन् ९५९ में था। मुख्तारजी लिखते हैं कि "राजादित्य की समरभूमि में मृत्यु की घटना शक सं० ८७१ की है और कवि पुष्पदन्त ने जिस घटना का उल्लेख किया है वह उक्त समाप्ति समय के हिसाब से शक सं० ८८१ में जो कि सिद्धार्थ संवत्सर था, घटित हुई ठहरती है। अतः दोनों में कोई साम्य नहीं और उन्हें सहसा एक नहीं कहा जा सकता। "इस कथन से स्पष्ट है कि मुख्तारजी के मत से पुष्पदन्त के उल्लेख का यह अभिप्राय है कि चोल नरेश की मृत्यु और महापुराण का प्रारंभ ये दोनों घटनायें एक ही वर्ष में हुई। पर यह मुख्तारजी का भ्रम है। कवि के पाठ का जिसका उद्धरण मुख्तारजी ने दिया है, केवल यह अभिप्राय है कि मैं इस पुराण को सिद्धार्थ संवत्सर में प्रारंभ करता हूँ जबकि चोल नरेश का मस्तक काटने वाले तुड़िग अक्षय राज्य कर रह हैं। "सिदत्थवरिसे का संबंध अच्छइ से और सीसु तोडेप्पिणु एक पूर्व कालिक का किया है जिसका रूपान्तर होता है शीर्ष त्रोटयित्वा। अतएव चोल नरेश का मारा जाना एक पूर्व कालिक घटना है जो सिद्धार्थ संवत्सर से पहले घट चुकी थी और उसके पश्चात् विजेता ने अपना राज्य सुदृढ़ रूप से जमा लिया था। इस प्रकार इन दोनों में कोई विरोध नहीं जैसा कि मुख्तारजी अनुमान करते हैं।

पुष्पदन्त का दूसरा महत्वपूर्ण उल्लेख धारा नरेश द्वारा मान्यखेट के लूटे व जलाये जाने का है। इस उल्लेख के संबंध में निःसंदेह कुछ असामन्जस्य उपस्थित होता है। धनपाल कवि के पाइयलच्छी कोष के अनुसार धारा नरेश हर्षदेव ने विक्रम सं० १०२९ में मान्यखेट को लूटा था पर जैसा कि मैंने अपने पहले लेख में सिद्ध किया है, महापुराण की निश्चित की हुई तिथि के अनुसार यह घटना वि०सं० १०२१ के लगभग होना चाहिये। इस विरोध का परिहार मैंने अपने उस लेख में एक कल्पना द्वारा करने का प्रयत्न किया था। मुख्तारजी इस कल्पना को ठीक नहीं मानते, स्वयं मैं भी इस कल्पना से संतुष्ट नहीं हुआ था पर उस समय अन्य कोई साधन उस विरोध को मिटाने का प्राप्त नहीं हुआ था। उसके पश्चात् जब मैंने पाइयलच्छी नाममाला के उल्लेख वाले मूलपाठ पर विचार किया तब स्वयं मुख्तारजी के संकेतानुसार ही मुझे इस विरोध का उपयुक्त कारण सूझ पड़ा। विचार करने पर विदित हुआ कि छपी हुई पाइपलच्छी नाममाला के पाठ में ही अशुद्धि है। उसमें जो विक्रम 'कालस्स गए अउणत्तीसुत्तरे सहस्साम्मि' पाठ है उसके "अउणत्तीस" के स्थान पर यदि अउणव्वीस पढ़ा जाये तो यह सारा विरोध मिट सकता है।

इस पाठ से पाइयलच्छो वाले उल्लेख में हर्षदेव को लूट का समय विक्रम सं० १०१९ ठहरता है जो पुष्पदन्त के उल्लेख से ठीक मिलता है प्राचीन प्रतियों के पढ़ने में "त्ती" और "व्वी" में भूल हो जाना बहुत संभव है। मैंने इसका निर्णय करने के लिये पाइयलच्छी नाममाला की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति देखने का प्रयत्न किया पर अब तक मुझे इसकी ऐसी कोई प्रति नहीं मिल सकी।

इस प्रकार जब मैं आज भी पुष्पदन्त के समय के विषय पर विचार करता हूँ तो मुझे अपने पूर्व मत की पुष्टि होती ही दिखाई देती है। पर मुख्तारजी का मत है कि पुष्पदन्त द्वारा उल्लिखित मान्यखेट नरेश द्वारा चोल नरेश के मारे जाने व धाराधीश द्वारा मान्यखेट लूटे जाने की घटनायें उपर्युक्त घटनाओं से भिन्न ही हैं और इनका समय शक की १२हवीं-१३हवीं शताब्दि व सन् ईस्वी की १३हवीं शताब्दि होना चाहिये। किन्तु १३हवीं शताब्दि के उपलब्ध इतिहास में इन घटनाओं का कोई पता नहीं चलता। मुख्तारजी का कथन है कि उक्त समय का पूरा-पूरा इतिहास हमें प्राप्त नहीं है और इसलिये उक्त घटनाओं का अभी तक कोई पता नहीं चलता था। यह बात ठीक है कि भारत का प्राचीन इतिहास अभी भी बहुत गड़बड़ी में है। पर सन् ईस्वी की १३हवीं शताब्दि के विषय में अब हम इतने अंधेरे में नहीं है कि मान्यखेट नरेश द्वारा चोल नरेश के मारे जाने व धाराधीश द्वारा मान्यखेट के लूटे जाने जैसी घटनायें भी उसके गर्त में समाविष्ट की जा सकें।

जितना कुछ इतिहास उस समय का हमें उपलब्ध हैं उसी से यह भली-भाँति निर्णय किया जा सकता है कि उक्त घटनायें उस समय में सम्भव हो सकती है या नहीं। यहाँ इतिहास के आधार पर संक्षेप में हम इस विषय पर विचार करेंगे।

सबसे प्रथम मान्यखेट के इतिहास को ही लीजिये। इस नगरी को इतिहास में प्रसिद्धि सन् ८१४ ईस्वी में हुई जबकि इसे राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष ने अपनी राजधानी बनाई। इससे पहले राजधानी नासिक के पास वातापि (बदामी) में थी। अमोघवर्ष से लगाकर इस वंश के चार-पाँच नरेश बड़े प्रतापी हुए जिन्होंने राष्ट्रकूट राज्य की सीमा को बहुत बढ़ाया और मान्यखेट राजधानी की खूब कीर्ति फैलाई। इस वंश का अंतिम राजा कवक द्वितीय हुआ जिसे सन् ९७३ ईस्वी में इस वंश के पुरानी शत्रु चालुक्य वंश के राजा तैलप ने युद्ध में मार डाला और राष्ट्रकूट राज्य की इति श्री कर डाली। तैलये ने अपनी राजधानी कल्याणी में स्थापित की शिलालेखों से

विदित होता है कि राष्ट्रकूट वंश के पुराने हितचिन्तक गंग वश के नरेश व राष्ट्रकूट वंश का पुर्नजीवित करने का प्रयत्न किया और उन्होंने कर्कराज के वंशज इन्द्रराज को मान्यखेट में अभिषिक्त किया। पर इसका कोई फल नहीं हुआ। चालुक्य राज्य शीघ्र ही बहुत प्रबल हो उठा और मान्यखेट का नाम इतिहास के नक्शे से उड़ गया। विल्पव के समय चोल राज्य, जो राष्ट्रकूटों के आधिपत्य में था, अवसर पाकर प्रबल हो गया। अब दक्षिण में केवल चालुक्य और चोल ही प्रसिद्ध राज्य रहें। इनकी आपस में अनेक बार मुठभेड़ हुई जिससे दोनों की शक्ति क्षीण हो गई और इनके सामन्त राजा प्रबल हो गये। बारहवीं शताब्दि में देवगिरि का यादव वंश, वारंगल का काकत्य वंश और द्वारा समुद्र का होय्सल वंश प्रसिद्धि में आये, जिस समय का प्रसंग हमारे सन्मुख प्रस्तुत है उस समय अर्थात् ईस्वी सन् १३०० के लगभग मान्यखेट के राष्ट्रकूटों का प्रायः सारा राज्य यादव नरेशों के राज्य में सम्मिलित था जिसकी राजधानी देवगिरि थी। इस समय चोल नरेश का मस्तक काटने वाला मान्यखेट में कोई नहीं था। इस समय का चोल राज्य का इतिहास भी बहुत कुछ खुलासा है और उसमें किसी मान्यखेट नरेश द्वारा किसी चोल नरेश के मारे जाने की कल्पना का स्थान नहीं है। चोल नरेश इस समय यथेष्ट प्रबल थे और वे मदुरा के पाण्ड्य नरेशों से युद्ध में भिड़े हुए थो। कुलोतुग तृतीय से पूर्व राजाधिराज द्वितीय का राज्य था। मुख्तारजी के मतानुसार पुष्पदंत इन्हीं के समसामयिक ठहरते हैं। यह राजा बड़ा प्रतापी था। इसने पाण्ड्य नरेश वीर पाण्ड्य को भारी पराजय दी। उसने वीर पाण्ड्य और उसके लड़के बच्चों को मरवा डाला मदुरा राजधानी को अपने आधीन किया और वहाँ अपना विजय स्तम्भ स्थापित किया। इसी विक्रमशीलता के कारण उसने और उसके पश्चात् उसके पुत्र कुलांत्तुङ्ग तृतीय ने "मदुरा और ईलम के विजेता" की उपाधि धारण की थी।

अब जरा तत्कालीन धारा (मालवा) के इतिहास की ओर लक्ष्य दीजिये। यहाँ भी मुख्तारजी की शिकायत है कि इतिहास अधूरा होने से उक्त सभय का पूरा-पूरा हाल नहीं जाना जा सकता। यह बात यथार्थ है। पर जितना कुछ इतिहास विदित है उसी से स्पष्ट है कि इस समय के मालवे के परमार वंशी राजा इतने कमजोर थे कि उन्हें सुदूरवर्ती मान्यखेट पर चढ़ाई करने का होंसला कदापि नहीं हो सकता था। मुख्तारजी के मतानुसार जिस समय पुष्पदंत मान्यखेट की तबाही पर विलाप कर रहे थे इतिहास कहता है कि उसी समय स्वयं धारा नगरी में भी वैसा ही करुणक्रंदन हो रहा था।

*यहाँ अनहिलवाड़े के वधेल राजा विशालदेव ने धारा पर चढ़ाई की थी और उसे लूटा था[१]। जयसिंह द्वितीय (ईस्वी सन् १२५५ के लगभग) के संबंध में इतिहास में लिखा मिलता है कि इसमें संदेह नहीं कि मुसलमानों के दबाव के कारण इसका राज्य निर्बल रहा होगा। यर्थाथतः मुसलमानों का इस समय बहुत जोर बढ़ रहा था। मालवा के राजा तो इस समय नाम मात्र के गोबरगणेश थे। सन् १२३५ में ही गुलाम वंश के बादशाह अल्तमश ने मालवा पर चढ़ाई कर भेलसा के किले को जीता, और फिर उज्जैन पहुँच कर उसने उस इतिहास प्रसिद्ध नगरी का सत्यानाश कर डाला। उसने महाकाल के प्रसिद्ध मंदिर को ध्वंस कर डाला और वहाँ की मूर्तियों को दिल्ली भेज दिया[२]। इसी के बीस-पच्चीस वर्ष पश्चात् धारा को, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, विशालदेव ने लूटा और फिर सन् १३१० ईस्वी में अलाउद्दीन खिलजी ने वहाँ के राजा को मार डाला और मालवा को अपने राज्य में सम्मिलित कर वहाँ एक मुसलमान सूबेदार नियुक्त कर दिया। इस प्रकार सन् १२३५ से लगा कर अपनी इति श्री होने तक मालवा राज्य ऐसी अवस्था में नहीं था कि वह मान्यखेट जैसे अत्यंत दूरवर्ती नगर के किले को सेना भेज सके। इस समय के धाराधीश तो अपनी ही राजधानी की रक्षा करने में असमर्थ थे। इसी अलाउद्दीन खिलजी ने मालवा को जीतने से कुछ पहले अर्थात् सन् १२९४ ईस्वी में दक्षिण भारत पर भी चढ़ाई की थी और वहाँ के सब से प्रबल देवगिरि के यादव वंशी राजा रामचंद्र को पराजित किया था और लूटा था। इसके कुछ ही पश्चात् उसने अपने सेनापति मलिक काफूर को भेजकर दक्षिण के समस्त मुख्य-मुख्य राज्यों को जीता और नष्ट-भ्रष्ट किया था। यदि ऐसे ही समय में महाकवि पुष्पदंत ने अपने ग्रंथ लिखे होते

---

* मुख्तारजी ने केवल विन्सेट स्मिथ की हिस्ट्री ही देखी है। चोलवंश का कुछ और सविस्तार इतिहास कृष्ण स्वामी अयन्गार कृत एन्शियेन्ट इंडिया आदि इतिहास ग्रंथों से जाना जा सकता है।

१. भारत के प्राचीन राजवंश भाग.

२."A Year later, the sultan, emboldened by success, marched against Malwa and captured the fort of Bhilsa, from which place he proceeded to Ujjain, the ancient capital of Vikramaditya which easily fell into his hands. It was here that Muslim ferocity broke loose and the temple of Mahakal, one of the oldest and the most venerated shrines in that country, was demolished and the idols were carried off to Delhi."

— History of Medieval India
by Prof. Ishwari Prasad, p. 140.

तो स्वभावतः वे उनमें कुछ मुसलमानों के उपद्रवों का उल्लेख करते जैसा कि आशाधर जी ने अपने ग्रंथों में किया है। पर पुष्पदंत के ग्रंथों में अभी तक मुसलमानों की गंध तक नहीं पाई गई तथा जिन ऐतिहासिक घटनाओं का उन्होंने उल्लेख किया है वे तेरहवीं शताब्दि में बिल्कुल ही घटित नहीं होती।

मुख्तारजी को जो नवीन प्रमाण मिला है उसके अनुसार पुष्पदन्तजी का यशोधर चरित शक सं० १२३० में समाप्त हुआ था। यह कीलक संवत्सर सिद्ध होता है। महापुराण के आदि और अंत के उल्लेखों से स्पष्ट है कि उसे पुष्पदन्तजी ने सिद्धार्थ संवत्सर में प्रारंभ और क्रोधन संवत्सर में समाप्त किया था। ये संवत्सर कीलक संवत्सर के पश्चात् क्रमशः ११वें हैं। वह महापुराण भरतमंत्री और नागकुमार चरित व यशोधर चरित उनके पुत्र नन्नमंत्री के समय में रचे गये हैं। अतः महापुराण की रचना यशोधर चरित से प्रथम की है। शक सं० १२३० से पूर्व सिद्धार्थ संवत्सर शक सं० ११८१ में पड़ा था। इस प्रकार उनके महापुराण प्रारंभ करने और यशोधर चरित समाप्त करने के बीच ४९ वर्ष का अंतर पड़ता है जो कुछ असाधारण सा प्रतीत होत है। इसी कारण मुख्तारजी का यह अनुमान है कि महापुराण प्रारंभ करने के समय पुष्पदंतजी की अवस्था २६ वर्ष से अधिक न होगी। पर महापुराण की उत्थानिका से यह ठीक ज्ञात नहीं होता। महापुराण प्रारंभ करने के समय कवि की अवस्था २६ वर्ष से कहीं अधिक मानना पड़ेगी। इसके पहले ही कविराज संसार का बहुत कुछ अनुभव प्राप्त कर चुके हैं और दुर्जनों के कटाक्ष सह चुके हैं। उन्होंने किसी वीरराव नामक जैनेतर नरेश की प्रशंसा में भी कुछ लिखा था, इसी से भरत ने उनसे कहा है कि आपने जो वीरराव का वर्णन कर मिथ्यात्वभाव उत्पन्न किया है उसका आप अब (पुरूदेव चरित लिखकर) प्रायश्चित्त कर डालिये, इससे आपका परलोक सुधर जायेगा। महापुराण लिखने से पूर्व ही वे काव्यकला में प्रवीण हो चुके थे जैसा कि उनकी काव्यरत्नाकर (कव्वरयण रयण पर) आदि उपाधियों से सिद्ध होता है। इन सब बातों से विदित होता है कि महापुराण की रचना प्रारंभ करते समय कविराज और नहीं तो ३५-४० वर्ष के अवश्य रहे होंगे। अतएव महापुराण समाप्त कर फिर लगभग ४५ वर्ष

पइ माणिणड वणिणड वीर राउ
उप्पणराउ जो मिच्छत्तभाउ
पच्छित तासु जइ करहि अज्ज
ता घडइ परलोयकज्जु।।इत्यादि।।

पश्चात् उन्हीं के हाथों यशोधर चरित का लिखा जाना युक्तियुक्त नहीं जँचता।

मुख्तारजी के पाठ में संवत् का उल्लेख विक्रम संवत् में है। यह तो निर्विवाद है कि यशोधर चरित की रचना दक्षिण भारत की मान्यखेट नगरी में हुई थी। उस समय में वहाँ शक संवत् का प्रचार था विक्रम संवत् का बिल्कुल नहीं। पुष्पदंत जो स्वयं शक संवत् का उपयोग करते थे क्योंकि उन्होंने महापुराण में सिद्धार्थ और क्रोधन संवत्सर का उल्लेख किया है और वे संवत्सर शक संवत् के साठ साला संवत् चक्र के ही उपयुक्त होते हैं अतएव यदि स्वयं पुष्पदंतजी ही अपने काव्य में संवत् का उल्लेख करते तो यह शक संवत् में होना चाहिये था विक्रम में नहीं।

इसी प्रकार जिन छंदों में वीसलसाहू के उपरोध से यशोधर चरित के लिखे जाने का उल्लेख है वे भी ग्रंथ के मूल अंग विदित नहीं होते। ये निरर्थक की गड़बड़ी उपस्थित करते हैं। यशोधर चरित में इस बात के पूर्ण प्रमाण हैं कि उसकी रचना रारारा के भवन में हुई थी (रारराहो मंदिरे णिाव संतु संतु)। उस काव्य को कवि ने रारारा को सुनाने के लिये ही बनाया था और इसीलिये उन्होंने उसे रारारा कराणभरण (करण भरण) कहा है। काव्य में वीसलसाहू की प्रेरणा की तो गंध भी नहीं आती और वह प्रसंग युक्तिसंगत भी नहीं बैठता। वीसलसाहू योगिनीपुर निवासी थे जिसे मुख्तारजी आधुनिक दिल्ली ख्याल करते हैं। तब वीसलसाहू ने स्वयं मान्यखेटपुर जाकर कवि से रचना के लिये उपरोध किया था उनको किसी प्रकार चिट्ठी या संदेश द्वारा कहला भेजा कि आप यशोधर चरित्र तैयार कीजिये और हमें यहाँ आकर सुनाइये। अभिमान मेरू कवि पुष्पदंत के लिये यह सब ठीक नहीं जँचता। स्वयं मुख्तारजी इस बात को स्वीकार करते हैं कि यशोधर चरित्र मान्यखेटपुरी में ही नन्न के भवन में रचा गया था। उनके मतानुसार इस समय कविराज "अच्छे खासे प्रायः ७५ वर्ष की अवस्था के वृद्ध पुरूष थे, इस वृद्धावस्था मे वे योगिनीपुर (देहली) आने को राजी हो गये होंगे और नन्न ने उन्हें ऐसा करने दिया होगा यह उचित नहीं जान पड़ता। अपने यौवनकाल की एक ही यात्रा में तो वे "राव इंदु जेम देहेण खोणु" हो गये थे फिर वे अपनी प्रत्यंत वृद्धावस्था में इस लम्बी चौड़ी हजारों कोसों की दुर्गम यात्रा के लिये कैसे तैयार हो गये होंगे। महापुराण की उत्थानिका से ही विदित हो जाता है कि कविराज धनी पुरुषों के आश्रय से निराश हो चुके थे। उन्हें अब धनिकों की कृपा की भूख बिल्कुल नहीं थी वे उससे सर्वथा विरक्त थे।

यदि किसी भी प्रकार वीसलसाहू के उपरोध से ही वे यशोधर चरित लिखते तो उसका वे स्पष्ट उल्लेख किये बिना कदापि न रहते जैसा कि उन्होंने

अपने महापुराण और नागकुमार चरित में अपने प्रेरकों का उल्लेख किया है और यह उल्लेख सभी प्रतियों में होना चाहिये था। फिर वह काव्य ''णराण कराणा भरण'' नहीं वीसल साहू कराण भरण'' कहलाया जाना चाहिये था। आश्चर्य है कि यशोधर चरित को जिस अत्यंत प्राचीन प्रति पर से श्रीयुक्त पंडित नाथूरामजी प्रेमी ने अपने अवतरण लिये हैं उसमें भी उन पद्यों का कुछ पता नहीं चला। यह ग्रंथ मुख्तारजी के प्राप्त किये हुए पद्यों के अनुसार वि०सं० १३६५ में समाप्त हुआ था और प्रेमीजी की अवलोकन की हुई यशोधर चरित की प्रति संवत् १३९० की है। इस प्रकार ग्रंथ की रचना और इस प्रति की लिखाई में केवल २५ वर्ष का अंतर है।

महाकवि पुष्पदन्त कृत महापुराण का परिचय

अपभ्रंश-साहित्य की खोज

बीसवीं सदी की पहली चौथाई में अपभ्रंश भाषा का उपलभ्य साहित्य नहीं के बराबर था। कुछ स्फुट रचनाएँ जैन धार्मिक समाज में प्रचलित थीं, पर न तो विद्वत्संसार को उनका कुछ परिचय था और न जैन समाज में ही भाषा की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्त्व था। किन्तु इसके बाद इस भाषा के अनेकों ग्रन्थों का पता चला है और धीरे-धीरे उनका सूक्ष्म अध्ययन, सुसंशोधित प्रकाशन और विद्वत्समाज में आदर भी बढ़ रहा है। विशेष रूप से इस ओर ध्यान तभी से गया है जब से मैंने सन् १९२४ में कारंजा के भंडारों का अवलोकन किया और वहां के उपलभ्य दश-बारह अपभ्रंश ग्रन्थों का परिचय मध्यप्रान्त के हस्तलिखित संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों की सूची में प्रकाशित कराया, तथा इन ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ ही कारंजा ग्रंथमाला की स्थापना कराई। तब से मेरी इस साहित्य की खोज बराबर जारी है। जिसके फलस्वरूप मुझे इस भाषा का विपुल साहित्य उपलब्ध हुआ है। हर्ष की बात है कि इस साहित्य के अध्ययन, संशोधन और प्रकाशन में अब अनेक सुप्रतिष्ठित विद्वान् मेरा हाथ बँटा रहे हैं।

पुष्पदन्त के ग्रन्थ

इस खोज में अब तक जितने ग्रन्थों का पता लगा है, उनमें पुष्पदन्त के ग्रन्थ विशेष महत्त्वशाली ज्ञात हुए हैं। वे भाषा की दृष्टि से सब से प्रौढ़, काव्य की दृष्टि से सबसे सुन्दर तथा प्राचीनता में, एक स्वयंभू के काव्यों को छोड़, सबसे पूर्व के प्रमाणित होते हैं। पुष्पदन्त के जो तीन ग्रन्थ अब तक पाये गये हैं उनमें से 'जसहर-चरिउ', प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक, श्रीयुत डॉ. वैद्य द्वारा ही सम्पादित होकर कारंजा-सीरीज में और 'णायकुमार-चरिउ' मेरे द्वारा सम्पादित होकर देवेन्द्रकीर्ति-सीरीज में प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरा ग्रन्थ यही प्रस्तुत महापुराण है। इसे भी कारंजा सीरीज में प्रकाशित करने का विचार था और इसी के लिये इस ग्रन्थ का संशोधन सम्पादन प्रारम्भ किया गया था किन्तु इस सीरीज में प्रकाशित होने में अभी कुछ बिलम्ब होता। प्रकाशनीय साहित्य बहुत

विपुल मात्रा में तैयार है। इसी से अवसर पाकर यह ग्रंथ इस ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित किया गया है।

पूरे महापुराण में एक सौ दो सन्धि अर्थात् परिच्छेद हैं। इनमें से प्रथम सैंतिस संधियों में आदिपुराण समाप्त हो जाता है। यही आदिपुराण वर्तमान संस्करण में प्रस्तुत है। शेष पैंसठ संधियाँ उत्तरपुराण की हैं जिन्हें आगे दो ग्रन्थों में प्रकाशित कराने का विचार है। इस उत्तरपुराण का एक खण्ड मेरे एक जर्मन मित्र डॉ. लुडविग् आल्सडॉर्फ ने सम्पादित कर के जर्मनी में प्रकाशित कराया है। इसमें उत्तरपुराण की बारह (८१-९२) संधियाँ हैं जो हरिवंशपुराण कहलाती हैं। जब जर्मनी से यह संस्करण प्रकट नहीं हुआ था तब विचार था कि डॉ. आल्सडॉर्फ द्वारा सम्पादित यह खण्ड भी एक ग्रंथ में स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करा दिया जाये, और इसी विचार से मित्र आल्सडॉर्फ ने बड़े ही परिश्रम से अपने संस्करण का पाठ नागरी लिपि में तैयार कर दिया, भूमिका का भी अंग्रेजी अनुवाद कर डाला और नोट्स व अनुक्रमणिकादि भी बनाकर भेज दीं। पर इसके प्रेस में भेजने में कुछ विलम्ब हुआ, और इसी बीच जर्मनी से उनका रोमन लिपि में जर्मन भाषामय भूमिकादि सहित संस्करण प्रकट हो गया। तब विचार हुआ कि अब इसके नागरी लिपि के संस्करण निकालने में जल्दी करने की आवश्यकता नहीं है। विद्वानों को ग्रंथ उपलभ्य हो ही गया है अब उत्तरपुराण के क्रमबद्ध प्रकाशन में ही यथास्थान इस का उपयोग करना उचित होगा। यही विचार कर उसकी छपाई स्थगित करा दी गई।

संशोधन-सामग्री

प्रस्तुत आदिपुराण का संशोधन आठ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों पर से किया गया है। इनमें से पांच का तो पूर्ण रूप से उपयोग किया गया है और उनके पाठ-भेद दिये गये हैं, और शेष तीन का यत्र-तत्र उपयोग किया गया है, क्योंकि या तो उनके पाठ उक्त पाँच में से किसी एक के साथ अभिन्न थे या वे अपेक्षाकृत अर्वाचीन थे। जिन प्रतियों का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है उनमें से दो बलात्कारगण-जैनमंदिर, कारंजा, की हैं; दो भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, की और एक तात्यासाहिब पाटील, नांदणी (कोल्हापुर) के पास से प्राप्त। इनमें से कारंजा के बलात्कारगण-मंदिर की, संवत् १५७५ में लिखित प्रति को प्रधान रूप से साम्हने रख कर पाठ संशोधन किया गया है।

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण

पाठ संशोधन में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण सहायता प्रभाचन्द्रकृत

महापुराण-टिप्पण से मिली। आदिपुराण-टिप्पण की एक प्रति सम्पादक को भांडारकर-इन्स्टिटट्यूट से प्राप्त हुई जिसमें संवत् का उल्लेख नहीं पाया गया। उत्तरपुराण के टिप्पण की एक प्रति जयपुर से प्राप्त हो गई थी जिसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह टिप्पण संवत् १०८०=१०२३ ईस्वी में, अर्थात महापुराण के रचे जाने के साठ वर्ष के भीतर ही लिखा गया था। उस समय मालवा में राजा भोज का राज्य था। प्रभाचन्द्र ने इस टिप्पण को 'सागरसेन सैद्धान्तिक, से परिज्ञात करके तथा 'मूलटिप्पणिका' का अवलोकन करके लिखा था। संभव है यह मूलटिप्पणिका स्वयं कवि पुष्पदंत की ही लिखी हुई हो।

संधियों के प्रारंभ के स्फुट पद्य

महापुराण की भिन्न-भिन्न प्रतियों में कुछ संधियों के प्रारंभ में कवि के आश्रयदाता भरत की प्रशंसा के छंद पाये जाते हैं। इनमें से छह की भाषा प्राकृत और शेष सबकी संस्कृत है। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी रचना स्वयं कवि पुष्पदंत की ही है, क्योंकि अन्य किसी कवि को उनके आश्रयदाता की ऐसी गुणगाथा गाने के उत्साह का कोई कारण नहीं दिखता। दूसरे इनमें से कुछ छन्दों में स्वयं पुष्पदंत के व्यक्तिगत भावों और अनुभवों का उल्लेख है जो दूसरे कवि के द्वारा नहीं किया जा सकता। ऐसे कुछ पद्यों की संख्या ४८ है। पर ये सभी पद्य सभी प्रतियों में नहीं पाये जाते और न उनमें से प्रत्येक छंद किसी एक निर्दिष्ट संधि में ही पाया जाता है। किसी प्रति में कहीं कोई पद्य, जो दूसरी प्रति में कहीं अन्यत्र, या तीसरी में वह बिलकुल ही नहीं पाया जाता। इस अवस्था से अनुमानतः यह निष्कर्ष निकलता है कि ये पद्य कवि ने ग्रंथरचना के समय ही रचकर विशेष-विशेष स्थानों पर नहीं रक्खे। ग्रंथरचना समाप्त हो जाने, तथा उसकी कुछ प्रतिलिपियों के बाहर चले जाने पर यथावसर कवि ने पद्य कभी रचा और उसे अपनी प्रति में किसी संधि के प्रारंभ में लिख दिया, ऐसा जान पड़ता है। इससे उस 'धारानाथ-नरेंद्र' के उल्लेख वाले पद्य की गुत्थी भी सुलझ जाती है जो पूरा और कारंजा वाली प्रतियों में ५०वीं संधि के प्रारम्भ में और जयपुर की प्रति में ४९वीं संधि के प्रारम्भ में, और तात्या साहिब वाली प्रति में कहीं भी नहीं पाया जाता। इस पद्य में धारा के नरेन्द्र श्री हर्षदेव के मान्यखेट पर आक्रमण का उल्लेख है जो 'पाइयलच्छी-नाम-माला' के उल्लेख पर से १०२९ संवत् की घटना सिद्ध होती है। इस घटना का उल्लेख सात वर्ष पूर्व समाप्त हुए ग्रंथ के बीच में कैसे आया यह बहुत समय तक मेरे लिये एक उलझन बनी रही जिसके सुलझाने के लिये मुझे अनेक अनुमान लगाना पड़े। किन्तु अब इन पद्यों की रचना के

इतिहास पर से यह सहज ही समझ में आ जाता है कि अन्य अनेक पद्यों के समान उसे भी कवि ने पीछे रचकर अपने ग्रंथ में डाला होगा।

कवि के आश्रयदाता भरत का परिचय

उक्त पद्यों की प्राकृत भाषा बिल्कुल शुद्ध और सुन्दर है। संस्कृत पद्यों में कहीं-कहीं प्राकृत का प्रभाव आ गया है। इन पद्यों का विषय कहीं सरस्वती देवी की उपासना है, कहीं कवि का आत्म-परिचय है; पर अधिकांश पद्यों में कवि के आश्रयदाता भरत की प्रशंसा पाई जाती है। इन पद्यों तथा महापुराण की उत्थानिका व पुष्पिकाओं और जसहरचरिउ व णायकुमारचरिउ के उल्लेखों पर से भव्यात्मा भरत और उसके कुटुम्ब का खासा इतिहास हमें मिल जाता है। भरत राष्ट्रकूटनरेश कृष्णराज तृतीय के मंत्री थे। इस नरेश के तुडिग, शुभतुंगराय और बल्लभराय नाम भी पुष्पदंत के ग्रंथों में पाये जाते हैं। इन्हीं ने सन् ९३९ से ९६८ तक राज्य किया। उनके पश्चात् उनके लघुभ्राता खोट्टिगदेव सिंहासनारूढ़ हुए। उन्हीं के राज्य में सन् ९७२ (विक्रम १०२९) में उनकी राजधानी मान्यखेट पर धारानरेश हर्षदेव का आक्रमण हुआ था। महापुराण की समाप्ति अर्थात् सन ९६५ तक भरत मंत्री जीवित थे। अन्य दो काव्यों की रचना के समय उनके पुत्र णण्ण मंत्रिपद को विभूषित कर रहे थे। इस बीच में या तो भरतजी का परलोकवास हो गया या उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया होगा।

भरत कौण्डिन्य गोत्र के थे। उनके कुल में महामात्र पद परम्परागत था। पर बीच में इस कुटुम्ब को कुछ दुर्दिन भोगने पड़े थे। इस दुरवस्था से भरत ने अपने कुल का पुनरुद्धार किया। उनके पितामह का नाम 'अन्नय्य', पिता का 'ऐयण' या 'ऐरण' तथा माता का 'देवी' था। इनके कोई भ्राता नहीं था। उनकी धर्मपत्नी का नाम 'कुन्दव्वा' था। उनके सात पुत्र थे। जिनके नाम-देवल्ल, भोगल्ल, नन्न, सोहन, गुणवर्म, दंगय्य और संतय्य थे। भरत का शरीर सुदृढ और शूरोचित था और वर्ण श्याम। वे कृष्णराज के मंत्री, सेनानायक और दानविभाग के अधिष्ठाता थे। इतना होने पर भी उनकी वेषभूषा तथा व्यवहार बहुत सौम्य और शिष्ट था। वे सद्गुणों की खान और विद्याप्रेमी थे। श्री और सरस्वती का उनमें असाधारण संयोग था। उनका आचरण सर्वथा निर्दोष था। उनके भवन में काव्य-रचना, काव्य-गायन, और काव्य-लेखन होता रहता था। वे बलि, जीमूतवाहन, दधीचि, विनयांकुर और शातवाहन जैसे महादानी थे। उनका यश सुविस्तृत था। वापी, कूप, तडाग व देवमंदिर निर्माण कराने की अपेक्षा जैन पुराण की रचना और प्रसार कराना उन्हें अधिक अभीष्ट था। इसी हेतु उन्होंने कवि पुष्पदन्त को आश्रय

देकर उनसे यह महान उत्तम कार्य सम्पन्न कराया और संसार-समुद्र को तरने का साधन पा लिया।

कवि-परिचय

कविराज पुष्पदन्त काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम केशव और माता का नाम मुग्धादेवी था। ये दोनों शिव के उपासक थे, किन्तु पीछे उन्होंने जैनधर्म ग्रहण कर लिया था। पुष्पदन्त का शरीर श्याम और कृश था। उनका विवाह हुआ हो ऐसा जान नहीं पड़ता। उनके न घर-द्वार था, न धन सम्पत्ति; किन्तु उनका मन बड़ा ऊंचा और विशाल था। वे पहले किसी भैरव या वीरराय नाम के राजा के आश्रय में रहे थे जिसकी प्रशंसा में उन्होंने कोई काव्य भी रचा था। किन्तु किसी कारण से, सम्भवतः अपमानित होकर वे मान्यखेट आ गये, और वहाँ नगर के बाहर उपवन में ठहर गये। इन्द्रराज और अन्नइया नाम के दो नागरिकों ने उन्हें वहाँ देखा और इनसे नगर में आकर भरत से मिलने का आग्रह किया। पहले कविराज राजी नहीं हुए। क्योंकि उनका हृदय कटु अनुभवों के कारण संसार से और धनिक समाज से विरक्त हो गया था। किन्तु उन्हें जब यह आश्वासन दिया गया कि भरत मंत्री दूसरी ही प्रकृति के सज्जन हैं, तब वे उनसे मिलने पर राजी हए। भरत के यहां उनका बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ। उन्हीं के शुभतुंग-भवन में वे रक्खे गये। कुछ दिनों के पश्चात् भरत ने उनसे महापुराण रचने की प्रार्थना की, जिससे उनकी काव्य-शक्ति का समुचित उपयोग हो और संसार का कल्याण हो। इस प्रकार कवि ने सिद्धार्थ शक ९५९ में महापुराण की रचना प्रारम्भ की। आदिपुराण पूरा होने पर कवि को फिर कुछ उद्वेग हुआ जिसका स्वयं सरस्वती देवी ने निवारण करके उन्हें उत्तरपुराण पूरा करने के लिये प्रोत्साहित किया। कवि ने महापुराण को क्रोधन शक ९६५ में समाप्त किया। उन्हें अपनी इस सफलता से बड़ा सुख और संतोष हुआ। उन्होंने कहा है कि "इस रचना में प्राकृत के लक्षण, समस्त नीति, छंद, अलंकार, रस, तत्त्वार्थनिर्णय सब कुछ आ गया है, यहाँ तक कि जो यहाँ है वह अन्यत्र कहीं नहीं है। धन्य हैं वे पुष्पदन्त और भरत जिनको ऐसी सिद्धि मिली।" इसे पढ़कर महाभारतकार व्यास के इन वचनों का ध्यान आये बिना नहीं रहता—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।

अर्थात् जो यहाँ है वही अन्यत्र मिलेगा; जो यहाँ नहीं वह कहीं नहीं।

महापुराण के लक्षण

दिगम्बरमतानुसार महावीर स्वामी की वाणी जिन ग्यारह 'अंग' और

चौदह 'पूर्व' में ग्रन्थित थी वे अंग पूर्व सब विच्छिन्न हो गये। जो श्वेतांबर अंग अब पाये जाते हैं उन्हें दिगम्बर समाज स्वीकार नहीं करता। वह अपना धार्मिक साहित्य प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग ऐसे चार अनुयोगों में विभाजित करता है। प्रथमानुयोग का विषय तीर्थंकरादि पुरुषोत्तमों का चरित्र वर्णन करता है। महापुराण इसी प्रथमानुयोग की एक शाखा है। उसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ प्रतिवासुदेव और नौ बलदेव इन त्रेसठ शलाका-पुरुषों अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों का चरित्र वर्णन किया जाता है। पुष्पदन्त की इस रचना का भी यही विषय है और उसे उन्होंने ''तिसट्ठि-महापुरिस- गुणालंकार'' नाम भी दिया है। जिनसेन ने अपने संस्कृत महापुराण को भी 'त्रिषष्टि-लक्षण' नाम दिया है और हेमचन्द्राचार्य ने भी 'त्रिषष्टि शलाका-पुरुष-चरित कहा है।'

जिनसेन और हेमचन्द्र के महापुराण छप चुके हैं। उनमें और प्रस्तुत ग्रंथ में कहाँ कैसा मेल व बेमेल है यह अन्तिम जिल्द की भूमिका में स्पष्ट किया है।

आभार-प्रदर्शन

इस महापुराण का सम्पादन मेरे प्रिय सुहृत डॉ. परशुराम लक्ष्मण वैद्य ने किया है। कारंजा-सीरीज का प्रथम ग्रन्थ (इन्हीं पुष्पदन्त की दूसरी रचना) भी इन्हीं विद्वान द्वारा सम्पादित हुआ है। प्रस्तुत विशाल ग्रंथ के संशोधन सम्पादन में वैद्य जी ने कितना परिश्रम किया है यह मर्मज्ञ पाठक इस ग्रंथ के अवलोकन से ही समझ सकेंगे। अनेक प्रतियों में से सबसे शुद्ध पाठ चुनकर रखने में, अन्य सब पाठों को फुट नोट में अंकित करने में, तथा उपलब्ध टिप्पणियाँ भी नीचे उद्धृत करने में उन्होंने बड़ी ही कुशलता और विद्वत्ता दिखलाई है। उनके इस परिश्रम के फलस्वरूप जिन्हें अपभ्रंश या प्राकृत पढ़ने का अभ्यास नहीं है किन्तु जो संस्कृत जानते हैं वे भी इस काव्यकलापूर्ण सुन्दर रचना का आनन्दोपभोग कर सकते हैं।

राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष की जैनदीक्षा

राष्ट्रकूट वंश के राजा अमोघवर्ष (प्रथम) इतिहासप्रसिद्ध हैं। इन्होंने मान्यखेट राजधानी बसाई, जो अपने वैभव और सौन्दर्य में इन्द्रपुरी से भी बढ़ गई थी। इनके राज्यकाल की प्रशस्तियां शक संवत् ७३८ से ७६६ तक की मिली हैं। (रेड: भारत के प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ ३९ आदि) उनसे पूर्व के राजा गोविन्दराज (तृतीय) का एक ताम्रपत्र शक ७३५ (सन् ८२३) का पाया जाता हैं, तथा अमोघवर्ष का एक लेख शक ७८८ का उनके राज्यकाल के ५२वें वर्ष का है। इन उल्लेखों पर से उनके राज्य का प्रारम्भ सन् ८१४-८२५ सिद्ध किया गया है। (Altekar : The Rashtrakuta and their Times, p. 71) इससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष ने सन् ८०५ से ८७७ तक ६२-६३ वर्ष अवशय राज्य किया।

अमोघवर्ष नरेश किस धर्म के अनुयायी थे, इस प्रश्न का उत्तर भी उनके सम्बन्ध के अनेक ताम्रपत्र, शिलालेख व साहिसिक उल्लेखों से चल जाता है। एक कुशल नीतिज्ञ राजा किसी धर्म विशेष का पक्षपाती या विरोधी नहीं हो सकता है। तदनुसार अमोघवर्ष के हिन्दूधर्म व जैनधर्म के प्रति सत्कार के अनेक उल्लेख मिलते हैं तो भी हिन्दूधर्म सम्बन्धी उल्लेख होने पर भी इतिहासकारों ने यह स्वीकार कर लिया है कि अमोघवर्ष की यथार्थ चित्तवृत्ति जैनधर्म की ओर थी। इस सम्बन्ध के प्राप्त उल्लेखों का परिचय कराकर सर रामकृष्णगोपाल भंडारकर ने अपने दक्षिण के इतिहास में लिखा है—

(Bhandarkar, The Early History of the Deccan, p. 95)

"From all this it appears that of all the Rashtrakuta princes Amoghavarsha was the greatest patron of the Digambara Jainas; and the statement that he adopted the Jain faith seems to be true."

अर्थात्— उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि समस्त राष्ट्रकूट राजाओं में से अमोघवर्ष सबसे बड़ा दिगम्बर जैनियों का संरक्षक था; और उसके जैनधर्म स्वीकार करने की बात भी यथार्थ प्रतीत होती है।

उसी प्रकार विश्वेश्वरनाथजी रेऊ ने भी कहा है कि (रेउ : भारत के प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ ४४-४५) "इससे ज्ञात होता है कि यह राजा दिगम्बर जैनमत का अनुयायी और जिनसेन का शिष्य था।.... इससे प्रतीत होता है कि अपनी वृद्धावस्था में इस राजा ने राज्य का भार अपने पुत्रों को सौंपकर शेष जीवन धर्मचिन्तन में बिताया था।" उसी प्रकार डॉक्टर अल्तेकर ने स्वीकार किया है कि—(Altekar : The Rastrakutas and their Times, p. 88)

"In religion Amoghavarsha had great leaning towards Jainism."

अर्थात् "धर्म के सम्बन्ध में अमोघ वर्ष का भारी झुकाव जैनधर्म की ओर था।"

जिन उल्लेखोंपर से उक्त इतिहासकारों ने अमोघ वर्ष के जैनधर्म के अनुयायी या जैनधर्म की ओर विशेष आकर्षित होने की बात स्वीकार की है, वे संक्षेपतः इस प्रकार है :—

(१) वीरसेनाचार्य ने अपनी धवलाटीका इन्हीं के काल में शक ७३८ में समाप्त की थी, तथा उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने अपने पार्श्वाभ्युदय काव्य की अन्तिम प्रशस्ति में उनको सदा राज्य करते रहने का आशीर्वाद दिया है। ('भुवनभवतु देवः सर्वदामोधवर्षः') इसी पार्श्वाभ्युदय काव्य की सर्गान्त पुष्पिकाओं में जिनसेनाचार्य अमोघवर्ष नरेश के 'परमगुरु' कहे गये हैं। (इष्टमोघवर्ष परमेश्वर परमगुरु श्रीजिनसेनाचार्यविरजिते मेघदूतवेष्ठितेपार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्पवर्णन नाम चतुर्थः सर्गः।)

(२) जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में कहा है कि अमोघवर्ष नृपति जिनसेनाचार्य को प्रणाम करने से अपने को पवित्र समझता था। (यस्यप्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्-पाद्राम्भोजरजः विशङ्ग मुकुटप्रसुग्र-रत्नघुतिः। संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमघेसलं-सं श्रीमान् जिनसेनपूज्य-भगवत्पादौ जगन्मङ्गलम्।।)

(३) 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' नामक एक छोटा सा सुन्दर सुभाषित काव्य है। यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि श्वेताम्बर जैनियों ने उसे अपनाकर विमलसूरिकृत प्रकट किया है और हिन्दुओं ने शंकराचार्य कृत मानकर उसका आदर किया है। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय ने इसे अमोघवर्षकृत ही माना है और उसका समर्थन एक तिब्बती अनुवाद से भी हो गया है। (Bhandarkar : Early History of the Decean, p. 95) इस काव्य के आदि में कर्ता ने वर्धमान तीर्थंकर को नमस्कार किया है। (मणिपस वर्धमान,

प्रश्नोत्तरमालिकां वक्षे। नागनरामरबंधं देवं देवाधिपं वीरम्।।) और अन्त के पद्य में कहा गया है कि "यह विद्वानों की सुन्दर अलंकाररूप रत्नमालिका राजा अमोघवर्ष की बनाई हुई है, जिन्होंने विवेक से राज्य का त्याग कर दिया। (विवेकात्यक्राज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका रचितऽमोघवर्षेण सुधियां सरलंकृतिः)।।

इन उल्लेखों पर से ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष नरेश ने न केवल जैनधर्म की ओर झुकाव ही दिखाया था, किन्तु जैनगुरुओं की वे बड़ी भक्ति करते थे। अन्तिम उल्लेख से ज्ञात होता है कि अन्ततः वैराग्य से उन्होंने राजपाट त्याग ही कर दिया था किन्तु राज्य त्यागकार उन्होंने क्या किया, इस विषय पर उक्त इतिहासज्ञों ने अपना भिन्न-भिन्न मत प्रकट किया है। सर भंडारकर ने तो अपने इतिहास में इतना ही कहा है कि, उनका जैनधर्म स्वीकार करना ठीक प्रतीत होता है!" रेऊजी का कहना है कि—"इससे प्रतीत होता है कि अपनी वृद्धावस्था में इस राजा ने राज्य का भार अपने पुत्र को सौंपकर शेष जीवन धर्म चिन्तन में बिताया था।" डॉ० अल्तेकर ने बतलाया है कि अमोघवर्ष के राज्य त्याग के सम्बन्ध का उल्लेख एक ताम्रपत्र में भी पाया जाता है। यह ताम्रपत्र अमोघवर्ष के ५२वें राज्यवर्ष का, शक ७८८ का, लिखा हुआ है। किन्तु उस उल्लेख से ज्ञात होता है कि उन्होंने एक नहीं अनेक बार राज्य त्याग किया था। इस पर से डॉ० अल्तेकर का मत है कि—

It would seem that he was after putting his yuvaraj or the ministry in charge of the administration, in order to pass some days in retirement and contemplation in the company of his Jaina gurus. This again shows the pious monarch trying to put into practice the teachings both of Hinduism and of Jainism which require a pious person to retire from life of the advent of old age in order to realise the highest ideals of human life."

अर्थात्-पूर्वोक्त उल्लेख पर से ऐसा मालूम होता है कि अमोघवर्ष कई बार अपने युवराज को या मंत्रिमण्डल को राज्य भी सौंपकर कुछ दिन एकान्तवास और ध्यान के लिये अपने जैनगुरुओं के साथ बिताया करते थे। इससे भी यही ज्ञात होता है कि ये धर्मात्मा नरेश हिन्दू और जैन के उपदेशों को अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करते थे, जिनके अनुसार धार्मिक मनुष्य को अपनी वृद्धावस्था में संसार के झंझटों से अलग होकर जीवन के उच्चतम आदर्श को प्राप्त करना चाहिये।

तब क्या प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका में अमोघवर्ष के किसी ऐसे ही एक अल्पकालीन राज्य त्याग का उल्लेख है और उसी अल्पकाल में वह रचना

करके वे पुनः सिंहासन पर आ बैठे होंगे। यह बात तो सच है कि जब शक ७८९ के लेखों में उनके राज्यत्याग का ही उल्लेख है, तब किसी अल्पकालीन त्याग का ही वहां अभिप्राय हो सकता है; क्योंकि उसके पश्चात् शक ७८९ व शक ७९९ के भी उनके लेख पाये गये हैं। किन्तु जिस राज्य-त्याग का उल्लेख 'प्रश्नोत्तर-रत्न-मालिका' में पाया जाता है, वह त्याग ऐसा अल्पकालीन प्रतीत नहीं होता। उस ग्रन्थ के भीतर जो भाव भरे हैं, वे लेखक के स्थायी वैराग्य के परिचायक हैं और अन्त में 'विवेकात्त्यक्तराज्येन' विशेषण लगाया गया है। उससे तो यही जान पड़ता है कि राजा का इस बार का त्याग क्षणिक नहीं, स्थायी था, उन्होंने विवेकपूर्वक यह त्याग किया था। पर राज्य छोड़कर उन्होंने किया क्या, यह फिर भी अनिश्चित ही रहा। क्या वे गृहस्थ रहकर एकान्त में धर्मचिन्तन करते रहे, या हिन्दूसंन्यासी या जैनमुनि बन गये? पं० नाथूरामजी प्रेमी का मत है कि— "यह बात अभी विवादापन्न ही है कि अमोघवर्ष ने राज्य को छोड़कर मुनिदीक्षा ली थी या केवल उदासीनता धारण करके श्रावक की कोई उत्कृष्ट प्रतिमा का चरित्र ग्रहण कर लिया था। हमारी समझ में यदि उन्होंने मुनि-दीक्षा ली होती, तो प्रश्नोत्तर रत्नमाला में वे अपना नाम 'अमोघवर्ष' न लिखकर मुनि अवस्था में धारण किया हुआ नाम लिखते। इसके सिवाय राज्य का त्याग करने के समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्ष की थी, इसलिये भी उनका कठिन मुनिलिंग धारण करना संभव प्रतीत नहीं होता।" (विद्वद्रत्नमाला, पृ० ८४)

उपर्युक्त उपलब्ध प्रमाणों पर से यह निष्कर्ष निकालना सयुक्तिकर ही है। पर इस विषय के निर्णय के लिये एक और बड़ा प्रमाण उपलब्ध है, जिसकी ओर अभी तक इतिहासज्ञों का पूर्ण ध्यान नहीं गया। अमोघवर्ष नृप का उल्लेख महावीराचार्य ने भी अपने गणितसार संग्रह में किया है और इस उल्लेख की सूचना उपर्युक्त समस्त इतिहासज्ञों के लेखों में पाई जाती है। किन्तु गणितसार संग्रह के पूरे उल्लेख का किसी ने अभी तक गंभीर अध्ययन नहीं किया, और इसीलिये उससे उपर्युक्त विषय पर जो प्रकाश पड़ना चाहिये था वह अभी तक नहीं पड़ सका। अब हम यहां महावीराचार्य द्वारा गणितसारसंग्रह में दी हुई अमोघवर्ष की प्रशस्ति का परिचय कराते हैं। गणितसारसंग्रह के प्रारंभ में मंगलाचरण है जिसके प्रथमपद्यमें अलंध्य, त्रिजगत्सर, अनन्तचतुष्टय के धारी महावीर जिनेन्द्र को नमस्कार किया गया है। दूसरे पद्य में उन महाकान्तिधारी जैनेन्द्र को प्रणाम किया गया है, जिन्होंने संख्याके ज्ञानरूपी प्रदीप से समस्त जगत् को प्रकाशित कर दिया है। तीसरे से आठवें पद्य तक अमोघ वर्ष की

प्रशस्ति है, जो इस प्रकार है—

प्रीणितः प्राणिसस्यौघो निरीतिर्निरवग्रहः।
श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा।। १ ।।
पापरूपाः परा यस्य चित्तवृत्तिहविर्भुजि।
भस्मसाद्भावमीपुस्तेऽबन्ध्यकोपोऽभवत्ततः।। २ ।।
वशीकुर्वन् जगत्सर्वं स्वयं नानुवशः परैः।
नाभिभूतः प्रभुस्तस्मादपूर्वमकरध्वजः।। ३ ।।
यो विक्रमक्रमाक्रांत चक्रिचक्र कृतक्रियः।
चक्रि काशञ्जनो नाम्ना चक्रिकामञ्जनोऽञ्जसा।। ४ ।।
यो विद्यानद्यधिष्ठानो मर्यादावज्रवेदिकः।
रत्नगर्भो यथाख्यातचरित्र जलधिर्महान्।। ५ ।।
विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्धतां तस्य शासनं।। ६ ।।

इस प्रशस्ति पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक ने यहाँ अमोघवर्ष की राजवृत्ति के साथ-साथ द्वयर्थक विशेषणों द्वारा उनकी मुनिवृत्ति का वर्णन किया है। यही नहीं, किन्तु अंत तक जाते-जाते राजवृत्ति-वर्णन बहुत गौण और मुनिवृत्ति वर्णन ही प्रधान हो गया है। प्रथम पद्य में अमोघवर्ष प्राणीरूपी सस्यसमूह को संतुष्ट व निरीति और निरवग्रह करने वाले और स्वेष्टहितैषी कहे गये हैं। यहाँ राजा के ईतिनिवारण और अनावृष्टि की विपत्ति के निवारण के साथ-साथ सब प्राणियों की ओर अभय और रागद्वेषरहित वृत्ति का उल्लेख है इस प्रकार वे आत्मकल्याणपरायण हो गये थे, यह "स्वेष्टहितैविणा" विशेषण से स्पष्ट है दूसरे पद्य में उनके पापरूपी शत्रुओं का उनकी चित्तवृत्तिरूपी तपोज्वाला में भस्म होने का उल्लेख है राजा अपने शत्रुओं को अपने क्रोध की अग्नि में भस्म कर डालता है; इन्होंने कामक्रोधादि अंतरंग शत्रुओं को कषाय रहित चित्तवृत्ति से नष्ट कर दिया था। वे अबन्ध्य कोप हो गये थे, उनके क्रोध कषाय का बंध नहीं रहा था। तीसरे पद्य में उनके समस्त जगत को वशीभूत करने, किन्तु स्वयं किसी के वशीभूत न होने से उन्हें "अपूर्व मकरध्वज" कहा है। यहाँ भी उनके चक्रवर्तित्व की अपेक्षा उनके समस्त इन्द्रियों व सांसारिक भावनाओं को जीतकर वीतरागत्व प्राप्त कर लेने की ओर विशेष लक्ष्य है। चौथे पद्य में उनकी एक 'चक्रिका भज्जन' पदवी की सार्थकता सिद्ध की है। राजमंडल को वश करने के अतिरिक्त यहां स्पष्टतः उनके क्रमशः तपस्या-वृद्धि-द्वारा

संसार चक्रपरिभ्रमण का क्षय करने का उल्लेख है। पांचवें पद्य में उनकी विद्याप्राप्ति और मर्यादाओं की वज्रवेदिका द्वारा उनकी ज्ञानवृद्धि और महाव्रतों के परिपालन का उल्लेख किया गया है 'रत्नगर्भ' विशेषण से स्पष्टतः उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नत्रयके धारण का भाव प्रकट किया गया है। उनके 'यथाख्यातचारित्र' जैन सिद्धान्त की एक विशेषसंज्ञा है जो मुनिसकल चारित्र को धारण करके भावों की विशुद्धि द्वारा समस्त कषायों को शांत या क्षीण कर देता है उसे ही यथाख्यात चारित्र का धारी कहते हैं। इस पद्य में तो अमोघवर्ष के मुनित्व के वर्णन होने से कोई संदेह ही नहीं रहता। अंतिम पद्य में उनके एकांत छोड़कर अनेकान्तस्याद्वाद न्याय का अवलंबन करने का स्पष्ट उल्लेख है। ऐसे नृपतुङ्गदेव के शासन अर्थात् धर्मशासन की वृद्धि की आशा की गई है।

इस प्रकार इस प्रशस्ति से कोई संदेह नहीं रहता कि राष्ट्रकूट-नरेश नृपतुङ्ग अमोघवर्ष ने राज्य त्यागकर मुनिदीक्षा धारण कर ली थी और उन्होंने अपनी चित्तवृत्ति को विशुद्ध और निर्मल बनाने में कुछ उठा नहीं रखा था।

अब रह जाती है प्रेमीजी की यह शंका कि यदि उन्होंने मुनि-दीक्षा धारण कर ली थी, तो फिर उन्होंने अपना नाम क्यों नहीं बदला पर यह आवश्यक नहीं है कि मुनि-दीक्षा लेने पर नाम अवश्य ही बदलना चाहिये। विशेषतः जब इतना बड़ा सम्राट दीक्षा लेता है, तो उसके पूर्व नाम के साथ जो यश और कीर्ति सम्बद्ध रहती है, उसकी रक्षार्थ लोग उसके उसी नाम को कायम रखना पसंद करेंगे ही। इसी कारण मौर्यनरेश चंद्रगुप्त का नाम उनके मुनि हो जाने पर भी चन्द्रगुप्त ही कायम रहा पाया जाता है। अतएव प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका में उसके लेखक का राज्यत्याग और दीक्षाधारण के पश्चात् भी यदि अमोघवर्ष नाम उल्लिखित किया गया है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

अमोघवर्ष के वृद्धत्व के कारण उनके दीक्षाग्रहण करने की असंभावना भी प्रबल नहीं है। राज छोड़ने के समय अमोघवर्ष वृद्ध तो थे, पर ८० वर्ष के नहीं। उनके शक ७८८ के ताम्रपत्रों में उल्लेख है कि उनके पिता गोविन्दराज जब अपनी उत्तर भारत की विजयपूर्ण कर चुके थे, तब अमोघवर्ष का जन्म हुआ था। गोविन्दराज की उत्तर भारत की विजय का काल सन् ८०६ से ८०८ तक सिद्ध होता है। अतएव जब वे सन् ८१४-८२५ में सिंहासनारूढ़ हुए, तब उनकी अवस्था केवल ६ वर्ष की (Altekar : The Rashtrakutas and their Times p. 71-72) और जब सन् ८७७ के लगभग उन्होंने राज

त्यागा, तब उनकी आयु ७० वर्ष से कुछ कम की ही सिद्ध होती है। इस समय तक जिनसेनाचार्य और संभवतः उनके शिष्य गुणभद्र का स्वर्गवास हो चुका था, इसी से उनकी किन्हीं भी प्रशस्तियों में उनके मुनि होने का उल्लेख नहीं आ सका होगा। महावीराचार्य ने अपना गणितसार संग्रह अमोघवर्ष के दीक्षा-ग्रहण कर लेने के और जीवनकाल के भीतर ही किसी समय लिखा होगा।

श्रीयुत एम. गोविन्द पै ने अपने एक लेख में (नृपतुङ्गका मतविचार, अनेकान्त; ३, पृ० ५७८ आदि) प्रकट किया है कि अमोघवर्ष के जैन धर्म स्वीकार करने सम्बन्धी सभी आधार निर्मूल मालूम पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में उनका प्रथम आक्षेप यह है कि उक्त नरेश के "५२वें वर्ष के शासन में 'सवोऽव्यात्' इस प्रकार का हरिहर-स्तुति सम्बन्धी शिरोलेख रहने से तब तक उनने जैनधर्म को ग्रहण नहीं किया था, ऐसा कहने में कोई आक्षेप नहीं दीखता।" किन्तु एक तो इस उल्लेख पर से उक्त नरेश को ५२वें वर्ष के पश्चात् जैन दीक्षा ग्रहण करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती और दूसरे शासन शिरोलेख आदि राज्य कर्मचारियों द्वारा प्रायः राज्य-विभाग की परंपरानुसार लिखे जाते हैं, वे सदैव किसी राजा की निजी धार्मिक मनोवृत्ति के सच्चे परिचायक नहीं कहे जा सकते। पै जी का दूसरा आक्षेप यह है कि उत्तरपुराण में जो अमोघवर्ष के जिनसेन की बन्दना का उल्लेख है वह "जिनसेन और अमोघवर्ष के बीच में एक समय परस्पर भेंट का वर्णन मालूम पड़ता है, इससे ज्यादा अर्थ उसमें अनुमान करना ठीक नहीं मालूम होता।" पार्श्वाभ्युदय की जिन सर्गांत पुष्पिकाओं में जिनसेन को अमोघवर्ष राजा का परमगुरु कहा है, वे पुष्पिकाएँ उनके मत से जिनसेन की स्वयं रचना न होकर "उस काव्य के टीकाकार योगिराज पंडिताचार्य द्वारा या और किसी के द्वारा जोड़ी गई होंगी" गणितसार संग्रह में उसके कर्त्ता द्वारा ग्रन्थ का रचनाकाल नहीं दिया गया, इससे यह निश्चयतः नहीं कहा जा सकता कि वहां उल्लिखित अमोघवर्ष से उपर्युक्त नरेश का ही तात्पर्य है; क्योंकि "आमोघवर्षनृपतुङ्ग उपाधियों से युक्त नरेश बहुत से हो गये हैं। अथवा यह वही राजा माना जाय तो भी उक्त उल्लेख से उसका जैनधर्म का स्वीकार करना सिद्ध नहीं होता। प्रश्नोत्तररत्नमालिका की जो अमोघवर्ष के राज्य त्याग का उल्लेख करने वाली अन्तिम पुष्पिका है वह शेष काव्य के छंद से भिन्न छंद में होने के कारण काव्य का मौलिक अंश न होकर पीछे से जोड़ा हुआ छंद हो सकता है।" इत्यादि। पै जी के ये सब आक्षेप तभी कुछ सार्थकता रखते हैं जब पहले से ही यह निश्चय कर लिया जाय कि अमोघवर्ष ने कभी जैनधर्म ग्रहण नहीं किया था। यदि एकाध ही

उल्लेख अमोघवर्ष के जैनत्व के संबंन्ध का होता तो भी उक्त प्रकार की आपत्ति कुछ मूल्यवान हो सकती थी। पर उनके ग्रन्थों के उल्लेखों को उक्त प्रकार बिना किसी आधार के, केवल शक पद से ही अमान्य ठहराना उचित नहीं जँचता। अमोघवर्ष के जैनत्व की मान्यता की प्राचीनता और मौलिकता को प्रसिद्ध करने में कोई प्रबल दलील पै जी के लेख में नहीं पाई जाती। अमोघवर्ष सम्बन्धी समस्त उल्लेखों पर से उनके जैनत्व स्वीकार करने में कोई ऐतिहासिक विसंगति उत्पन्न नहीं होती।

अनुभाग—४

इतिहास

इतिहासातीत काल का नागपुर

भारतीय लोक-साहित्य, पुराण और इतिहास में नागों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। नाग, सर्प भी हैं, देव भी है, दानव भी है और मनुष्य भी है। कोई, नाग-कथानकों को सर्वथा कल्पित मानते हैं, तो कोई, उन्हें पूर्णतः तथ्यात्मक स्वीकार करते हैं। किन्तु बहुत कुछ छानबीन, खोज-शोध और समालोचन के पश्चात् विद्वानों ने, यह निष्कर्ष निकाला है कि इतिहासातीत काल में नागों की एक मनुष्य-जाति थी, उसका राजकीय प्रभुत्व भी था और आर्य जाति से उसका संघर्ष भी हुआ। किन्तु कुछ काल के पश्चात् आर्यों और नागों में मेल-जोल बढ़ गया, यहां तक कि उनमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध भी होने लगे। नागवंशी जातियों की परम्परा आज तक भी विद्यमान है। तथापि मध्य के काल में नागों के संबंध में नाना प्रकार के भ्रम फैल गये और उनके साथ कुछ लोकातीत घटनाओं को जोड़ दिया गया, जिससे उनका इतिहास बहुत ही विकृत हो गया। यदि हम पौराणिक वार्ताओं को भले प्रकार समझने का प्रयत्न करें तो हमें, नागों के सम्बन्ध के अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का पता चल जाता है।

उदाहरणार्थ, महाभारत में नागों के अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। अर्जुन को एक बार एक नागकन्या, नाग लोक में ले गई। राजा नल ने, कर्कोटक नाग की रक्षा की, जिसके प्रतिफल स्वरूप उस नाग ने, नल को कुछ विद्या देकर, राजा ऋतुपर्ण के पास भेजा। खाण्डव वन, एक समय नागों से भरा हुआ था। कृष्ण और अर्जुन ने उनका विनाश करने का प्रयत्न किया। कृष्ण और कालिय नाग का युद्ध लोक-प्रसिद्ध ही है। तक्षक नाग ने, परीक्षित को डस लिया था, जिसके शोध के लिये परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने, नागों को भस्मसात् करने की ठान ली थी। महाभारत में नागलोक का जो वर्णन पाया जाता है, उसी से सिद्ध है कि वह मानवीय सभ्यता प्रधान था। "नागलोग का विस्तार सैकड़ों योजन का था और मणिमय कोट-कंगूरों से अलंकृत था। वहां के सरोवर स्फटिक पाषाणों से पटे हुए और सीढियों सहित थे" इत्यादि।

विष्णु पुराण से नागों के लोक-पाताल का, उनकी तीन राजधानियों-पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा का तथा तक्षक, ककोटिक, धनंजय आदि नौ नाग

राजाओं का उल्लेख व वर्णन है। भविष्य पुराण में नागों के उत्सव-दिवस नागपंचमी का वर्णन है। बौद्ध साहित्य में भगवान् बुद्ध द्वारा नागों को उपदेश दिये जाने का वर्णन है। नाग बौद्ध धर्म के रक्षक भी बतलाये गये हैं। मूर्तिकला में नागों का संकेत सर्प-चिन्ह द्वारा किया जाता है; क्योंकि सर्प उनका ध्वज-चिन्ह रहा होगा। जैन पुराणों में नागों का निवास स्थान पाताल माना गया है। उनके एक राजा धरणेन्द्रनाग ने, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की तपस्या के समय कमठासुर के आघातों से रक्षा की थी, जिसकी स्मृति में धरणेन्द्र की, जैन मन्दिरों में मूर्तियां अंकित की जाती हैं।

जैन साहित्य में 'नागकुमार' के जीवन चरित्र की बड़ी महिमा है। बीसों काव्य संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं में 'नागकुमार चरित्र' के नाम से लिखे गये हैं। काव्य-कौशल को छोड़कर, कथा भाग प्रायः सबका एक-सा ही है। मगध देश का एक राजकुमार बचपन में एक वापी में गिर पड़ा। वहाँ नागों ने उसकी रक्षा की और उसे अपना 'कुमार' मान लिया। इसी से उसका नाम 'नागकुमार' पड़ गया। नागों ने, उसे नाना विद्यायें और कलायें सिखलाई। पश्चात् नागकुमार ने खूब दिग्विजय की, राज्य किया और अन्ततः विरक्त होकर तपस्या धारण कर ली।

पुराणों के अतिरिक्त नवसाहसाङ्क चरित जैसे ऐतिहासिक काव्यों तथा शिलालेखों व ताम्रपत्रों आदि पर से ऐसा प्रतीत होता है कि नागों के अनेक स्थानों पर उपनिवेश थे, जिनमें से एक उपनिवेश वर्तमान नागपुर व उसके आसपास भी था। रायबहादुर हीरालालजी ने, अनेक प्रमाणों का पर्यालोचन करके, यह निष्कर्ष निकाला था कि किसी समय सतपुड़ा से गोदावरी तक नागपुर, चांदा, रायपुर, दुर्ग व बस्तर जिलों का प्रदेश, पाताल या नागलोक कहलाता था। इसकी राजधानी भोगवती थी, जो वर्तमान रामटेक व उसके आसपास रही होगी। यदि यह ठीक है तो यह अनुमान करना भी अनुचित न होगा कि जैन नागकुमार चरित्र में, जिस नागलोक का वर्णन है व जहां नागकुमार का परिपालन और विद्याध्ययन हुआ था, वह वर्तमान नागपुर व उसके आसपास का प्रदेश ही था। अतएव प्रतीत होता है कि जहां अब नागपुर विश्वविद्यालय है, वहां किसी समय अति प्राचीन काल में नागों का विद्यालय था। यही पर संभवतः नागार्जुन ने भी अध्ययन-आध्यापन कार्य किया होगा।

दशवीं शताब्दी में पुष्पदन्त कवि ने, अपभ्रंश में बड़ा सुन्दर काव्य 'नागकुमार चरित' लिखा है। उसमें नागकुमार को नागलोक में जो शिक्षण मिला, उसका परम्परागत वर्णन दिया है, जिससे हमें प्राचीन उच्च लौकिक शिक्षण के विषयों का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। नागकुमार के शिक्षण की

विषय-सूची महाकवि पुष्पदन्त के ही मुख से सुनिये —

सिद्धं नमः भणेवि, अट्ठारह लिविउ भुअंगउ।
दक्खालइ सुय हो, सिक्खइ मेहावि अणंगउ।।
कालक्खरइं गणियइं गंधव्वइं वायरणाइं सिक्खिउ।
सो णिच्चं पढंतु हुउ पंडिउ वाएसरिं-णिरिक्खिउ।।
छंदालंकारइं णिग्घंटइं।
जोइसाइं गहगमनपयदइं।।
कव्वइं णाडय-सत्थइं सुणियइं।
पहरणाइं णीसेसइं गुणियइं।।
पडह-संख-वरतंतीसालइं।
अब्भसियइं वज्जाइं खालई।।
पत्त-पुप्फ-णाणाफलछेज्जइं।
हय-गयविंदारोहण-विज्जइं।।
चंदबलइं सर उयय विहाणइं।
सत्तभउमपासायपमाणइं।।
तंतइं मंतइं वरवसियंरणइं। वूहविरयणइं पहरणहरणइं।
सिप्पइं सवियप्पइं मणि णिहियइं। चित्तइं चित्ताभाराइं लिहियइं।
इंदजालु रिउथंभणु मोहणु। विज्जासाहणु जणसंखोहणु।
णर-णारी लक्खण भूसणविहि। कामुयविहि सेवाविहि सुहणिहि।
गंधजुत्ति मणि-ओसहजुत्ति वि।
सिक्खिय तेणा णेरसर वित्ति वि।
किं जड़माणवहिं सुखरु सविसेसु वियाणइ।
विसहरु वम्मह हे, पवरत्थु सत्थु वक्खाणइ।।

(णा. कु. च. ३, १)

इसका अर्थ यह है कि सिद्धों को नमस्कार करके, वह नाग कुमार को विद्याएं सिखाने लगा और मेधावी नागकुमार भी उन्हें सीखने लगा। ये विद्याएँ निम्न प्रकार थीं :—

१ **अठारह लिपियां**-इनके नाम जैन आगमों में मिलते हैं। उनमें ब्राह्मी और खरोष्ट्री लिपियां भी सम्मिलित हैं।

२ **कालाक्षर**-सफेद पाटी पर काली स्याही से लिखने की कला।

३ **गणित**-गिनती, दूनिया व जोड़, बाकी, गुणा-भाग आदि प्रक्रियाएं।

४ **गंधर्व विद्या**- अर्थात् गान कला।

५ **व्याकरण**-भाषा की शुद्धि के नियम।

६ **छंद**-गण व मात्रा आदि की दृष्टि से निर्दोष काव्य-रचना का शास्त्र।

७ **अलंकार**-उपमा, रूपक आदि काव्य के गुण।

८ **निघंटु**-शब्दकोष।

९ **ज्योतिरूष**- सूर्य, चन्द्र व नक्षत्रों आदि की गतियों सम्बन्धी गणित, ज्योतिष तथा उनसे फलित होने वाले शुभ-अशुभ परिणामों के विचार रूप फलित ज्योतिष।

१० **ग्रह-गमन**- प्रवृत्ति- बुध, शुक्र, शनि आदि ग्रहों के गमनागमन का विचार और उनका व्यक्तियों के जीवन पर जन्मकुंडली के अनुसार फल का विचार।

११ **काव्य**-कविता की रचना।

१२ **नाटक शास्त्र**- नाटक रचना व रंगमंच आदि की कला का शास्त्र जैसे भारत नाट्यशास्त्र।

१३ **प्रहरण**- नाना प्रकार के अस्त्र और शस्त्रों को चलाने की विधि।

१४ **पटह**- वाद्य विशेष

१५ **शंख**- ,, ,,

१६ **तंत्रीताल** ,, ,,

१७ **पत्र-पुष्प-फल-छेद्य**-पत्तों, फूलों व फलों को विधिपूर्वक काटकर उन्हें नाना प्रकार के कलात्मक रूप देना व अलंकार और आभूषण बनाना।

१८ **हयारोहण**- घोड़े की सवारी।

१९ **गजारोहण**- हाथी की सवारी।

२० **चन्द्रबल**- फलित ज्योतिष का एक अंग।

२१ **स्वरोदय**- नाक के दांये-बांये स्वरों के अनुसार शुभ-अशुभ फल का विचार।

२२ **सप्त भौम प्रासाद-प्रमाण**- सत-खंडे महलों को बनवाने के लिये, नींव, दीवाल आदि के प्रमाणों व अनुपातों का विचार।

२३ **तंत्र**- नाना प्रकार के गूढ रेखा चित्रों द्वारा शुभ-अशुभ परिणामों को निकालने की विद्या।

२४ **मंत्र**- नाना प्रकार के गूढ पाठों द्वारा कार्य सिद्धि की विद्या।

२५ **वशीकरण**- दूसरों के मन को अपनी ओर आकर्षित करने की विद्या।

२६ **व्यूह-विरचना**- युद्ध के लिये परिस्थिति अनुसार नाना प्रकार से सेना का विन्यास।

२७ **प्रहरण-हरण**- शत्रु द्वारा चलाये गये अस्त्र-शस्त्रों के निवारण करने की कला।

२८ **शिल्प**-लकड़ी, पत्थर, धातु व मिट्टी आदि से नाना प्रकार की उपयोगी व सुन्दर वस्तुओं का निर्माण।

२९ **चित्रकला**- नाना प्रकार के रूपों को भित्ति व पट आदि पर लेखनी व रंगों से अंकित करना।

३० **चित्रायास**- संकेत चित्र।

३१ **इन्द्रजाल**- असत्य को सत्य से प्रत्यक्ष दिखाने की कला।

३२ **रिपुस्तंभन**- ऐसी मंत्रविद्या, जिससे शत्रु के हाथ-पैर शून्य पड़ जायें और वह जड़वत् होकर शस्त्र-प्रहार न कर सके।

३३ **मोहन**- जो अपने प्रतिकूल हो, उसे अनुकूल बना लेने की कला।

३४ **विद्या साधन**- नाना प्रकार की गूढ विद्याओं को सिद्ध करने की विधियां।

३५ **जन संक्षोभन**- बहुजन समाज में क्षोम उत्पन्न करने की कला।

३६ **नर-नारी-लक्षणा**- अर्थात् सामुद्रिक शास्त्र।

३७ **भूषण विधि**- वस्त्रों, अलंकारों व चन्दन, माला आदि को धारण करने की कला।

३८ **कामुकविधि**- कामशास्त्र।

३९ **सेवाविधि**- रोगी, वृद्ध, व बालक की परिचर्या करने की कला- धात्रीकर्म।

४० **गंधयुक्ति**- सुंगधित द्रव्यों को मिलाकर अधिक सुंगधी वस्तु तैयार करने की कला।

४१ **मणियुक्ति**- नाना प्रकार के मणियों के संयोग से सुन्दर हार आदि अलंकार बनाने की कला।

४२ **औषधयुक्ति**- नाना जड़ी बूटियों के संयोग से हितकारी औषधियों के निर्माण की विद्या।

४३ **नरेश्वर-वृत्ति**- राजनीति।

इस विद्याओं में कुछ ऐसी हैं, जो आज भी विद्यालयों में पढ़ाई जाती हैं किन्तु कुछ ऐसी भी हैं जैसे मंत्र-तंत्र व इन्द्रजाल आदि, जिनमें अब वैज्ञानिक लोगों को विश्वास नहीं रहा और जिनका प्रयोगात्मक ज्ञान यदि कभी रहा हो तो अब लुप्तप्राय है। ये विद्याएं नागलोक में पढ़ाई जाती थी, ऐसा उक्त ग्रंथ पर से स्पष्ट विदित होता है। किन्तु कुछ लोग अब ऐसा मानते हैं कि कवि,

अपने काल की घटनाओं को प्राचीनकाल के वर्णन में सम्मिलित कर देते हैं। यदि ऐसा हो तो भी उक्त विद्याओं के शिक्षण की व्यवस्था दशवीं शताब्दी में तो सिद्ध होती ही हैं।

गिरिनगर की चन्द्रगुफा

षट्खंडागम की टीका धवला के रचयिता वीरसेनाचार्य ने कहा है कि समस्त सिद्धान्त के एक देशज्ञाता धरसेनाचार्य थे जो सोरठ देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में ध्यान करते थे (षट्खंडागम, भाग १ पृ० ९६) उन्हें सिद्धान्त के संरक्षण की चिन्ता हुई। अत: महिमानगरी के तत्कालवर्त्ती मुनिसम्मेलन को पत्र लिखकर उन्होंने वहाँ से दो मुनियों को बुलाया और उन्हें सिद्धान्त सिखाया। ये ही दो मुनि पुष्पदन्त और भूतबलि नामों से प्रसिद्ध हुए और इन्होंने वह समस्त सिद्धान्त षट्खंडागम के सूत्ररूप में लिपिबद्ध किया।

इस उल्लेख से यह तो सुस्पष्ट हो जाता है कि घरसेनाचार्य सौराष्ट्र (काठियावाड-गुजरात) के निवासी थे और गिरिनगर में रहते थे। यह गिरिनगर आधुनिक गिरनार है जो प्राचीन काल में सौराष्ट्र की राजधानी था। यहाँ मौर्य क्षत्रप और गुप्तकाल के सुप्रसिद्ध शिलालेख पाये गये हैं। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ ने भी यहाँ तपस्या की थी; जिससे यह स्थान जैनियों का एक बड़ा तीर्थक्षेत्र है। आधुनिक काल में नगर का नाम तो भूनागढ़ हो गया है और प्राचीन नाम गिरनार उसी समीपवर्ती पहाड़ी का रख दिया गया जो पहले ऊर्जयन्त पर्वत के नाम से प्रसिद्ध थी। अब प्रश्न यह है कि क्या इस इतिहास प्रसिद्ध नगर में उस चन्द्रगुफा का पता लग सकता है जहाँ धरसेनाचार्य ध्यान करते थे, और जहाँ उनके श्रुतज्ञान का पारायण पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों को कराया गया था।

खोज करने से पता चलता है कि भूनागढ़ में बहुत-सी प्राचीन गुफाएं हैं। एक गुफासमूह नगर के पूर्वीय भाग में आधुनिक 'बाबा प्यारा मठ' के समीप है। उन गुफाओं का अध्ययन और वर्णन बर्जेज साहब ने किया है। उन्हें उन गुफाओं में ईसवी पूर्व पहली दूसरी शताब्दी तक के चिन्ह मिले हैं। ये गुफाएँ तीन पंक्तियों में स्थित हैं। प्रथम गुफा पंक्ति उत्तर की ओर दक्षिणाभिमुख है। इसी के पूर्व भाग से दूसरी गुफा पंक्ति प्रारंभ होती है (Smith : Jain stupa (Arch. Survey of India XX, pt. XI) यही नहीं, वहाँ से एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है, जिसमें क्षत्रप राजाओं के अतिरिक्त 'केवली' या

केवलज्ञान का उल्लेख है। इस पर से उसके जैनत्व में कोई संशय ही नहीं रहता। दुर्भाग्यतः इस अत्यन्त महत्वपूर्ण शिलालेख की दुर्दशा की बड़ी करुण कहानी है। (उक्त गुफा के सम्मुख सन् १८७९ से पूर्व कुछ खुदाई हुई थी। उसी में वह शिलापट्ट हाथ लगा। निकालने में ही उसका एक हिस्सा टूट गया। फिर उसे उठाकर कोई शहर के भीतर राजमहल में ले गया और इसी समय उसके एक ओर कोने को भारी क्षति पहुँची। जब बर्जेज साहब उसका फोटो लेने गये तब उसका पता लगना ही कठिन हो गया। अन्ततः वह महल के सामने गोल बरामदे में एक जगह पड़ा हुआ मिला। (Arch. Survey of Western India, Vol. II, p. 110) फिर वह कुछ काल तक भूनागढ़ दरबार के छापेखाने में पड़ा रहा। तत्पश्चात् किसी और एक विपत्ति में पड़कर उसके दो टुकड़े हो गये और इस हालत में अब वह वहाँ के अजायबघर में सुरक्षित हैं।

यह शिलापट्ट दो फुट लम्बा-चौड़ा और आठ इंच मोटा है। इसके एक पृष्ठभाग पर चार पंक्तियों का लेख है जो १ फूट ९ इंच चौड़ी और ६ इंज ऊँची जगह में है। एक-एक अक्षर लगभग आधा इंच बड़ा है। लेख को क्षति बहुत पहुँची है। बीच की दो पंक्तियां कुछ सुरक्षित हैं, किन्तु प्रथम और चतुर्थ पंक्ति का बहुत सा भाग अस्पष्ट हो गया है और पढ़ने में नहीं आता। फिर एक ओर से जो शिलापट्ट टूट गया है उसके साथ इन पंक्तियों का कितना हिस्सा खो गया वह निश्चयतः नहीं कहा जा सकता। बुल्हर साहब के मत से दूसरी और चौथी पंक्तियां प्रायः पूरी हैं। केवल कोई दो अक्षरों की ही कमी है। किन्तु यह अनुमान ही है निश्चित नहीं। उसी काल के अन्य शिलालेखों पर से निश्चयतः तो इतना ही कहा जा सकता है कि दूसरी और तीसरी पंक्तियों में जयदामन् नरेश के पुत्र और पौत्र के नामोल्लेख तथा लेख के वर्ष का उल्लेख, संभवतः अंकों और शब्दों में दोनों प्रकार से अवश्य रहा होगा। लेख की लिपि निश्चयतः क्षत्रपकाल की है। लेख टूटा हुआ होने से उसका प्रयोजन स्पष्टतः ज्ञात नहीं होता। किन्तु जितना कुछ लेख बचा है उससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उसका संबंध जैनधर्म की किसी घटना से है। उसमें 'देवासुर-नाग यक्ष रादास', 'केवलिज्ञान', 'जरामरण' जैसे शब्द स्खलित पड़े हुए हैं, जिनसे अनुमान होता है कि उसमें किसी बड़े ज्ञानी और संयमी जैनमुनि के शरीर त्याग का उल्लेख रहा हो और उस अवसर पर देव, असुर, नाग, यक्ष और राक्षसों ने उत्सव मनाया हो। यह घटना 'गिरिनगर' (गिरनार) में ही हुई थी, इसका लेख में स्पष्ट उल्लेख

है। घटना का काल चैत्र, शुक्ल पंचमी दिया है, पर वर्ष का उल्लेख टूट गया है। जिस राजा के राज्यकाल में यह घटना हुई थी उस राजा का नाम भी टूट गया है। पर इतना तो स्पष्ट है कि वह राजा क्षत्रपवंश के चष्टन का प्रपौत्र व जयदामन का पौत्र था। उस वंश के अन्य शिलालेखों व क्षत्रपवंश की प्रस्तुतोपयोगी निम्न परम्परा का पता चला चुका है।

चस्टन— जयदामन— रुद्रदामन— दामदजश्री (सत्यदामा व जीवदामा।) व रुद्रसिंह

अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त लेख में चष्टन के प्रपौत्र और जयदामन के पौत्र से रूद्दामन् के पुत्र दामदजश्री या रूद्रसिंह का ही अभिप्राय होगा। चष्टन का उल्लेख यूनानी लेखक टालेमी ने अपने ग्रन्थ में किया है। यह ग्रन्थ सन् १३० ईस्वी (शक ५२) के लगभग लिखा गया था। रुद्रदामन् के समय के सुप्रसिद्ध लेख में शक ७२ (सन् १५०) का उल्लेख है। रुद्रसिंह के शिलालेख व सिक्कों पर शक १०२ से ११० व ११३ से ११८-११९ तक के उल्लेख मिले हैं। शक संवत् १०३ का लेख अनेक बातों में प्रस्तुत लेख के समान होने से हमारे लिए बहुत उपयोगी है। जीवदामन् के शक ११६ से १२० तक के सिक्के मिले हैं। क्षत्रप राजाओं के राज्यकाल की सीमाएं अभी बहुत कुछ गड़बड़ी में हैं। इन राजाओं में यह भी प्रथा थी कि राज्य परम्परा एक भाई के पश्चात् उसमें छोटे भाई की ओर चलती थी और जब सब जीवित भाईयों का राज्य समाप्त हो जाय तब नई पीढ़ी की ओर जाती थी। उससे भी क्रमनिश्चय में कुछ कठिनाई पड़ती है। तथापि पूर्व के निश्चित उल्लेखों पर से हमें प्रस्तुतोपयोगी इतनी बात तो विदित हो जाती है कि उक्त लेख दामदजश्री या रुद्रसिंह के समय का है और उनका समय शक ८२ से ११९ है अर्थात् सन् ९५० से ९९६ ई० तक के ४६ वर्षों के भीतर ही पड़ता है। रुद्रसिंह के शक १०३ के गुंद नामक स्थान से प्राप्त लेख को देखने से अनुमान होता है कि प्रस्तुत लेख भी उन्हीं के समय का और उक्त वर्ष के आसपास का हो तो आश्चर्य नहीं। अतः प्रस्तुत लेख का काल लगभग शक १०३ (सन् ९८१) अनुमान किया जा सकता है।

हम षट्खंडागम के प्रथम भाग की प्रस्तावना में षट्खंडागम के विषय के ज्ञाता धरसेनाचार्य के विषय में बता आये हैं कि उन्होंने गिरिनगर की चन्द्रगुफा में रहते हुए पुष्पदन्त और भूतबलि को सिद्धान्त पढ़ाया। जैन पट्टावलियों आदि पर से उनके काल का भी विचार करके हम इस निर्णय पर पहुँचे थे कि उक्त ग्रन्थ की रचना शक ९ (सन् ८७) के पश्चात् हुई थी। अब जब हम गिरिनगर की उक्त गुफाओं और वहाँ के उक्त शिलालेख पर विचार करते हैं तो अनुमान होता है कि सम्भवतः भूनागढ़ की ये ही 'बाबा

प्यारा मठ' के पास की प्राचीन जैन गुफाएँ धरसेनाचार्य का निवास स्थान रही हैं। क्षेत्र वही है। काल भी वही पड़ता है। धरसेन की गुफा का नाम चन्द्रगुफा था। यहाँ की एक गुफा का पिछला हिस्सा-चैत्य स्थान चन्द्राकार है। आश्चर्य नहीं जो इसी कारण वही गुफा चन्द्रगुफा कहलाती रही है। आश्चर्य नहीं जो उपर्युक्त शिलालेख उन्हीं धरसेनाचार्य की स्मृति में ही अंकित किया गया हो। लेख में ज्ञान का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। यदि यह लेख पूरा मिल गया होता तो जैन इतिहास की एक बड़ी भारी घटना पर अच्छा प्रकाश पड़ा जाता। इस शिलालेख की दुर्दशा इस बात का प्रामाण है कि हमारे प्राचीन इतिहास की सामग्री किस प्रकार आज भी नष्ट-भ्रष्ट हो रही है।

यह लेख सर्वप्रथम सन् १८७६ में अग्बुल्हर द्वारा सम्पादित किया गया था और फोटोग्राफ तथा अंग्रेजी अनुवाद साहित Archaeological Survey of Western India, Vol. II में पृष्ठ १४० आदि पर छपा था। यही फिर कुछ साधारण सुधारों के साथ सन् १८९५ में स्याही के ठप्पे की प्रतिलिपि व अनुवाद सहित भावनगर के प्राकृत और संस्कृत के शिलालेख के पृ० १७ आदि पर छपा। रैपसन साहब ने अपने Catalogue of Coins of the Andhra Dynasty etc., P.L. XI, No. 40 में इस लेख का संक्षिप्त परिचय दिया है तथा प्रो० लूडर्स ने अपनी List of Brahmi Inscriptions में नं० ९६६ पर इस लेख का संक्षिप्त परिचय दिया है। यह लिस्ट एपीग्राफीआ इंडिका, भाग १० सन् १९१८ के परिशिष्ट में प्रकाशित हुई है। इस लेख का अन्तिम सम्पादन व अनुवादादि राखालदास बनर्जी और विष्णु एस० सुखतंकर ने किया है जो एपीग्राफिया इंडिका भाग १६ के पृ० २३८ आदि पर छपा है। और इसी के आधार से हमने उसका पाठ लिखा है। उक्त गुफाओं का सर्वप्रथम वर्णन बर्जेज साहब ने किया है, जो इनकी Antiquities of Kutchh and Kathiawar (1874-75) के पृष्ट १२६ आदि पर छपा है। उनका परिचय हाल ही में श्रीयुत एच० डी० सांकलिया ने अपनी The Archaeology of Gujrat (Bombay 1941) नामक पुस्तक में कराया है।

प्राप्त लेख इस प्रकार है—

(पं० १)..... स्तथा सुरगण (1) [दाग] णं प्रथ [म].....

(पं० २)..... चाष्टनस्य प्र [कै] त्रस्य राज्ञः दा (त्रय) स्य स्वामिजयदामपे (ो) त्रस्य राज्ञो म (हा.).....

(पं० ३)..... [चै] त्रशुक्लस्य दिवसे पंचमें ५ ई. [ह] गिरिनगरे दैवासुरनागय (त्र) राक्षसे.....

(पं० ४)..... पथ [पु] रमिक..... कैकलि [क्षा] न सं..... ना अरामरण (ड)

अनुवाद

·····तथा सुरगसा·····क्षत्रियों में प्रथम·····चष्टन के प्रकौष्ट के राजा क्षत्रप स्वामी जयदाम के पौत्र के, राजा महा·····चैत्र शुक्ल की पंचमी को ५ यहाँ गिरिनगर में देवासुर—नागयदा राक्षय·····पुर के समान·····केवलिज्ञान सं०·····के जरामरण·····

इस लेख की राजवंशावलि आदि को समझने तथा लेख की गति-विधि का कुछ आभास देने के लिए हम चष्टन के प्रपौत्र जयदाम के पौत्र रुद्रदाम के पुत्र स्वामी रुद्रसिंह के उस लेख को भी यहाँ उद्धृत कर देना उचित समझते हैं जो ठीक उसी लिपि में लिखा हुआ गुण्ड नामक स्थान से प्राप्त हुआ हैं, जो अपने रूप में पूरा है और जिसमें १०३वीं वर्ष का स्पष्ट उल्लेख हैं—

गुटाड का शिलालेख

(पं० १) सिद्ध। राजो महतत्र [प] स्यं स्वामि चष्टन पौगस्य राज्ञो क्षत्रपस्य स्वामिजयदाम पौत्रस्य।

(पं० २) राज्ञो महक्षत्रपस्य स्वामिरुद्रदामपुत्रस्य राज्ञो क्षमत्रस्य स्वामिरुद्र

(पं० ३) सद्रिस्य [व] पे [त्र] युत्तरशत् १००३ वैशाखशुद्धे पंचमिथलतिथौ से [हि] जिन नदा—

(पं० ४) त्र मुहूर्तेआभीरेण सेनापादौवापकस्य पुत्तेणत सेनापतिरुद्रभूतिना ग्रामेरसो—

(पं० ५) [प] द्रिथे वा [यी] (ख) नि (तो) (बद्ध) पितश्च सर्वसत्त्वनां हित सुस्वार्थ मिति।

अनुवाद

सिद्धं। राजा महाक्षत्रप स्वामिचष्टन के प्रपौत्र, राजा क्षत्रपस्वामी जयदाम के पौत्र; राजा महाक्षत्रपस्वामी रुद्रदाम के पुत्र, राजापत्रस्वामी रुद्रसिंह के वर्ष एक सौ तीन वैशाख शुद्ध पंचमी तिथि के रोहिणी नक्षत्र के मुहूर्त में आभीर सेनापति बापक्षों पुत्र सेनापति रुद्रभूमि ने ग्राम रसोपद्रिय में वापी खुदवाई और बंधवाई सब जीवों के हित और सुख के लिये। इति।

चंदेल राजा परमाल (परमार्दिदेव) के समय का एक जैन शिलालेख (विक्रम संवत् १२३७)

बुंदेलखंड प्रांत में अनेक स्थानों पर जैनियों के प्राचीन मंदिर, मूर्तियाँ और शिलालेख पाए जाते हैं। इन स्थानों में खजुराहो सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यहाँ के कारीगरी-पूर्ण जैन मंदिरों में चंदेल राजाओं के समय के, दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक के, शिलालेख मिले हैं। इसी प्रांत के अंतर्गत ओरछा रियासत की राजधानी टीकमगढ़ से दस मील पूर्व की ओर 'अहार' नामक एक ग्राम है। यहाँ दिगंबर जैनियों के तीन प्राचीन मंदिर हैं जो आजकल क्रमशः 'बड़ा मंदिर', 'दहलान' और 'सभा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। बड़े मंदिर के मूल नायक शांतिनाथ तीर्थंकर की विशाल, खड्गासन मूर्ति श्वेतहरित, देशी चमकदार पाषाण की बनी हुई, १८ फुट ऊँची है। जान पड़ता है इसके हस्त-चरणादि अवयव किसी समय, किसी कारण से, खंडित हो गए थे जो पीछे से जोड़ दिए गए हैं। इस मूर्ति के आसन पर एक लेख खुदा हुआ है। इसी लेख का परिचय यहाँ दिया गया है।

(१) लेख का आकार—लेख शांतिनाथ भगवान् की मूर्ति के आसन के सामने की बाजू पर २ फुट ४ इंच चौड़ाई तथा ९ इंच ऊँचाई में है। आसन के बीचोबीच मूर्ति-चिह्न बना हुआ है। उसी के दाएँ-बाएँ लेख है। कुल पंक्तियाँ ९ हैं जो बीच के चिह्न के कारण छोटी-बड़ी हैं, इसी से प्रति पंक्ति में ३३ से लगा कर ५० तक अक्षर हैं।

(२) भाषा और लिपि—लेख संस्कृत भाषा में है और बारहवीं शताब्दी की नागरी लिपि में लिखा गया है। अक्षर बड़े-बड़े, लगभग एक इंच आकार के, सुंदर रूप में हैं। कहीं-कहीं वर्णों की अशुद्धियाँ पाई जाती हैं; उदाहरणार्थ 'श्' के स्थान पर 'स्', रस्मि (रश्मि), स्रीमान् (श्रीमान्) पंक्ति १; स्रमार्त्ता (श्रमार्त्ता) पंक्ति ३; सुक्र (शुक्र) पंक्ति ७; सुद्ध (शुद्ध) पंक्ति ८; सास्त्रज्ञः (शास्त्रज्ञः) पंक्ति ९; 'ण' के स्थान पर न—यथा, क्रमेन (क्रमेण) पं० ३; 'ब'

के स्थान पर व—यथा विंवं बिंबं पं० ९।

(३) लेख का प्रयोजन—जिस मूर्ति के आसन पर लेख खुदा हुआ है उस मूर्ति की प्रतिष्ठा करानेवाले सेठीजी के वंश की स्मृति के निमित्त यह लेख लिखा गया है। लेख में कहा गया है कि 'गृहपति-वंश' में उत्पन्न श्रीमान् देवपाल ने 'वाणपुर' में सहस्रकूट नामक जिन-मंदिर बनवाया। उनके पुत्र रत्नपाल हुए जिनकी कीर्ति जगत् भर में भ्रमण करके जिनायतन में स्थिर हुई। वांदपुर में श्रीशांतिनाथ चैत्यालय बनवाने वाले सेठ रल्हण हुए। इसी संबंध में सेठ गल्हण का नाम भी आया है। पर लेख जगह-जगह स्पष्ट नहीं पढ़ा जाता इससे यह ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सका कि इन सेठों का रत्नपाल से क्या संबंध था। रल्हण के पुत्र जाहड हुए जिनके दो और छोटे भाई थे। इन्हीं दोंनों भाइयों ने शांतिनाथ चैत्यालय निर्माण कराया और संवत् १२३७ मगसिर सुदि ३ शुक्रवार को शांतिनाथ की प्रतिष्ठा कराई। मूर्ति का निर्माण वास्तुकला में प्रवीण, वाल्हण के पुत्र पापट ने किया था तथा यह सुकीर्तन (लेख) धर्मकारी नाम के एक कवि ने रचा था।

(४) ऐतिहासिक वार्ता—लेख की प्रथम पंक्ति में जो वाणपुर का उल्लेख है यह टीकमगढ़ के पास का वर्तमान 'बानपुर' ही प्रतीत होता है। संभवतः उसी का नाम वांदपुर भी था। यहां चंदेल राजा परमाल के समय का एक जैन शिलालेख २७५ 'अहार' से १६ मील दूर है। वहाँ सहस्रकूट चैत्यालय अब भी विद्यमान है।

लेख की चौथी पंक्ति में 'मदनेशसागरपुर' का भी उल्लेख है। वहाँ भी मंदिर बनवाया गया था। ज्ञात होता है कि जहाँ पर अब अहार ग्राम बसा हुआ है वहाँ ही पूर्वकाल में एक नगर था जो मदनेशसागरपुर कहलाता था। अहार के समीप पपौरा नामक एक ग्राम है। वहाँ भी प्रसिद्ध जैन मंदिर है। वहाँ के मंदिर के तहखाने में विराजमान एक मूर्ति संवत् १२०२ की हैं और उसमें प्रतिष्ठा के समयसूचक वाक्यों में 'मदनेशवर्मदेवराज्ये' ऐसा वाक्य आया है। जान पड़ता है कि चंदेलवंश के इन्हीं मदनेशवर्मदेव ने अपने नाम से ऐक 'सागर' (तालाब) बनवाया था और उसी के पास नगर बसाकर उसका नाम मदनेशसागरपुर रखा। वर्तमान 'अहार' भी एक तालाब के किनारे बसा है। यही तालाब मदनेशवर्मदेव द्वारा संवत् १२०० के लगभग बनवाया हुआ 'मदनेशसागर' प्रतीत होता है।

लेख की सातवीं पंक्ति में संवत् १२३७, मार्ग (मगसिर) शुक्ल ३ शुक्रवार का उल्लेख है जो मूर्तिप्रतिष्ठा की तिथि जान पड़ती है। उसी के साथ

कहा गया है कि उस समय परमार्दिदेव का राज्य प्रवर्तमान था। ये परमार्दिदेव चंदेल-वंश के वे ही राजा परमल या परिमल हैं जिनके पृथ्वीराज से युद्ध का वर्णन चंदबरदाई के पृथ्वीराज-रासो में पाया जाता है तथा जो जगनक भाट के लोकप्रिय 'आल्हा काव्य' द्वारा खूब प्रसिद्ध हुए हैं। इनकी राजधानी महोबा में थी और ये कीर्तिवर्मा चंदेल के उत्तराधिकारी थे। इनके शिलालेख कालिंजर, मदनपुर, अजयगढ़, खजुराहो और महोबा में पाए गए हैं जिनसे इनके राज्य का समय विक्रम-संवत् १२२२ से १२६० तक सिद्ध होता है। इन्हें पृथ्वीराज चौहान ने संवत् १२३९ में हराया था और फिर संवत् १२६० में मुसलमान बादशाह कुतुबद्दीन ऐबक ने उनसे कालिंजर का किला जीत लिया। तभी से चंदेल राज्य की प्रायः इतिश्री हो गई। वर्तमान लेख पृथ्वीराज से युद्ध होने के दो वर्ष पूर्व लिखा गया था, जब कि चंदेलराज परमार्दिदेव की राज्यश्री अपनी उन्नति के उच्चतम शिखर पर थी।

शिलालेख

(नोट—कोष्ठक के भीतर दिए हुए अंकों से मूल लेख की पंक्तियों का अभिप्राय है।)

(१) ओं नमो वीतरागाय।।
गृहपति-वंश-सरोरुह-सहस्त्ररशिम[१] सहस्त्रकूटं यः।
वाणपुरे व्याधिताक्षीत् (?) श्रीमानिह[२] (२) देवपाल इति ।।१।।
श्रीरत्नपाल इति तत्तनयो वरेण्यः
पुण्यैकमूर्त्तिर्भवद्वसुहादिकायां (?)।
कीर्त्तिर्ज्जगत्त्रय-(३) परिभ्रमणश्रमार्त्ता[३]
यस्य स्थिराजनि जिनायतने क्रमेणा[४] ।।२।।
वदनून-बुद्धि-निधिना श्री शन्तिचैत्यालयो (४)
दिष्ट्याबांदपुरे परः परनरानंदप्रदः श्रीमता।
येन श्री मदनेशसागरपुरे तज्ञन्मनो निर्म्मिमे
सोयं श्रेष्ठिवरिष्ठ गल्हणवति (?) श्रीरल्हणः
व्या(५) सृजत् (?) ।।३।।

---

१. मूल में 'रस्मि' है।
२. मूल में 'स्त्रीमान्' है।
३. मूल में 'स्त्रमार्त्ता' है।
४. मूल में 'क्रमेन' है।

तस्मादजायत कुलाम्बरपूर्णचंद्रः
श्रीजाहडस्तदनुजौदयवां (?) नामा।
एकः परोपकृतिहेतु-कृतावतारो
धर्म्मात्मकः पुनरमोघ(६)सुदानसारः ।।४।।
ताभ्यामशेष[1] -दूरितावशमैकहेतु[2]
निर्म्मापितं भुवनभूषणभूतमेतत्।
श्रीशान्तिचैत्यमतिदिव्यसुखप्रदं (७) च
मुक्तिश्रियो वदनवीक्षण-लोलुपाभ्याम् ।। ॐ ।।
ठ ठ ठ
संवत् १२३७ मार्ग्ग सुदि ३ सुक्रे श्रीमत्परमार्दिदेवविजयराज्ये[3]—
(८) चंद्र-भास्कर-समुद्र-तारका यावदत्र जनचितहारकाः।
धर्मकारिकृतशुद्ध[4] कीर्त्तनं तावदेव जयतात्सुकीर्त्तनम्।।
(९) वाल्हणस्य सुतः श्रीमान् रूपकारो महामतिः।
पापटो वास्तुशास्त्रज्ञस्तेन बिंबं[5] सुनिर्म्मितं।।

अनुवाद

ओं। वीतराग को नमस्कार। जिन्होंने वाणपुर में सहस्रकूट (नामक चैत्यालय) निर्माण कराया ऐसे गृहपतिवंश-रूपी कमल के सूर्य श्रीमान् देवपाल यहाँ हुए हैं।।१।।

उनके रत्नपाल नाम के उत्तम पुत्र हुए जो पुण्य की एक ही मूर्ति थे······। उनकी कीर्त्ति तीनों लोकों में भ्रमण करने के पश्चात्, श्रम से थककर, क्रम से जिनायतन में स्थिर हो गई।।२।।

·····के समान विशाल बुद्धि के निधान जिन श्रीमान् ने सौभाग्य से, सब लोगों को आनंद देने वाला, उत्तम श्री शांतिचैत्यालय बांदपुर में निर्माण कराया वे श्रीमदनेशसागरपुर में जन्म लेनेवाले (?) श्रीष्ठिवर-गल्हण के·····श्री रल्हण हुए(?) ।।३।।

उनसे, कुलरूपी आकाश में पूर्णचंद्र के समान, श्री जाहड उत्पन्न हुए जिनके·····नाम के दो अनुज हुए। इनमें से एक ने परोपकार के हेतु ही अवतार

१. मूल में 'सेस' है।
२. मूल में 'समैक······' है।
३. मूल में स्त्रीमत् है।
४. मूल में 'सुद्ध' है।
५. मूल में विंवं है।

लिया था। वे बड़े धर्मात्मा और दानशील थे ।।४।।

उन दोनों ने मुक्ति-श्री का मुख देखने की लालसा से समस्त पापों के उपशम का एक हेतु, भुवनभूषण और अतिदिव्य सुखों को प्रदान करने वाला यह श्री शांतिचैत्यालय निर्माण कराया ।।५।।

संवत् १२३७ मार्गशीर्ष सुदि ३ शुक्रवार को श्रीमान् परमार्दिदेव के विजय-राज्य में—

जब तक यहाँ चंद्र, सूर्य, समुद्र और तारे लोगों के चित्त को आकर्षित करते हैं तब तक ही धर्मकारी का बनाया हुआ, शुद्ध कीर्तिवाला, यह सुकीर्तन जयवंत होये ।।६।।

वाल्हण के सुत श्रीमान् रूपकार (मूर्तिकार) महामति, वास्तुशास्त्र में प्रवीण, पापट ने यह बिंब अच्छी तरह निर्माण किया ।।७।।

नोट—इस लेख का पाठ मैंने अहार क्षेत्र की प्रबंधक कमेटी के मंत्री श्रीयुक्त पंडित बारेलालजी जैन वैद्यभूषण द्वारा भेजी हुए, पेंसिल घिसकर कागज पर तैयार की गई, दो प्रतिलिपियों पर से पढ़ा है। —लेखक।

लंका में बौद्ध धर्म व जैन धर्म के प्रवेश का काल

यह बात तो सुप्रसिद्ध है कि लंका में बौद्ध धर्म का प्रवेश मौर्य सम्राट अशोक के समय में हुआ था। महावंस में वर्णित वृत्तान्त के अनुसार अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने प्रवृज्या धारण कर लंका को प्रस्थान किया और वहां पहुंचकर बौद्धधर्म का प्रचार किया। उस समय वहां 'देवान पिय तिस्स' राजा राज्य करते थे जिसका काल बुद्ध निर्वाण से २३९ वर्ष पश्चात् बतलाया गया है।

इसी सुप्रसिद्ध प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ महावंस में णिग्गंथों के भी अनेक स्थानों पर उल्लेख पाये जाते हैं। बौद्ध ग्रंथों में णिग्गंधों से ताप्पर्य जैन साधुओं से हैं, और उनको तीर्थंकर भगवान् महावीर का उल्लोख णिग्गंथ ञातपुत्त (निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र) आर्थात् ज्ञातृवंशोत्पन्न के नाम से किया गया है। यहां हम महावंस के आधार से लंका में निर्ग्रंथों आर्थात् जैन मुनियों के अस्तित्व के काल का निर्णय करना चाहते हैं।

महावंस के अनुसार ''जिस दिन भगवान् बुद्ध निर्वाण प्राप्ति के लिये (कुशीनगर में) शाल वृक्षों के बीच लेटे उसी दिन विजय कुमार ने लंका देश में ताम्रपर्णी नामक स्थान पर उतरे।

लंकायं विजय-सनामको कुमारो।
ओतिण्णो थिरमति तम्बपण्णि-देसे।।
सालानां यमक-गुणानमन्तरस्मिं।
निब्बातुं सयितदिने तथागस्स।।

(महा० ६, ४६-४७)

अनुराधपुर और उसके आसपास के प्रदेश में जो प्राचीन मूर्तियां पाई गई हैं और जो बुद्ध की ध्यानमुद्रा की मानी जाती हैं उनमें कुछ प्राचीन जैन मूर्तियां भी सम्मिलित हो गई हों तो आश्चर्य नहीं।

महाकौशल की संस्कृति

कौशल छत्तीसगढ़ प्रदेश का अति प्राचीन नाम है। उसमें उत्तर में अयोध्या तक का प्रदेश भी कौशल कहलाता था। इसलिये इन उत्तरी और दक्षिणी भागों का क्रमशः उत्तरकौशल और दक्षिण कौशल नामों से उल्लेख किया जाने लगा। जिन दशरथ की महारानी कौशल्या को राम की जननी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे अनुमानतः इसी दक्षिण कौशल की राजकुमारी थीं। इसी दक्षिण कौशल के साथ जब बुन्देलखण्ड व नर्मदा घाटी का समस्त प्रदेश भी जुड़ गया तब वह महाकौशल नाम से प्रख्यात हुआ।

आर्यों की दृष्टि से चेदि राज्य अत्यन्त प्राचीन, समृद्ध और सुसंस्कृत था। ऋग्वेद की तीन ऋचाओं में स्तुति की गई है कि ''चेदि वंशी राजा कशु ने सौ ऊंट और दस सहस्र गांवों का दान किया, तथा दश राजाओं को अपने पुरोहित की सेवा में नियुक्त किया। सारी प्रजा कशु राजा की सेवा में नियुक्त की गई। जिस मार्ग में चेदिवंशी जाते हैं उससे कोई अन्य नहीं जा सकता। उनसे बढ़कर दानी और विद्वान कोई नहीं है।''

कण्वगोत्री महर्षि ब्रह्मातिथि द्वारा किया गया यह चेदि नरेश का गुणवर्णन न केवल उस राज्य की अतिप्राचीनता का ही घोतक है, किन्तु उससे यहां के प्रताप, देश की समृद्धि, धर्म, दानशीलता व विद्वता की परम्परा और संस्कृति का सुन्दर चित्र हमारी आंखों के सम्मुख आ जाता है। नामसाम्य पर से ऐसा लगता है कि आश्चर्य नहीं जो इन्हीं चेदिवंशी महाराज कशु के ही सम्बन्ध से उक्त प्रदेश का नाम कौशल विख्यात हुआ है। इस बात का कुछ समर्थन उड़ीसा प्रदेश के उस शिलालेख में प्राप्त होता है जो उदयगिरि की हाथीगुम्फ में खुदा है, जो ईस्वी पूर्व प्रथम शती का सिद्ध होता है और जिसमें कलिंग नरेश खारवेल के चेदि वंश का स्पष्ट उल्लेख है। वेदों की उक्त ऋचाओं के पश्चात् इस शिलालेख से चेदिवंशी राजकुमारों और राजाओं की चर्या का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। इसमें राजकुमार खारवेल की बाल-क्रीड़ाओं, लेखक, गणित, राजनीति आदि विद्याओं के अभ्यास, युवराज पद प्राप्ति, राज्याभिषेक और तत्पश्चात् एक वर्ष विजय

और दूसरे वर्ष नगर, प्रासाद, उद्यान, नहर आदि लोक कल्याण संबंधी निर्माण कार्य करने की लगातार परम्परा का सुन्दर वर्णन है।

जबलपुर के समीप रूपनाथ की शिला पर जो मौर्य सम्राट अशोक की प्रशस्ति उत्कीर्ण है उसमें लिखा है कि "सम्राट ने अब पूर्ण रूप से धर्म संघ में प्रवेश कर लिया है और अपने प्रयास से जम्बूद्वीप भर में देवों और मनुष्यों के बीच सामंजस्य स्थापित कर दिया है। यह सब परिश्रम का फल है। अतः छोटे-बड़े सभी लोगों को परिश्रमशील बनना चाहिये।" जान पड़ता है उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम भारत को मिलाने वाले इस मध्यप्रदेश के राजपथ को ही आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत सम्राट ने उक्त घोषणा के लिये सबसे उपयुक्त स्थल समझा था। उस पत्थर पर लिखे हुए शासन का राष्ट्र के लिये आज भी उतना ही महत्व है जितना तब था। आज भी जाति, धर्म, भाषा स्थान आदि भेदों में छिन्न भिन्नजनता को एकत्व के सूत्र में बांधने के लिये जितना भी प्रयत्न किया जाय थोड़ा है।

जबकि निकट इतिहास की दृष्टि से जिन राजवंशों ने महाकौशल को एक शासन के सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया वे हैं कलचुरि और चन्देल, जिन्होंने नौवीं से तेरहवीं शती तक प्रभावशाली राज्य किया और प्रदेश को नाना धार्मिक व लौकिक संस्थाओं से सुशोभित, सुसंस्कृत और समृद्ध बनाया। कलचुरियों ने अपने को चेदि वंशी ही कहा है, और आश्चर्य नहीं जो इस वंश के सबसे प्रतापशाली नरेश कर्ण ने चेदि राजवंश की पूर्वोक्त प्रतिष्ठा को स्मरण करते हुए ही अपना राज्य विस्तार उत्कल तक करके "त्रिकलिंगाधिपति" की सम्मानित उपाधि प्राप्त की हो। महाकौशल में इस राज्य की तीन शाखाएँ स्थापित थीं जिनमें से प्रमुख शाखा की राजधानी जबलपुर के समीप त्रिपुरी (आधुनिक तेवर) थी और अन्य शाखाओं की छतीसगढ़ में रतनपुर और रायपुर। इन सभी शाखाओं ने कलात्मक मन्दिरों और मठों राजप्रसादों तथा सरोवरों से समस्त प्रदेश को पाट दिया। रीवां के आसपास चन्द्रेही और गुर्गी के मठ और मन्दिर अपनी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में भी उक्त काल की वास्तु व मूर्तिकला के अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी है। भेड़ाघाट का गौरीशंकर व चौसठयोगिनी मन्दिर भी दर्शनीय है। विद्वानों का मत है कि इन योगिनी मूर्तियों में जो खड़ी व नामांकित रेतीले लाल पाषाण की मूर्तियां हैं वे कलचुरिकाल की हैं व आसीन बिना नाम की उससे भी पूर्व कुषाण काल तक की हैं। अमरकंटक में कर्ण डहरिया अर्थात् डाहल के राजा कर्ण का मदिर भी कला की दृष्टि से अपनी विशेषता रखता है। यहां नर्मदा देवी की मूर्ति भी अद्वितीय है। किन्तु इन सब से भी बढ़कर कला तो उस तोरण द्वार पर पाई जाती

है जो किसी समय गुगंज टीले मन्दिर का भाग था, किन्तु अब रीवां महाराज के प्रासाद के द्वार की शोभा बढ़ा रहा है। इस पाषाणमय तोरण पर शिवजी की बारात, शिव-पार्वती विवाह और उनके कैलाश पर पहुंचने के दृश्य चित्रित हैं। इनमें ब्रह्मा, विष्णु, वायु यम, वरुण आदि देव, सूर्य, चन्द्रादि गृह-नक्षत्र अपने-अपने वाहनों सहित, तथा सप्तर्षि बड़ी आकर्षक रीति से चित्रित हैं। अन्य-अन्य स्थलों पर कार्तिकेय अपने छहमुख, दश भुजा व ढाल-कमण्डल आदि सहित, गणेश छह हाथों, पुस्तक मोदक आदि सहित नृत्यमुद्रा में, सरस्वती अष्टभुजाओं में वीणा, अक्षसूत्र, पुस्तक आदि सहित, बड़ी सुन्दर और अन्यत्र दुर्लभ रीति से उत्कीर्ण पाई जाती हैं। चन्देलों ने भी बुन्देलखण्ड को दुर्गों, राजप्रसादों व मन्दिरों में उन्होंने जो अपनी यशः चन्द्रिका छिटकाई है वह इतिहास में अमर है तथा राष्ट्र की गौरवपूर्ण घटनाओं में अपना विशेष स्थान रखती है। विशाल मन्दिरों में भीतर बाहर तिल भर भी स्थान नहीं है जहां कोई मूर्ति उत्कीर्ण न हो। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यहां के तीस बत्तीस वैष्णव, शैव व जैन मन्दिर, फर्ग्यूसन साहब के शब्दों में, "अत्यन्त सहिष्णुता के युग में निर्माण किये गये होंगे जबकि यदि कोई ईर्ष्या भी उन कारीगरों के बीच नहीं थी जो एक से बढ़कर एक अपना हस्त-कौशल दिलाने की होड़ करते थे।" इस आदर्श के निर्वाह की आज भी बड़ी आवश्यकता है।

इस नागरिक संस्कृति के साथ-साथ महाकौशल के विन्ध्य और सतपुड़ा के पर्वतीय प्रदेशों व दुर्गम स्थानों में हमें उन जनजातियों के भी दर्शन होते हैं जो गोंड, कोरकू, कंवर, हल्वा, कोल भील, उरांव, मुंहार आदि पच्चीस तीस वर्णों में विभाजित हैं और अपनी-अपनी आदिम जीवन प्रणालियों को सुरक्षित रखती आई हैं। इनमें गोंडों की प्रधानता है जिसके कारण प्रदेश का एक भाग गोंडवाना भी कहलाता था। वे बड़े देव को पूजते हैं जिनकी स्थापना पचमढ़ी के समीप एक पहाड़ी दर्रे में है जहां हर साल मेला भरता है, नर्मदा माई भी पूजी जाती हैं। विवाह में ममेरे-फुफेरे भाई-बहिनों का संबंध श्रेष्ठ समझा जाता है, मृतक का संस्कार भूमि में गड़ाकर किया जाता है व कुछ दिनों पश्चात् एक विधि द्वारा यह पितरों में मिला दिया जाता है। जादू-टोने में खूब विश्वास है और सब प्रकार की व्याधियों व कष्टों के निवारणार्थ उसी का सहारा लिया जाता है। पुरुष-स्त्रियों के नाच-गान की अनेक शैलियां हैं। नचाने वाला ओझा मंडल के बीच में टिमकी बजाता, नाचता और गाता है इन वन जातियों की बोलियां दो प्राचीन भाषा-परिवारों की सिद्ध होती हैं— एक मुंडारी और दूसरी द्राविड। इन बोलियों का हमारी प्राचीन व आधुनिक भाषाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा है। संस्कृत भाषा में ट, ठ,

ड, ढ, ण वर्ण इन्हीं बोलियों से आये माने जाते हैं। झगड़ा, वाटा, खूंटा, कोर्ड, गटकना, घोटना आदि शब्द भी वहीं के हैं। हिन्दी में परसर्गों का विकास भी इन्हीं बोलियों का फल समझा जाता है। बुन्देलखण्डी छत्तीसगढ़ी आदि हिन्दी की विभिन्न स्थानीय बोलियों व तत्संबंधी लोक साहित्य में उक्त वनजातियों की संस्कृति के अनेक तत्व समाविष्ट पाये जाते हैं। गढ़ा मण्डला के गोंड नरेशों ने भी आर्य संस्कृति को अपनाकर धार्मिक व लोककल्याण के कार्यों में उदार-नीति को अपनाया था। जबलपुर के आसपास मदनमहल के अतिरिक्त संग्रामसागर, भैरव मन्दिर व पिसनहारी का जैन मन्दिर उन्हीं के द्वारा व उनके संरक्षण में बने थे। उनकी इस आर्य संस्कृति की ओर प्रवृत्ति से ही आकर्षित होकर चन्देल राजकन्या दुर्गावती ने गढ़ा के गोंड नरेश दलपत शाह से विवाह कर सामाजिक विस्तार का एक असाधारण उदाहरण उपस्थित किया। दुर्गावती केवल प्रेम की पागल नहीं थी। उस वीरांगना ने देश रक्षा के लिये आक्रमणकारी मुसलमानों से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त की जिसकी अमरगाथा इस प्रदेश के इतिहास को अलंकृत करने वाली है। पीछे इसी का अनुकरण हम अंग्रेज आक्रमणकारियों से युद्ध करने वाली झांसी की रानी लक्ष्मीबाई द्वारा किया गया पाते हैं। इन गौरवशाली घटनाओं के साथ इस प्रदेश की प्राचीन संस्कृति का प्रवाह रुक गया और एक नये विदेशी शासन के युग की स्थापना हुई जिसमें **कोउ नृप होहु हमहि का हानी चेरि छांड़ अब होंव कि रानी।**

इस नैराश्यपूर्ण धारणा ने जीवन के प्रशस्त विकास को अवरुद्ध कर दिया। विदेशी शासन से मुक्ति पाकर अब यह प्रदेश एक नये प्रजातांत्रिक, औद्योगिक और सामाजिक ढांचे में ढलता जा रहा है। इस प्रगति की पूर्ण सफलता तब है जब हमारा यह प्रदेश तथा समस्त राष्ट्र पाषाण युग से लेकर वर्तमान आणविक युग तक की सभी विचित्रताओं को रखता हुआ भी एक सामाजिक सूत्र में बंधकर सुदृढ़ हो जाये। कृष्णायन के शब्दों में—

वारिधि तें हिमाद्रि पर्यन्ता
वर्ण जाति जे वसत अनन्ता।
तिन सब कहं एकहि जेहि जाना
तेहि सब को उदार मतिमाना।।

अनुभाग—५

संस्कृति

हमारी सांस्कृतिक संस्थाएँ और उनका भविष्य

देश में राजनैतिक स्वातंत्र्य के आगमन के साथ हमारे आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक क्षेत्रों में भी नाना प्रकार की उत्क्रातियां हुई हैं। जिनके कारण हमारी पुरानी व्यवस्थायें अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति में धीरे-धीरे असमर्थ सिद्ध होती जा रही हैं। इनमें एक विशेष महत्त्व की वस्तु है प्राचीन संस्कृति का संरक्षण। संस्कृति का एक विशेष प्रामाणिक और विशाल भण्डार है हमारा साहित्य। जैन परम्परा में देव और गुरु के साथ शास्त्र को भी परम पूज्य स्थान दिया गया है। प्राय: प्रत्येक जैन मन्दिर में दर्शन, पूजन और स्वाध्याय के लिये एक छोटा-मोटा शास्त्र भंडार भी अवश्य रहता है। आधुनिक युग की मांग ने शास्त्र भंडारों को मन्दिरों के अतिरिक्त स्वतंत्र संस्थानों का रूप प्रदान किया और जैन सिद्धान्त भवन, आरा ऐलक पन्तालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन बम्बई और व्यावर तथा अभी-अभी महावीर शास्त्र भंडार जयपुर शोध अस्तित्व में आये। यद्यपि इन शास्त्र भंडारों में खोज, शोध, गवेषणा व अनुसन्धान की व्यवस्था नहीं की गई, तथापि उनमें हस्तलिखित व प्रकाशित ग्रंथों का अच्छा संग्रह हो गया जिससे विद्वानों को अपने-अपने साहित्य कार्य के लिये ग्रंथों के उपयोग की कुछ सुविधायें प्राप्त हो गईं। किन्तु अब वर्तमान आवश्यकताओं की दृष्टि से ये शास्त्र भंडार अपने ध्येय की पूर्ति में अक्षम हो गये हैं, एक ओर अध्ययन-अध्यापन व खोज-शोध की आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई हैं, और दूसरी ओर प्राचीन आर्थिक व्यवस्थाओं में भारी हेर-फेर हो जाने के कारण इन भंडारों के पालन-पोषण के स्रोत प्राय: सूख गये हैं। उक्त शास्त्र भंडारों में अब उतनी भी सुविधा नहीं पाई जातीं जितनी पहले थी। सबसे बड़ी चिन्ता की बात यह है कि कहीं-कहीं बहुमूल्य ग्रंथ-सामग्री दुर्लभ व लुप्त होती जा रही हैं। इधर युग की मांग बढ़ गई है। संस्कृति के संरक्षण व प्रचार की दृष्टि से यह आवश्यक हो गया है कि प्राचीन साहित्य का सुचारू रूप से संशोधन सम्पादन व आधुनिक भाषाओं में अनुवाद कर उसका प्रकाशन

किया जाये। प्राचीन ग्रंथों में प्रतिपादित विषयों का आलोचनात्मक व तुलनात्मक रीति से अध्ययन किया जाये, तथा शोध ग्रंथ लिखे और प्रकाशित किये जायें। शोधन की योग्यता रखने वाले विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां देकर उन्हें आवश्यक शोध कार्य में प्रवृत कराया जाये। ये शोध प्रबंध विश्वविद्यालयों में डॉक्टर आदि उपाधियों के लिये भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस प्रकार नाना विषयों के स्वीकृत विशेषज्ञ उत्पन्न किये जा सकते हैं। और उनके द्वारा संस्कृति के नाना अंगों को आधुनिक रूप में उपस्थित किये जाने की आशा की जा सकती है। इन प्रवृत्तियों के फलस्वरूप प्राचीन साहित्य व संस्कृति का संरक्षण व प्रकाशन ऐसे ढंग से किया जा सकता है जिससे आज के युग में उसका सम्मान हो, विश्वविद्यालयों के पठन-पाठनक्रमों में उसे स्थान प्राप्त हो सके तथा किसी भी अन्य साहित्य की तुलना में वह किसी प्रकार भी हीन दिखाई न दे।

पूर्वोक्त प्राचीन शास्त्र भंडारों को इस महान कार्य के योग्य बनाने के लिये उनके नवीन प्रकार से संघटन-संचालन की आवश्यकता है, जिसके लिये यहां कुछ सुझाव उपस्थित किये जाते हैं :—

१. वर्तमान जैन शास्त्र भंडारों का केन्द्रीकरण किया जाय, अथवा जहां वे हैं वहां उनकी व्यवस्था इस प्रकार की जाये कि वे उपर्युक्त कार्यों के योग्य साधन बन सकें।

२. इस केन्द्रीकृत संस्थान व उसकी बिखरी हुई शाखाओं के संचालन व कार्य की गति-विधि में एकसूत्रता रखी जाये जिससे सामग्री का परिपूर्ण उपयोग हो तथा उनके कार्य में न कहीं विरोध आये और न संघर्ष।

३. जो संस्थायें इस योजना में सम्मिलित हों उनके नाम, व्यक्तित्व व निधियों के संरक्षण का पूरा ध्यान रखा जाये। उनकी वर्तमान पंचायतों व प्रबन्ध समितियों आदि के अधिकारों की रक्षा करते हुए उनमें सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाये जिससे मूल ध्येय की पूर्ति में बाधा न आये।

इस योजना को कार्यान्वित करने का यह सुवर्ण अवसर है। एक ओर उक्त संस्थायें जहां हैं प्राय: निरुपयोगी और उनके संस्थापकों व संचालकों को भार रूप हो रही हैं। दूसरी ओर शिक्षण व संशोधन के क्षेत्र में उनकी मांग बढ़ रही है। दान-संस्था सम्बन्धी राजकीय नियम ऐसे बन रहे हैं कि या तो दान की निधियों का उचित उपयोग किया जाये या उनके सर्वनाश के लिये तैयार रहा जाये। संसार जैन संस्कृति व साहित्य के मर्म को समझने के लिये तृषातुर है। विश्वविद्यालय इस सामग्री को उचित उपाधियों द्वारा सम्मानित करने के लिये तैयार हैं। विद्वानों और विद्यार्थियों में इस सामग्री के अध्ययन व अन्वेषण

की अभिलाषा है और समाज में इस सामग्री को उसके गुणों के अनुकूल पद पर प्रतिष्ठित कराने की भावना है। समाज के धनी महापुरुषों में सदुपयोगी लौकिक व धार्मिक कार्यों के लिये उचित धन प्रदान करने की इच्छा भी है। अब वह समय भी नहीं रहा जब कोई छोटी-मोटी संस्था अपने संकुचित दायरे में सुरक्षित और उपयोगी बनी रह सके। यह भी भरोसा नहीं है कि यह सुवर्ण सन्धि कब तक चलती है। संभव है संसार-युद्ध जैसी उत्क्रान्तियों के कारण कालान्तर में किसी विशाल योजना को क्रियान्वित करने की सुविधा न मिल सके। अतएव क्यों न गरम सोने की टुकड़ियों को गढ़कर उनका ऐसा अलंकार बना लिया जाये जो शोभनीय, सदुपयोगी और गौरवशाली हो और जिसके बल पर इस धर्म, समाज तथा उसकी संस्कृति और साहित्य को संसार में यथोचित सम्मान प्राप्त हो सके।

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसा

१— प्रास्ताविक

मेरा जो "रत्नकरण्ड श्रावकाचार और आप्तमीमांसा का कर्तृत्व" शीर्षक लेख अनेकानत वर्ष ७ किरण ३-४, ५-६ और ७-८ में क्रमशः प्रकाशित हुआ था। इस पर पं० दरबारीलाल की न्यायाचार्य का "क्या रत्नकरण्ड श्रावचार स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं है?" शीर्षक द्वितीय लेख अनेकान्त वर्ष ७ किरण ३-१० और ११-१२ में प्रकाशित हुआ है और उसी पर यहां विचार किया जाता है।

(क) इतिहास और पसंदगी—

लेख के आदि में ही पंडितजी ने अपने पूर्व लेख के संबंध में पसंदगी और गैरपसंदगी का जिक्र किया है और कहा है कि कितने ही विद्वानों को यह पसंद आया, पं० सुमेरचंद जी दिवाकर की पसंदगी का प्रमाणपत्र भी उद्धृत किया है और फिर यह शिकायत की है—"परन्तु प्रो० सा० को यह लेख पसंद नहीं आया।" मेरा पंडितजी से सविनय निवेदन है कि इतिहास के क्षेत्र में पसंदगी व नापसंदगी का निवेदन प्रश्न उठाना सर्वथा अनुपयोगी है। कितनी ही बातें बहुतों को पसंद आती हैं किन्तु वे असत्य सिद्ध होती हैं। और अनेक ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं जो स्वयं इतिहासकार को अप्रिय होते हुए भी सत्य और तथ्य के नाते उसे स्वीकार करनी पड़ती हैं। पंडितजी की इस ऐतिहासिक लेखों पर सम्मति संग्रह और वह भी किसी की पसंदगी और किसी की नापसंदगी विषयक प्रवृत्ति को देखकर मुझे पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के वे शब्द याद आते हैं जो उन्होंने कोठियाजी को उनके ही एक लेखका उत्तर लिखते हुए कहे थे और जो इस प्रकार हैं :—

"अन्त में यह लिख देना भी उचित समझता हूँ कि इतिहास-विषय के क्षेत्रों को किसी प्रोपेगेन्डे का साधन बनाना इस क्षेत्र को भी दूषित कर देना होगा। कोई लेख लिखा और तुरन्त ही उसके नाम से सम्मत्तियां इकट्ठी करने की वृत्ति शोभन नहीं कही जा सकती। ऐसे लेखों पर विद्वान् विशेष ऊहापोह करें यही

प्रशस्त मार्ग है, और इसी से सत्य के निकट पहुंचा जा सकता है। सम्मतियों के बल पर ऐतिहासिक प्रश्नों के निर्णय की पद्धति कभी-कभी सम्मतिदाताओं को भी असमञ्जस में डाल देती हैं। जैसा कि 'कर्मकाण्ड की त्रुटिपूर्ति' लेख पर सम्मति देने वाले अनेक सम्मतिदाताओं को स्वयं अनुभव हुआ होगा।"

यह चेतावनी पंडितजी को १९४२ के सितम्बर-अक्टूबर में अनेकान्त वर्ष ५, किरण ८-९, पृ० ३२८ द्वारा मिल चुकी है। किन्तु जान पड़ता है पंडितजी ने उससे कुछ सीखा नहीं। यदि पंडितजी विचार कर देखेंगे तो उन्हें स्वयं जान पड़ेगा कि ऐतिहासिक व सैद्धान्तिक क्षेत्र में सम्मति संग्रह द्वारा विजय प्राप्त करने की प्रवृत्ति श्रेयस्कर नहीं है।

(ख) मेरे विचार क्षेत्र की मर्यादा

इसके आगे पंडितजी ने यह शिकायत की है कि मैंने जो उनके निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र सम्बन्धी लेख का पहले उत्तर न देकर रत्नकरण्ड के कर्तृत्वसंबंधी लेख पर लिखने का यह कारण दिया था कि "यह विषय हमारी चिन्तनधारा में अधिक निकटवर्ती है" उसको बहुत सोचने पर भी वे रहस्य नहीं समझ सके'। किन्तु रहस्य उसमें कुछ भी नहीं है। ऐतिहासिक चर्चा में भी साम्प्रदायिक विक्षोभ उत्पन्न होते देख मैंने स्वयं अपने ऊपर यह नियंत्रण लगा लिया है कि फिलहाल मैं जो कुछ जैन पत्रों के लिये लिखूंगा वह विषय व प्रमाण की दृष्टि से दिगम्बर जैन इतिहास, साहित्य और सिद्धान्त के भीतर ही रहेगा। बस, इसी आत्मनियंत्रण के कारण निर्युक्ति का भद्रबाहु सम्बन्धी चिन्तन दूर पड़ जाता है और प्रस्तुत विषय पूर्णतः उक्त सीमा के भीतर आ जाता है। इसीलिये पंडितजी ने अपने लेख में निर्युक्तिकार और आप्तमीमांसाका के अतिरिक्त सम्बन्ध में उल्लेख दिये हैं। उन पर भी फिलहाल मैं कुछ नहीं लिखूंगा। किन्तु यदि यह विवेचन, पंडितजी यदि लेख क्रम के ही पक्षपाती हैं तो उन्हें यह स्वयं अपने लेखों में चरितार्थ करना उचित था। मैं पंडितजी की ही न्यायसरणि के अनुसार उनसे पूछना चाहता हूं कि उन्होंने मेरे जिस 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' शीर्षक लेख के आधार से लिखना प्रारम्भ किया है उसी के क्रम से क्यों वे स्वयं नहीं चलते और जो बातें प्रमाण युक्त एवं ठीक हैं उन्हें स्वीकार करके अभी क्यों नहीं बढ़ते? स्वयं तो कहीं इधर कहीं उधर की बात को लेकर लेख लिखना और फिर दूसरों से क्रम भंग की शिकायत करना किसी तरह भी उचित नहीं है।

(ग) अप्रयोजक प्रश्न कौन उठाता है?

तीसरी शिकायत पंडितजी ने मेरी रीति-नीति के विषय में यह की है कि

"वे मुख्य विषय को टालने के लिये कुछ अप्रोजक प्रश्न या प्रसंग अथवा गौण बातें प्रस्तुत कर देते हैं और स्पष्ट तथ्य को झमेले में डाल देते हैं।" इस बात को पुष्ट एवं सत्य सिद्ध करने के लिये उन्होंने मेरी कलकत्ता की मौखिक चर्चा का उल्लेख किया है और तथ्यसंबंधी मेरे दिये गये विवरण को 'आश्चर्यजनक वक्तव्य' कहा है, तथा मेरी 'वीतरागकथा में अन्यथा प्रवृत्ति' को स्थान देने व 'सत्यता को उदाहरणपूर्वक नहीं अपनाने' के आक्षेप किये हैं। इस प्रकार जितनी कुत्सित वृत्तियाँ एक साहित्यिक में हो सकती है उन सब का मुझ पर बिना प्रमाण दिये ही आरोपण कर के आदि पंडितजी में कुछ भी न्यायशीलता शेष है तो उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे प्रस्तुत विषय तथा कलकत्ता की तथ्यचर्चा-सम्बन्धी उन बातों को मेरे और संसार के प्रमुख विगतवार पेश करें जिनके आधार पर उन्होंने मुझ पर ये घोर अपराध आरोपित किये हैं। यदि उन्होंने उन सब बातों को स्पष्टता से प्रस्तुत नहीं किया तो समझा जायेगा कि वे केवल झूठे अपराध लगा कर मुझे पाठकों की नज़रों में गिराना चाहते हैं। किन्तु इन बातों के सामने आने से स्पष्टतः समझा जा सकेगा कि अप्रासंगिक और अप्रयोजक प्रश्न या प्रसंग और गौण बात कौन प्रस्तुत करता है और कौन स्पष्ट तथ्य को झमेले में डालता है।

(घ) मान्यता का ग्रहण और परित्याग कब कहा जाता है?

पंडितजी ने आगे चलकर पुनः उसी बात पर जोर दिया है कि चूंकि मैंने एक जगह स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार का उल्लेख किया है। अतएव पहले मेरी मान्यता थी कि आप्तमीमांसाकार और रत्नकरण्डकार एक ही व्यक्ति थे और अब मैंने यह मान्यता छोड़ दी है, इत्यादि। किन्तु मैं न्यायाचार्य जी से पुनः कहना चाहता हूं कि किसी ग्रंथ और उसके कर्ता का उनके प्रचलित नामों से उल्लेख मात्र करना लेखक की उस ग्रंथ के कर्तृत्वसम्बन्धी किसी मान्यता का द्योतक नहीं है। यदि मैं आज भी रत्नकरण्डश्रावकाचार का उल्लेख करूं तो मुझे वह स्वामी समन्तभद्रकृत ही कहना पड़ेगा, क्योंकि वही नाम प्रकाशित प्रतियों पर छपा है। यदि मैं उसे योगीन्द्रकृत कहकर उद्धृत करूं तो कितने पाठक उसे समझेंगे? हम प्रतिदिन बीसों ग्रंथों का उल्लेख उनके प्रकाशित नामों व कर्ताओं के निर्देशपूर्वक करते हैं। उनमें से यदि कभी किसी ग्रंथ और उसके कर्ता पर विशेष अध्ययन करके किसी खास निर्णय पर पहुंचे तो किसी विवेकी समालोचक का यह कर्तव्य नहीं है कि वह उस पर अपनी पूर्व मान्यता छोड़ने का लाँछन लगायें। मान्यता तो तभी होती है जब किसी बात को मननपूर्वक ग्रहण और स्थापित किया जाये। किन्तु जहाँ पूर्व में ऐसी मान्यता प्रकट

ही नहीं की गई वहाँ उसे छोड़ने आदि का लांछन लगता तो निर्मूल और निराधार आक्षेप ही कहलायेगा, जिसका प्रमाण क्षेत्र में कोई मूल्य नहीं।

(ङ) केवली के मोहजन्य वृत्तियों का अभाव

न्यायाचार्य जी ने जो बिना किसी विचार के केवली में राग, द्वेष आदि मोहजन्य प्रवृत्तियों का भी अभाव सिद्ध करने के लिये अनावश्यक उल्लेख प्रस्तुत किये थे उस पर मैंने अपने पूर्व लेख में लिखा था कि उनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि "केवली में चार घातिया कर्मों का नाश हो चुका है; अतएव उन कर्मों में उत्पन्न दोषों का केवली में अभाव मानने में कहीं कोई मतभेद नहीं है। रत्करण्ड के छठवें श्लोक में उल्लिखित दोषों में इस प्रकार के पांच दोष हैं— भय, स्मय, राग, द्वेष और मोह। अतएव इन दोषों के केवली में अभाव के सम्बन्ध के उल्लेख प्रस्तुत करना अनावश्यक है।" इस पर पंडितजी ने लिखा है— "मैंने स्वामी समन्तभद्र की ही प्रसिद्ध रचना स्वयंभूस्तोत्र पर से क्षुधादि दोषों और उनके केवली में अभाव को सिद्ध करने वाले अनेक उल्लेखों को उपस्थित किया था। प्रसन्नता की बात है कि उनमें से राग, द्वेष, मोह के साथ भय और समय (स्मय) के अभाव को भी केवली में प्रो० सा० ने मान लिया है और इस तरह उन्होंने रत्नकरण्ड में उक्त १८ दोषों में से पांच दोषों के अभाव को तो स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है।" आगे चलकर पंडित जी ने फिर कहा है कि "रत्नकरण्ड में कहे गये उन १८ दोषों में से आप्त में राग-द्वेषादि १२ दोषों का अभाव स्वीकार करने में आपको कोई आपत्ति नहीं रही।" इस प्रकार बार-बार लिख कर पंडित जी यह घोषित करना चाहते हैं कि मानों उक्त-दोषों का केवली में अभाव मैं पहले नहीं मानता था, किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये उल्लेखों पर से मुझे मानना पड़ा हो। मैं पंडित जी से पूछता हूं कि उन बारह दोषों का केवली में अभाव मानने में मुझे आपत्ति थी कब? मेरे ऊपर उद्धृत लेखांश से सुस्पष्ट है कि मैंने तो उस सम्बन्ध में पंडित जी के उल्लेख में अविवेक और अनावश्यकता की ही सूचना की थी। जिसे कर्म सिद्धान्त की वर्णमाला का भी ज्ञान है वह भी वीतरागकेवली में राग-द्वेषादि प्रवृत्तियों की अभाव सिद्धि के लिये किसी स्तोत्र में से तत्सम्बन्धी विशेषणों का संग्रह करना कभी आवश्यक नहीं समझेगा।

(च) आप्तमीमांसा और रत्नकरण्ड के बीच का रहस्य

मैंने अपने पूर्व लेख में कहा था कि "यथार्थतः यदि आप्तमीमांसाकार की आप्त में उन प्रवृत्तियों का अभाव मानना अभीष्ट था तो उसके प्रतिपादन के लिये सबसे उपयोगी स्थल वही ग्रंथ था जहां उन्होंने आप्त के ही स्वरूप

की मीमांसा की है; उन्हें वहां ही इसकी सार्थकता भी सिद्ध करना भी। किन्तु यह बात नहीं पाई जाती "परन्तु न्यायाचार्यजी की 'समभ्क में नहीं आता कि प्रो० सा० के इस प्रकार के कथन में क्या रहस्य है?" किन्तु मेरे उपर्युक्त कथन में ऐसी कौन सी अस्पष्ट बात है जिसमें उन्हें रहस्य का सन्देह हो गया? तथापि मैं अपनी बात को और भी विशदता से रख देने का प्रयत्न करता हूँ। जो ग्रन्थकार अपने एक ग्रंथ में आप्त के कुछ सुस्पष्ट लक्षण स्थापित करें और फिर आप्तमीमांसा पर ही एक पूरा स्वतंत्र ग्रंथ लिखे उससे स्वभावतः यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस ग्रंथ में उन्हीं लक्षणों की व्यवस्थित मीमांसा करेगा। किन्तु यदि वह अपने उस ग्रंथ में उन लक्षणों का विचार तो दूर रहा, किन्तु नाम भी न लें और अन्य ही प्रकार से आप्त का स्वरूप निर्णय करें तो उसके सम्बन्ध में निम्न तीन विकल्प उत्पन्न होंगे—

(१) या तो उस मत को वह इनता कच्चा समभ्कता था कि स्वयं उसे अपनी ही 'मीमांसा' की कसौटी पर कसने का साहस नहीं कर सकता था। अतएव वह उसे वहां जान-बूभ्कर अंधेरे में डाले रहा।

(२) अथवा, उसका अपने पूर्व ग्रन्थ में स्थापित वह मत परिवर्तित हो गया था।

(३) अथवा वह मत मीमांसा ग्रन्थकार का है ही नहीं और फलतः दोनों ग्रंथ दो भिन्न-भिन्न लेखकों की कृतियां हैं।

अब यदि कहीं कोई रहस्य है तो वह मेरे कथन में नहीं, किन्तु इस उपर्युक्त परिस्थिति में है और न्यायाचार्य जी को स्वयं उस रहस्य का विधिवत् उद्घाटन करना चाहिये।

२—क्षुधादि वेदनाओं के कारण की शोध

(क) क्षुधादि वेदनायें मोहनीय जन्य नहीं मानी गई

पंडितजी ने लिखा है कि 'आप्तमीमांसा में आप्त के राग-द्वेषादि दोष और आवरणों का अभाव बतला देने से ही तज्जन्य क्षुधादि प्रवृत्तियों का—लोकसाधारण दोषों का अभाव सुतरां सिद्ध हो जाता है।" आगे चल कर उन्होंने फिर लिखा है—'क्षुधादि तुच्छ प्रवृत्तियां के अभाव की सिद्धि तो आप्त में मोह का अभाव हो जाने से अस्पष्टतः एवं आनुषंगिक रूप में स्वतः हो जाती है।" इन कथनों पर से पंडित जी का यह मत प्रकट होता है कि क्षुधादि वेदनायें मोहनीय कर्मोत्पन्न हैं। किन्तु जहाँ तक मैं कर्म सिद्धान्त का अध्ययन कर पाया हूं वहाँ तक क्षुधादि वेदनाओं को मोहनीयकर्मजन्य कहीं भी नहीं

माना गया। तत्त्वार्थसूत्रकार ने परीषहों की व्यवस्था करते हुए दर्शनमोह से अदर्शन, चारित्रमोह से नाग्न्यादि सात तथा 'वेदनीये शेषाः' सूत्र के द्वारा क्षुत्पिपासादि ग्यारह परीषहों की उत्पत्ति वेदनीय कर्म बतलाई है। उक्त सूत्र पर टीका करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार लिखते हैं :—

उक्ताः एकादश परीषहाः। तेभ्योऽन्ये शेषा वेदनीये सति भवन्तीति वाक्यशेषः। के पुनस्ते? क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-चर्या-शय्या-वध-रोग-तृण-स्पर्श-मल्परीषहाः।(त० सू० ९, १६)

धवलाकार वीरसेन स्वामी ने कहा है—

जीवस्स सुह-दुक्खाणुहवणणिबंधणो पोग्गलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चयवसेण कम्मपज्जयपरिणदो जीवसमवेदो वेदणीयमिदि भण्णदे। तम्सत्थित्तं कुदो वगम्मदे? सुख-दुःखकज्जण्णहाणुववत्तीदो।

(षट् खं० १, ९-१, ७)

असादं दुक्खं, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति असादा वेदणीयं। ..... जं किं पि दुक्खं णाम तं आसादावेदणीयादो होदि, तस्स जीवसरूवत्ताभावा। ..... ण च सुह-दुक्खहेउदब्बसंपादयमण्णं कम्ममत्थि त्ति अणुवलंभादो। जस्सोदएण जीवो सुहं व दुक्खं व दुविहमणुभवइ। तस्सोदयक्खएण दु सुह-दुक्खविवज्जिओ होइ।

(षट् खं० १, ९-१, १८)

इस प्रमाणों से सुस्पष्ट है कि क्षुधा तृषा आदि वेदनाओं एवं समस्त सुख-दुःख रूप अनुभवों का उत्पादक वेदनीय कर्म है, अन्य कोई कर्म नहीं। यह कहीं मेरे देखने में नहीं आया कि क्षुधादि वेदनाये मोहनीयकर्मजन्य हैं।

(ख) क्षुधादि वेदनायें मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य भी नहीं सिद्ध होतीं

शायद अपने कथन की यह सचाई स्वयं न्यायाचार्य जी की दृष्टि से आ गई थी, इसी से उन्होंने फिर आगे चल कर, किन्तु बिना अपने पूर्व कथनों में कोई सुधार पेश किये, कहा है—

"क्षुधादि प्रवृत्तियां वस्तुतः मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य हैं। अतएव मोहनीय के बिना केवली में वेदनीय उन प्रवृत्तियों को पैदा करने में सर्वथा असमर्थ हैं।"

यहां पंडितजी ने क्षुधादि प्रवृत्तियों का जनक कारण तो वेदनीय स्वीकार कर लिया, किन्तु यह विशेषता रखी कि इस कार्य में मोहनीय उसका सहायक होता है और वह भी ऐसा सहायक कि उसके बिना वेदनीय उन प्रवृत्तियों को पैदा करने में सर्वथा असमर्थ है। मैंने जो प्रमाण ऊपर

प्रस्तुत किये हैं उनमें कहीं भी क्षुत्पिपासादि वेदनाओं व सुख-दुखः के अनुभवों के लिये मोहनीय कर्म की यह अनिवार्य सहायकता स्वीकार नहीं की गई। और की भी नहीं जा सकती; क्योंकि यदि वेदनीय कर्म अपनी फलदायिनी शक्ति में स्वतंत्र न होकर मोहनीय कर्म के अधीन होता तो उसे एक स्वतंत्र कर्म न मान कर नोकषायों के समान मोहनीय का ही एक उपभेद माना जाता। मोहनीय के सर्वथा वशीभूत होने पर तो उसकी स्वतंत्र सत्ता अकिंचित्कर होने से अभावरूप हो जाती है। अथवा, यदि मोहनीय के साथ उसका निरन्तर साहचर्य अपेक्षित होता तो ज्ञान और दर्शन आवरणीय कर्मों के समान उनके उदय और क्षय की व्यवस्था एक साथ की गई होती। किन्तु धवलाकार ने तो स्पष्ट ही कहा है कि सुख-दुःख अनुभवन कराने की शक्ति वेदनीय को छोड़ और किसी कर्म में है ही नहीं। इस विषय का बहुत कुछ तात्विक विवेचन मैं अपने कई लेखों में कर चुका हूँ। पूर्व लेख में मैंने पंडितजी से अपने "क्या तत्वार्थ सूत्रकार और उनके टीकाकारों का अभिप्राय एक ही है? शीर्षक लेख को देखने की प्रेरणा भी की थी। परन्तु जान पड़ता है पंडित जी ने उस ओर कोई ध्यान देने की कृपा नहीं की, नहीं तो वे अपना उक्त प्रकार मत प्रकट न करते, या मेरी दी हुई दलीलों के निराकरणपूर्वक करते। किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। अतएव आज मैं यहाँ अपने उस पूर्व लेख में केवल प्रस्तुत विषयोपयोगी अंश उद्धृत करता हूं—

"यदि हम कर्मसिद्धान्तानुसार मोहनीय और वेदनीय कर्मों के स्वरूप पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्म की स्थिति और अनुभाग बन्ध मोहनीय कर्मोदय के आधीन है। जब मोहनीय कर्म का उदय मन्द-मन्दतर होने लगता है, तब उसी के अनुसार वेदनीय कर्म का स्थिति बंध भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है और जब सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त में मोह के उदय का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वेदनीय का स्थितिबन्ध भी समाप्त हो जाता है। वहाँ तक तो वेदनीय कर्म मोहनीय के अधीन है। किन्तु बंध हुए कर्म की सत्ता और उसके उदय में वेदनीय कर्म मोहनीय से सर्वथा स्वतंत्र है। मोहनीय का उदयाभाव ही नहीं, उसकी सत्ता मात्र के क्षय हो जाने पर भी वेदनीय के बंधे हुए कर्मों की सत्ता जीव में बनी ही रहती है और वह बराबर उदय में आती रहती है, एवं उसकी तीव्रता व मन्दता उसी के अपने अनुभागोदय पर अवलंबित रहती है। तब मोहनीय कर्म का उदय रहता है, तब उसके योग से वेदनीयोदय के साथ राग-द्वेष परिणति का मिश्रण दिखाई पड़ेगा। मोहोदय के अभाव में राग-द्वेष परिणति का भी

अभाव हो जायेगा। पर उससे वेदनीयोदयजन्य शुद्ध वेदना कम नहीं होगी, अभाव तो बहुत दूर की बात है। हां, वेदनीय कर्म का उदय जितनी मात्रा में मन्द होगा उतनी ही मात्रा में क्षुधादि वेदनायें मन्द होती जायेंगी। किन्तु वेदना का सर्वथा अभाव तो तभी माना जा सकता है जब उस कर्म के उदय का सर्वथा अभाव हो जाये।''

मेरे इस लेख की ओर स्पष्ट निर्देश किये जाने पर भी न्यायाचार्य ने उस पर कोई ध्यान न देकर अपने मत की पुष्टि में गोम्मटसार कर्मकाण्ड की १६वीं गाथा पेश की है जिसमें वेदनीय के मोहनीय से पूर्व घाति कर्मों के बीच नामोउल्लेख किये जाने की यह सार्थकता बतलाई गई है कि मोहनीय के बल से वेदनीय भी घातिकर्म के समान जीव का घात करता है, इसी में उसका पाठ मोहनीय से पूर्व घातिया कर्मों में रखा गया है।' इस विषय पर भी मैं अपने विचार अपने 'केवली भगवान् के भूख प्यासादि वेदना' शीर्षक लेख से प्रकट कर चुका हूँ और वहीं से प्रसंगोपयोगी अंश यहां उद्धृत कर देता हूँ—

''कर्मकाण्ड की गाथा १९ में जो यह कहा गया है कि वेदनीय कर्म मोहनीय के बल से घातिकर्म के समान जीव का घात करता है, वह बिल्कुल ठीक है, क्योंकि वेदनीयजन्य वेदना के साथ जब तक मोहोत्पन्न राग-द्वेषरूप तीव्र परिणाम भी रहते हैं तब तक ज्ञानादि गुणों का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। पर मोहनीय के अभाव में वेदनीय अपनी शुद्ध अघातिया प्रकृति पर आ जाता है जिससे अपने उदयानुसार सुःख-दुखरूप वेदना उत्पन्न करते हुए वह जीव के केवल ज्ञानादि गुणों की बात नहीं करता। यह बात एक उदाहरण से और भी स्पष्ट हो जायेगी। अब वैद्य कहता है कि यदि ज्वर के साथ कफ और पसली की पीड़ा भी हुई तो वह ज्वर त्रिदोषात्मक होने से घातक हो सकता है, तो इसका क्या यह अभिप्राय होगा कि यदि कफ और पसली की पीड़ा नहीं है तो ज्वर अपनी वेदनाकारी किन्तु अघातक तापरूप फल देना भी छोड़ देता है? यथार्थतः वेदनीय कर्म अपनी फलदायिनी शक्ति में अन्य अघातिया कर्मों के समान सर्वथा स्वतंत्र है। यदि उसकी फलदायिनी शक्ति मोहनीय के अधीन होती तो या तो वह मोहनीय की ही उत्तर प्रकृतियों में गिनाया जाता, जैसे रति-आरति आदि नोकषाय। या स्वतंत्र कर्म मानकर भी मोहनीय के साथ उसके उदय और क्षय होने की व्यवस्था कर दी जाती, जैसे ज्ञानावरणीय के साथ दर्शनावरणीय की पाई जाती है। परन्तु कर्मसिद्धान्त के शास्त्रज्ञों को वैसा इष्ट नहीं है, और वे मोहनीय को वेदनीय का सहचारी न मानकर उसका विरोधी ही बतलाते हैं। उदाहरणार्थ, तत्वार्थसूत्र ८, ४ की टीका में कर्मों के नामनिर्देश

क्रम की सार्थकता बतलाते हुए राजवार्तिककार ज्ञानावरण और दर्शनावरण का साहचर्य प्रकट करके कहते हैं—

'तदन्तरं वेदनावचनं, तदव्यभिचारात्।।२०।। तदनन्तरं वेदना उच्यते। कुतः? तदव्यभिचारात्। ज्ञान-दर्शनाव्यभिचारिणी हि वेदना, घटादिष्वप्रवृत्तेः। ततो मोहाऽभिधानं तरिद्वरोधात्।।२१।। तत्पश्चात् मोहोऽभिधीयते। कृतः तद्विरोधात्' तेषां ज्ञान-दर्शन-सुख-दुःखानां विरोधात्। मूढो हि न जानाति, न पश्यति, न च सुख-दुःखं वेदयते।'

यहां राजवार्तिककार ने बतला दिया है कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के पश्चात् जो वेदनीय का उल्लेख किया गया है वह इस कारण कि वेदना ज्ञान और दर्शन की अव्यभिचारिणी है, अर्थात् जहाँ ज्ञान और दर्शन पाया जायेगा वहीं वेदना भी हो सकती है; और जहां इन दोनों का अभाव है, जैसे घटादि में, वहां वेदना का भी अभाव पाया जायेगा। वेदनीय के पश्चात् जो मोहनीय का निर्देश किया गया है उसकी सार्थकता यह है कि ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख की वेदना से मोह का विरोध है। मूढ जीव न जानता है, न देखता और न सुख-दुःख का वेदना करता है।

इसी प्रकार श्लोकवार्तिककार स्वयं विद्यानन्दजी ने भी स्वीकार किया है कि—

तदनन्तरं वेदनीयवचनं, तदव्यभिचारात्। ततो मोहोभिधान, तद्विरोधात्।

राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक के इस विशद् स्पष्टीकरण के प्रकाश में यह कहना व्यर्थ है कि वेदनीय का मोहनीय के साथ साहचर्य है और ज्ञान-दर्शन से विरोध है। यथार्थतः तो व्यवस्था इससे सर्वथा विपरीत सिद्ध होता है।"

(ग) क्या क्षुधादि वेदनाओं का अभाव घाति कर्मक्षयजन्य अतिशय भी माना जा सकता है?

यद्यपि पंडितजी ने इस सब प्रमाण-कलाप पर निर्देशपूर्वक कोई विचार नहीं किया, तो भी जान पड़ता है उस की ओर उनकी दृष्टि रही अवश्य है, इसी लिये आगे चलकर उक्त वेदनाओं को 'मोहनीय जन्य' या 'मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य; कहना छोड़कर उन्होंने एक तीसरा ही मत यह स्थापित किया है कि—

"असल में बात यह है कि क्षुधादि प्रवृत्तियों का अभाव घातिकर्मजन्य अतिशय है जो केवल ज्ञानादि के अतिशयों में है। अतः वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता प्रतिपादन करने में उन लोकोत्तर अतिशयों का— क्षुधादि के अभाव का— प्रतिपादन भी अनुषंगतः हो जाता है। इस लिये आप्तमीमांसाकार

आप्तमीमांसा में ही क्षुधादि प्रवृत्तियों के केवली में अभाव को कण्ठतः बतलाने के लिये बाध्य नहीं हैं।"

उक्त अतिशय घातिकर्म जन्य तो हो नहीं सकता। संभवतः पंडितजी का अभिप्राय घातिकर्मक्षय जन्य से है। किन्तु यदि यही बात है तो फिर क्षुधादि वेदनायें मोहनीय या वेदनीय, अथवा उनके सहयोग जन्य न रह कर समस्त घातिया कर्मों के समूह की उत्पत्ति कही जाना चाहिये, और चूंकि उनका अभाव केवल ज्ञान होने पर ही होता है, मोहनीय के अभाव से नहीं, अतएव वे विशेष रूप से ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय जन्य सिद्ध हुई।

किन्तु यहाँ भी क्षुधादि वेदनाओं की कारण-कल्पना का अन्त नहीं हुआ, क्योंकि आगे आप्तमीमांसाकार और टीकाकारों की आप्त में क्षुधादि के अभाव की मान्यता सिद्ध करने के लिये पंडित जी ने आप्तमीमांसा की प्रथम कारिका उद्धृत की है और लिखा है कि–

(घ) क्या क्षुधादि का अभाव सरागी देवों में भी माना जा सकता है?

"मूलकारिका और उसके व्याख्या से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यहां उन्हीं आगमोक्त विभूतियों– कतिपय अतिशयों का प्रतिपादन किया गया है जो अरहंत के ३४ अतिशयों में प्रतिपादित हैं और जिनका आप्त भगवान में अस्तित्व स्वीकार किया गया है।" इसके आगे आप्तमीमांसा की दूसरी कारिका व उसकी टीका उद्धृत करके उसपर से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'उन आगमोक्त अतिशयों को बतलाया जान पड़ता है जो केवली में कुछ तो जन्म से और कुछ केवलज्ञान होने से (घातिकर्म-क्षय से) तथा कुछ देवों के निमित्त से प्रकट होते हैं। वे हैं– शरीर में कभी पसीना न आना, क्रेवलाहार का न होना, बुढ़ापा नहीं होना, गन्धोदक की वर्षा होना, आदि आदि। ये अतिशय पूरणकश्यप आदि मतप्रवर्तकों-मायावियों में न होने पर भी अतिशकषायी स्वर्गवासी देवों में विद्यमान हैं। लेकिन देव आप्त नहीं है। अतः इन अतिशयों से भी आप्तता का निर्णय नहीं किया जा सकता है।"

इन कथन से पंडित जी का यह अभिप्राय व्यक्त हुआ कि क्षुधादि वेदनाभावरूप अतिशय सकषायी देवों के भी माने गये हैं। और चूंकि उनके धातिया कर्मों का अभाव माना नहीं जा सकता अतएव अन्वय-व्यतिरेकरूप अनुषंग न होने से एक ओर क्षुधादि वेदनाओं और दूसरी ओर मोहनीय या वेदनीय में कोई कार्यकारण सम्बन्ध नहीं सिद्ध हुआ। यहां स्वयं न्यायाचार्य जी ने ही अपनी युक्तियों से यह निष्कर्ष निकाला है कि–

"इस उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का पर्यवसितार्थ यह हुआ कि आप्तमीमांसाकार

और उनके टीकाकारों ने आप्त० कारिका २ में आप्त में क्षुधादि अभाव को स्वीकार किया है, परन्तु खाना नहीं खाना, पानी नहीं पीना, पसीना नहीं आना आदि, ये आप्त की कोई खास विशेषताएँ नहीं हैं, क्योंकि वे रागादिमान् देवों में भी हैं।"

न्यायाचार्यजी की इस तर्कपरम्परा के अनुसार क्षुधादि वेदनायें 'वास्तव में मोहनीय जन्य' 'वस्तुत-मोहनीय सहकृत वेदनीयजन्य' और 'असल में घातिकर्मजन्य' होती हैं। अन्ततः उनका अभाव सिद्ध हुआ एक ओर केवल ज्ञान के अतिशय से और दूसरी ओर सरागी देवों के महोदय से। और इसी कारण उनका अभाव आप्त की कोई खास विशेषता ही नहीं रही और उसके लिये किसी घातिया व अघातिया कर्म के क्षय की भी कोई आवश्यकता नहीं रही। अब यदि क्षुधादि मोहनीय या मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य है तो उनका सद्भाव प्रथम से लेकर दशवें गुणास्थान तक होना चाहिये, ऊपर नहीं। किन्तु इसका तत्वार्थ सूत्र के 'सूक्ष्मसाम्पराय-छद्मस्थवीतरागयोश्वतुर्दश' सूत्र (९, १०) से विरोध आता है क्योंकि इस सूत्र के अनुसार बारहवें गुणस्थान तक उनका सद्भाव पाया जाता है। यदि वे घातिकर्मजन्य हैं व उनका अभाव केवलज्ञानजन्य अतिशय है तो उनका सद्भाव बारहवें गुणस्थान तक और ऊपर अभाव होना चाहिये। किन्तु इसका 'एकादश जिने' (९, ११) और 'वेदनीये शेषाः' (९, १२) सूत्रों से विरोध आता है जिनके अनुसार तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वे वेदनायें पाई जाती हैं। और यदि उनका अभाव सरागी देवों के महोदय से भी हो सकता है, तो देवों के संभव प्रथम चार गुणस्थानों में भी उनका अभाव संभव मानना चाहिये; किन्तु उसका विरोध 'बादरसाम्पराये सर्वे, (९, १२) सूत्र में आता है जिसके अनुसार आदि से नौवें गुणस्थान तक सभी परीषह होते हैं। अब कृपया न्यायाचार्य जी विचार तो करें कि उनके युक्ति और तर्क उन्हें कहाँ लिये जा रहे हैं, उनसे कर्मसिद्धान्त की व्यवस्थाओं की कितनी दुर्दशा हो रही है, और सारा विषय कैसे झमेले में पड़ता गया है। पाठक जरा सिर खुजला-खुजला कर सोचें कि न्यायाचार्यजी के तर्कों से उन्हें क्षुधापिपासादि वेदनाओं को उत्पन्न करने वाला कौन सा कर्म समझ में आया? और फिर भी अन्ततः परिणाम वही निकला कि क्षुधादि वेदनाओं का अभाव आप्त का कोई लक्षण नहीं माना जा सकता, अतएव आप्तमीमांसाकार ने उसे आप्त के लक्षण में न केवल ग्रहण ही नहीं किया किन्तु उसको अलक्षण मानकर उसके ग्रहण को प्रबलता से निषेध किया है।

३—रत्नकरंडसम्मत आप्त के लक्षणों पर विचार

(क) लक्षण और उपलक्षण में विवेक

यहां तक की अपनी ही उत्तरोत्तर असंगत तर्क-परंपरा के उक्त परिणाम में से भयभीत होकर न्यायाचार्य जी ने रत्नकरण्ड के उस क्षुत्पिपासादि वाले आप्त के लक्षण की यह वकालत की है कि "रत्नकरण्ड (श्लोक ५) में आप्त का स्वरूप तो सामान्यतः आप्तमीमांसा की ही तरह 'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण' इत्यादि किया है। हां, आप्त के उक्त स्वरूप में आये 'अच्छिन्नदोष' के स्पष्टीकरणार्थ जो वहां 'क्षुत्पिपासा' आदि पद्य दिया है उसमें लक्षण राग-द्वेषादि के अभाव और उपलक्षण क्षुधादि के अभाव दोनों को "अच्छिन्नदोष के स्वरूपकोटि में प्रविष्ट किया है।"

यहां तो क्षुत्पिपासादि श्लोक को अच्छिन्नदोष के स्पष्टीकरणार्थ कहा गया, उसके लिये उक्त पद्य में कोई आधार दिखाई नहीं देता, बल्कि श्लोक के अन्त में जो 'आप्तः स प्रकीर्त्यते' इस प्रकार का वाक्यांश है वह स्पष्टतः बतला रहा है कि इस पद्य में कर्ता ने अपनी दृष्टि से आप्त का पूरा लक्षण देने का प्रयत्न किया है, न कि दोष का स्पष्टीकरण। दूसरे, श्लोक में जो एक ही श्रेणी से क्षुत्पिपासादि मोहपर्यंत प्रवृत्तियां गिनाई गई हैं उनमें से कुछ को लक्षण और कुछ को उपलक्षण मानने के लिये भी कोई आधार नहीं है। खासकर जबकि पंडितजी के मतानुसार ही वे गुण सरागियों में भी पाये जाते हैं और इसलिये आप्त की कोई खास विशेषतायें नहीं हैं, तब उन्हें आप्त के प्रकीर्तन में शामिल करने के लिये तो कोई भी हेतु दिखाई नहीं देता। पंडित जी ने लक्षण और उपलक्षण में भेद यह दिखलाया है कि "लक्षणतो लक्ष्य में व्याप्त होता हुआ अलक्ष्य का पूर्णतः व्यावर्तक होता है। परन्तु अपलक्षण लक्ष्य के अलावा तत्सदृश दूसरी वस्तुओं का भी बोध कराता है।" न्यायाचार्यजी के इस विवेकानुसार श्लोक गत लक्ष्य 'आप्त' रागादिमान् देवों के सदृश ही हुआ और आप्त द्वारा इनका भी ग्रहण करना रत्नकरण्डकार को अभीष्ट सिद्ध हुआ, तभी तो उन्होंने उन उपलक्षणों को ग्रहण किया। शब्द स्तोममहानिधि में उपलक्षण स्वरूप निम्न प्रकार समझाया गया है—

समीपस्थस्य स्वसम्बन्धिनश्च लक्षणं ज्ञानं यस्मात्। स्वस्य स्वाध्यस्य च अजहत्-स्थार्थया लक्षणया बोधके शब्दे यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र काकपदं स्वस्य स्त्रान्यादेः श्वादेश्च बोधकम्।

इसके अनुसार जिस शब्द के ग्रहण से उसके वाच्य अर्थ का भी ग्रहण

हो और उसी समान अन्य पदार्थों का भी ग्रहण हो, उसे उपलक्षण कहते हैं। जैसे किसी ने कहा 'कौओं से दही की रक्षा करो' तो यहां कौओं पद से दही को नुकसान पहुंचाने वाले कुत्ते-बिल्ली आदि जानवरों को भी ग्रहण करना चाहिये। अतएव यहां कौआ शब्द उपलक्षण है। मैं न्यायाचार्य जी से पूछता हूँ कि क्या इसी उपलक्षण शक्ति के अनुसार रत्नकरण्ड के कर्ता को आप्त के सदृश रागादिमान् जीवों का भी ग्रहण करना अभीष्ट है, क्योंकि उपलक्षण प्रकृत का ही बोध कराता है, अप्रकृत का नहीं?

उपलक्षण का एक और प्रकार से अर्थ मुझे पंचाध्यायी में देखने को मिला, जिसके अनुसार—

अत्युपलक्षणं पत्तल्लक्षणं प लक्षणम्।
तक्षंथाऽस्त्यादिलक्षस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत्।।
यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः।
स चोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम्।।

(उत्तरार्ध, ४६८-४६९)

अर्थात्— जो लक्षण का भी लक्षण होता है वह उपलक्षण कहलाता है, जैसे सम्यक्त्व भाव का संवेग गुण लक्षण है, और अंधभक्ति तथा वात्सल्य संवेग के लक्षण होने से सम्यक्त्व के उपलक्षण कहलाये। उपलक्षण की इस परिभाषा के अनुसार भी उपलक्षण लक्ष्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं पाया जा सकता।

उपलक्षण और लक्षण का एक तीसरे प्रकार से स्वरूप मुझे पं० सुखलाल जी के तत्वार्थ सूत्र विवेचन में (पृ० ८४-८५) देखने को मिला जहाँ कहा गया है कि—

"असाधारण धर्म सब एक से नहीं होते। कुछ तो ऐसे होते हैं जो लक्ष्य में होते हैं सही, पर कभी होते हैं, कभी नहीं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो समग्र लक्षण में नहीं रहते, और कुछ ऐसे होते हैं जो तीनों काल में सम्रग लक्षण में रहते हैं। .....उपलक्षण और लक्षण का अन्तर यह है कि जो प्रत्येक लक्ष्य में सर्वात्मभाव से तीनों काल में पाया जाय— अग्नि में उष्णात्व-वह लक्षण; और जो किसी लक्ष्य में हो किसी में न हो; कभी हो कभी न हो, और स्वभावसिद्ध न हो वह उपलक्षण जैसे अग्नि लिये धूम। जीवत्व को छोड़कर आत्मा के बावन भेद आत्मा के उपलक्षण ही हैं।"

इस मत के अनुसार उपलक्षण भी लक्ष्य का असाधारण धर्म ही होता है, परन्तु यह द्रव्य और काल दोनों की अपेक्षा से अनियम है, लक्षणों के समान नियम नहीं। अब न्यायाचार्य जी स्पष्ट करें कि उनके मतानुसार क्षुधादि वेदनाओं

का अभाव आप्त का किस प्रकार का उपलक्षण है और रत्नकरण्डकार उसके द्वारा आप्त की क्या विशेषता बतलाना चाहता है? उसके द्वारा आप्त को सरागी देवों के सदृश बतलाना उन्हें अभीष्ट है या उनसे पृथक्?

(ख) रत्नकरण्ड में दो विचारधाराओं का समावेश

मैं अब रत्नकरण्ड के 'क्षुत्पिपासादि श्लोक को उससे पूर्ववर्ती **'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण'** आदि पद्य के साथ पढ़ता हूँ तो मुझे यही मालूम पड़ता है कि यहां रचयिता ने आप्त के संबंध में प्रचलित अपने समय की दोनों परिभाषाओं को अलग-अलग रख दिया है—पहले पद्य में समन्तभद्रस्वामी का आप्तमीमांसा-सम्मत लक्षण है और दूसरे में कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिपादित लक्षण। दोनों पद्यों को अपने-अपने रूप में पूर्ण बनाने के उद्देश्य से ही रचयिता ने एक के अन्त में नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' और दूसरे के अन्त में **'यस्थाप्तः स प्रकीत्यते'** रखकर उनमें परस्पर किसी मेलजोल व लक्षण-उपलक्षण आदि की कल्पना के लिये कोई गुञ्जाइश नहीं रहने दी है। ये वे ही दो विचारधारायें हैं जिनका उल्लेख मैं अपने पूर्व लेख में विद्यानन्द के सम्बन्ध में कर आया हूँ।

४—केवली में जन्म-मरणादि का सद्भाव

(क) जन्ममरण मोहनीय नहीं, किंतु आयुकर्मजन्य हैं—

केवली में जन्म, ज्वर, जरा और मरण के अभाव के सम्बन्ध में मैंने अपने पूर्व लेख में कहा था कि 'यदि इस मान्यता का यह तात्पर्य हो कि केवली हो जाने पर सिद्ध अवस्था में फिर उन्हें कभी जन्म, ज्वर, जरा और मरण की बाधाएँ नहीं होंगी तब तो इससे कहीं विरोध उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि केवली ने कोई नया आयुबन्ध किया ही नहीं है इसलिये सिद्धगति को छोड़ किसी संसार गति में उन्हें जाना ही नहीं है।" हर्ष है कि पंडित जी ने अपने लेख में यही व्यवस्था स्वीकार कर ली है। किन्तु उसे रखने का उन्होंने ऐसा प्रयत्न किया है जिससे जान पड़े कि वह उनकी कोई नई सूझ है और उन्होंने स्वयं एक रहस्य का उद्घाटन कर मेरा समाधान किया हो। मेरे ऊपर उद्धृत वाक्य के अनन्तर वाक्य था "किन्तु जिस शरीर से केवली अवस्था उत्पन्न हुई है उसका मनुष्य योनि में जन्म हुआ ही है ...." इत्यादि। पंडितजी ने इस वाक्य का भी 'किंतु' छोड़कर शेष प्रश्नात्मक वाक्य ही उद्धृत किया है और फिर कहा है—"उसका रहस्य यह है कि केवली के मोहनीय का नाश हो जाने से अब पुनर्जन्म न होगा" इत्यादि। यह रहस्य मेरे ऊपर उद्धृत वाक्य में सुव्यवस्थित रूप से आ चुका है। पंडितजी ने उसमें जो मौलिकता लाने का

प्रयत्न किया है उसमें उन्होंने सैद्धान्तिक भूल कर डाली, और वह यह कि जन्म-मरण में कारणीभूत होने वाला कर्म मोहनीय नहीं, किन्तु आयुकर्म है, जिसके क्षीण होने से ही मरण और उदय में आने से जन्म होता है। मोहनीय कर्म के तो सर्वथा क्षीण हो जाने पर भी मरण नहीं होता और न मरण व पूनर्जन्म होने से मोहनीय का शृंखला में कोई भेद पड़ता है। अतएव जन्म-मरण का सीधा सम्बन्ध मोहनीय से न होकर आयुकर्म से है।

(ख) शास्त्रकारों ने केवली का भी मरण माना है

केवली को कोई दूसरा संसार जन्म धारण नहीं करना है, इस अपेक्षा से उनमें जन्म का अभाव मान लेने पर भी केवली के मरण का अभाव किसी प्रकार स्वीकार किया जा सकता है, यह न्यायाचार्य जी ने बतलाने की कृपा नहीं की। आयु के क्षय होने पर केवली का मरण तो अवश्यम्भावी है और उस मरण का प्रकार भी शास्त्रकारों ने बतलाया है। उदाहरणार्थ, भगवती आराधना में मरण के अनेक प्रकार बतलाये हैं जिनमें से पंडित-पंडित मरण केवली का होता है, विरताविरंत अर्थात् श्रावक वाकपंडित मरण करते हैं। पंडितमरण यथोक्त चारित्र साधु का, वाकमरण अविरत सम्यग्दृष्टि का, तथा बालबाल मरण मिथ्यादृष्टि, जीव का होता है। यथा—

पंडित पंडितदमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदिएणा माणेवा।।२८।।
पओपगमणमरण भत्तप्पण्ण य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडिदमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स।।२९।।
अविरदसम्मादिठ्ठी मरंति बालमरणे चडत्थम्मि।
मिच्छादिठ्ठी य पुणो पचमए बालबालम्मि।।३०।।

मूलाचार में मरण के तीन भेद बतलाये हैं—बालमरण बालपंडितमरण और पंडितमरण, तथा केवलियों के मरण को 'पंडित-पंडित मरण' कहा है। यथा—

तिविहं भणं त मरणं बालाणं बालपंडियाणं य।
तहयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति।।५९।।

अब कृपाकर पंडितजी बतलावें कि यदि केवली होने पर मरण का अभाव हो जाता है तो ये पंडित पंडित व पंडितमरण से मरनेवाले केवली कौन से हैं?

पंडित जी ने 'अन्तकः क्रन्दको नृणां' आदि पद्य को पुनः उद्धृत किया है और उसका मेरे द्वारा दिया गया भावार्थ प्रस्तुत करते हुए उस पर 'आश्चर्य' प्रकट किया तथा उसे 'अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये इच्छानुकूल भावार्थ'

कहा है। किन्तु उन्होंने यह बतलाने की कृपा नहीं की कि उस अर्थ में दोष क्या है व उनके आश्चर्य का आधार क्या है, सिवाय इसके कि वह उनकी इच्छा के अनुकूल नहीं है। उनके या मेरे अर्थ के ठीक होने का निर्णय उन्हीं 'मर्मज्ञ विद्वानों' पर छोड़ा है, अतएव मैं भी उसे इस प्रकार छोड़ता हूं।

(ग) केवली में जन्म-मरणदि के अभाव की अपेक्षा

आगे पंडित जी ने स्वयंभूस्तोत्र के चार और अवतार प्रस्तुत किये हैं जिनमें भगवान् के 'अज' और 'अमर' विशेषण पाये जाते हैं। इन उल्लेखों के ही प्रकाश में पंडितजी ने अपने पूर्वोल्लिखित 'जन्म-जराजिहासया' और 'जन्म-जरा-मरणोपशान्त्यै' वाक्यांशों को भी देखने की प्रेरणा की है। किन्तु इन उल्लेखों वाले पूरे पद्यों को उद्धृत कर मैंने उनका जो अर्थ समझाया है उसमें पंडितजी को कोई दोष दिखाने को नहीं मिल सका। तो भी पंडितजी की प्रेरणा की मैं अवहेलना नहीं कर सकता। वे लिखते हैं— "जब मैंने जन्मजराजिहासया इस ४९वें पद्य के आगे का 'स्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः' यह ५०वीं पद्य देखी तो वह मेरी विवक्षा मिल गई जहाँ स्पष्टतः केवली अवस्था प्राप्त करने (स्वमुत्तमज्योतिः) के साथ ही 'भव्व' पद्य का प्रयोग करके ग्रंथकार ने उनके जन्म का अभाव प्रतिपादित किया है।" किन्तु पंडित जी अपनी विवक्षा मिल जाने के हर्ष के आवेग में 'अजः' पर ही रुक गये; उन्होंने आगे दृष्टि डालकर नहीं देखा जहां निर्वृतः' विशेषण लगा हुआ है और अर्थ को उनकी विवक्षा से परे ले जाता है, क्योंकि उससे स्पष्ट है कि यह वर्णन भगवान् की सिद्ध अवस्था का है। इससे यह भी पता चल जाता है कि उक्त दोषों का केवली जिन में अभाव मानने की भ्रान्ति किस प्रकार उत्पन्न हुई। जो विशेषणा स्वामी समन्तभद्र जैसे मर्मज्ञों ने सिद्ध अवस्था का ध्यान रखकर प्रयुक्त किये, उन्हें ही इतर लेखकों ने अरहंत अवस्था में प्रयुक्त करके उन्हें आप्त के लक्षण मानना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु जैसा मैं बतला चुका हूं, वह बात कर्मसिद्धान्त से सर्वथा असम्भव सिद्ध होती है। इस प्रकार स्वामी समन्तभद्र की विवक्षा सिद्ध करने के लिये न्यायाचार्य जी ने जो उल्लेख प्रस्तुत किया उसी से प्रमाणित हो जाता है कि जन्मजरामरणादि का अभाव सिद्ध अवस्था में ही घटित होता है, न कि अरहंत अवस्था में।

५. केवली के क्षुधा-तृषा का सद्भाव

(क) स्वयंभूस्तोत्र में केवली के क्षुधा-तृषा का अभाव नहीं

केवली में क्षुधा और तृषा का अभाव सिद्ध करने के लिये पंडित जी ने फिर भी उन्हीं 'क्षुधादिदु:खप्रतिकारतः स्थितिः' आदि तथा 'मानुषीं

प्रकृतिमभ्यतीतवान्' आदि दो पद्यों की दुहाई दी है। मैं अपने पूर्व लेख में बतला ही चुका हूं कि इन दोनों पद्यों में केवली के क्षुधातृषाके अभाव का लेशमात्र भी उल्लेख नहीं है। 'मानुषीं पफुतिम्' आदि पद्य को प्रस्तुत करते हुए तो स्वयं पंडित जी ने ही कहा है कि 'खाना नहीं खाना, पानी नहीं पीना, पसीना नहीं आना आदि वे आप्त की कोई विशेषताएँ नहीं हैं, क्योंकि वे समादिमान् देवीं में भी हैं। प्राय: इस विशेषताओं से भी सबसे बड़ी सर्वोच्च एवं असाधारण विवेकता—गमादिगहिंतता है। वह जिसमें पाई जाती है वही आप्त है।' इत्यादि। स्वयं इस विवेक के पश्चात् फिर भी उसी पद्य को केवली में क्षुधातृषा के अभाव की सिद्धि के लिये, पेश करना कहां तक संगत है। यह मर्मज्ञ पाठक स्वयं विचार कर देखें।

'क्षुधादिदु:खामिकारत: स्थिति' : वाले पद्य के अर्थ का मैंने अपने पूर्व लेख में विस्तार से विवेचन किया है जिसमें पंडित जी कोई जरा सा भी स्खलन नहीं दिखा सके। फिर भी वे उसी पद्य को अपने पक्ष में, बिना कोई नई बात कहे, प्रस्तुत किये ही जाते हैं। इस पद्धति में युक्ति, तर्क व प्रमाण नहीं, केवल दुराग्रह भाव का प्रदर्शन पाया जाता है जिसका मेरे पास कोई इलाज नहीं। हां, अपनी तरफ से मैं बार-बार भी विचार करने को तैयार हूँ। प्रथम तो उक्त पद्य में केवली के क्षुधादि दोषों का अभाव का प्रसंग ही नहीं बैठता, क्योंकि वहां भगवान् के इस उपदेश का प्रतिपादन मात्र किया गया है कि न तो क्षुधा आदि का दु:खों के प्रतिकार मात्र से और न इन्द्रिय विषयों के अल्प सुखों से शरीर व जीव की स्थिति सदैव एक सी रखी जा सकती। अतएव इन्हें शरीर या जीव के स्वधर्म नहीं मानना चाहिये। वहां केवली में उनके अभाव के प्रतिपादन का तो कोई प्रसंग ही नहीं बनता दूसरे यदि क्षुधातृषा जरा, ज्वर, जन्म मरण, भय, स्मय व रागद्वेषादि के प्रतिकार से शरीर व जीव की स्थिति नहीं रखी जा सकती, इसलिये यह प्रतिकार जीव का गुण नहीं है किन्तु वस्तुस्थिति इससे विपरीत है। रागद्वेष तथा जन्म-मरण आदि का प्रतिकार ही तो सच्चा आत्मधर्म है और वही शाश्वतपद प्राप्ति का उपाय है। अतएव उसके विरुद्ध भगवान कैसे उपदेश दे सकते हैं? इन्हीं जन्म-जरा आदि के निराकरण के लिये ही तो सयोगिजिन अपने तीनों योगों का निरोध करके अयोगी होते हैं और फिर निर्वृत अर्थात् सिद्ध होकर 'अज' हो जाते हैं। कृपा कर पंडित जी स्वयंभूस्तोत्र के ४८, ४९ और ५० पद्यों पर पद्य ७४ को दृष्टि में लेकर ध्यान दें। ४८ वें पद्य में भगवान के अप्रमत्त संयम का उल्लेख है। उसके पश्चात् ४९वें पद्य में उनके सयोग अवस्था में अयोग

बनने का प्रयत्न वर्णित है। और ५०वें पद्य में अयोग से ऊपर निर्वृत अवस्था में उत्तमज्योति और अज गुणों का निरूपण पाया जाता है। इसी ज्योति के प्रकाश में यदि पंडित जी उन सब उल्लेखों को देखेंगे जिन्हें वे आप्त में जन्म जारादि दोषों के अभाव के पक्ष में पेश करते हैं तो उनका समस्त अंधकार और धुंधलापन दूर हो जायेगा और उन्हें विश्वास हो जायेगा कि स्वयंभूस्तोत्रकार केवली में जन्म, जरा और मरण का अभाव नहीं मानते किन्तु उनके निराकरण का प्रयत्नमात्र स्वीकार रकते हैं तथा जिसे 'क्षुधाद दुःखप्रतिकारतः स्थितिः' आदि पद्य में अष्टादश दोषों की कल्पना करते हैं वहाँ यथार्थतः क्षुधादि वाइस परीषहों का संकेत है जिनको सहन करना प्रत्येक साधु का धर्म है। और यही भगवान का उपदेश है।

इसके पश्चात् न्यायाचार्य को पात्रकेशरी आदि के अवतरण देने का 'लोभ' उत्पन्न हुआ है, जिसे वे संवरण नहीं कर सके।' किन्तु उनके उस लोभ के प्रदर्शन से सिद्ध-असिद्ध कुछ नहीं हुआ क्योंकि प्रस्तुत विषय तो केवल यह है कि क्या आप्तमीमांसाकार को रत्नकण्ड श्रावकाचारान्तर्गत क्षुत्पिपासादि पद्य वाले आप्त का लक्षण मान्य है? आप्तमीमांसा की प्रथम कारिका पर से न्यायाचार्य जी उसके कर्ता का यह अभिप्राय प्रकट करते हैं कि—"हम युक्तिवादी परीक्षाप्रधानी मात्र देवागमादि को हेतु नहीं बना सकते हैं, क्योंकि देवागमादि विभूतियां मायावियों में पायी जाने से व्यभिचारी हैं।" और पंडित जी के मतानुसार इन्हीं विभूतियों के भीतर अरहन्त के ३४ अतिशय भी गर्भित हैं। तब फिर यह कैसे माना जा सकता है कि उक्त व्यभिचारी विभूतियों को आप्तसिद्धि में अहेतु और अलक्षण ठहराने वाले आप्तमीमांसाकार ही अन्यत्र उन्हीं अतिशयों को आप्त का लक्षण बनाकर प्रकट करेंगे और कहेंगे कि जिनमें ये हैं वे ही आप्त कहलाते हैं—यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते? इस सम्बन्ध में जितना हेतुवाद न्यायाचार्य जी ने प्रस्तुत किया है वह सब इसी बात की परिपुष्टि करता है कि आप्तमीमांसाकार क्षुत्पिपासादि के अभाव को आप्त का लक्षण नहीं स्वीकार करते किन्तु उसका प्रबलता से निषेध करते हैं।

(ख) पातंजल योगशास्त्र और जैन कर्मशास्त्र की व्यवस्था में भेद—

पंडितजी ने पातंजल योगदर्शन का 'कण्ठकूपे क्षुत्पिपाप्तानिवृत्तिः' सूत्र भी पेश किया है, यह सिद्ध करने के लिये कि जीवन्मुक्त अवस्था में भूख-प्यास की बाधा नहीं रहती। किन्तु उन्होंने उस सिद्धान्त की और जैनसिद्धान्त की कार्य-कारण परम्परा पर विचार नहीं किया जिसकी प्रकृत में अत्यन्त आवश्यकता थी। उक्त पातंजल सूत्र की वृत्ति है—

जिह्वातन्तोरधस्तात् कण्ठयस्य कूपाकारः प्रदेशोऽस्ति यत्र प्राणादेः संघर्षणात्क्षुत्पिासे भवतः। तत्र संयमात्तन्निवृत्तिभेवतीत्यर्थः।

अर्थात्-जिह्वा और तन्तु के नीचे कण्ठ का कृपाकार प्रदेश है। इस प्रदेश में प्राणवायु आदि के संघर्षण से क्षुधा और तृषा उत्पन्न होती है। अतएव जब योगी उक्त संघर्षण का संयम कर लेता है तब उसे उक्त बाधाएं नहीं होती।

इस व्याख्यान से सुस्पष्ट है कि पातंजल योगशास्त्र में जो क्षुधा और तृषा की वेदनाएं उत्पन्न होने का कारण दिया गया है वह जैन सिद्धान्त में उपलभ्य उक्त वेदनाओं के कारण से सर्वथा भिन्न है। योगशास्त्र अपनी व्यवस्था में सुसंगत है, क्योंकि वहां क्षुधा-तृषा का जो कारण स्वीकार किया गया है। उसके अभाव होने पर तज्जन्य कार्य का भी अभाव माना जाना स्वाभाविक है। किन्तु जैन सिद्धान्त में तो क्षुद्धा-तृषादि वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली मानी गई हैं, और इस कर्म का उदय सयोगी और अयोगी केवली में भी स्वीकार किया गया है। तब फिर कारण के रहते कार्य का अभाव कैसे माना जा सकता है। न्यायाचार्य जी के इस अप्रकृत व अनपेक्षित परिभ्रमण से उनका गृहीत पक्ष कैसे सिद्ध होगा यह वे ही जानें। हां यदि न्यायाचार्य जी यह कहें कि रत्नकरण्डकार को क्षुधातृषा का वही कारण स्वीकृत है जो पातंजल योगशास्त्र में माना गया है, और उनके आप्त भी वे ही हैं जो उसकी 'कण्ठकूप संयम' का अभ्यास किया करते हैं, तो बात दूसरी है।

६(क) कारिका में अपेक्षित हेतु और उसका स्थान

न्यायाचार्य जी ने अपने पूर्वलेख में कहा था कि "आप्तमा० का० ९३ में जो वीतराग मुनि में सुख-दुःख स्वीकार किया गया है वह छठे आदि गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनियों के ही बतलाया है, न कि तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनि-केवलियों के।" इस पर मैंने अपने पूर्व लेख में लिखा था कि यदि उक्त कारिका में 'छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनि का ग्रहण किया जाय तो फिर प्रतिपाद्य विषय की युक्ति ही बिगड़ जाती है और विपरीत होने से जो बात असिद्ध करना चाहते हैं वही सिद्ध होती है, क्योंकि छठे गुणस्थान में सुख-दुःख की वेदना के साथ प्रमाद और कषाय इन दो बन्ध के कारणों से कर्मबन्ध अवश्य होगा। यहां ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों की पाप प्रकृतियों का एवं वेदनीयादि अघातियाँ कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का परिणामानुसार बन्ध होना अनिवार्य है। सातवें गुणस्थान में प्रमाद का अभाव हो जाने पर कषायोदय से कर्मबन्ध होगा ही, और यही बात सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान तक भी उत्तरोत्तर हीनक्रम से पाई जायेगी। अतएव छठे से दशवें गुणस्थान तक तो

आप्तमीमांसाकार की युक्ति किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।"

न्यायाचार्यजी के मतानुसार "इस शंका का समाधान यह है कि पूर्वपक्षी प्रमाद और कषाय को बन्ध का कारण नहीं मानना चाहता, वह तो केवल एकान्ततः दुखोत्पत्ति को ही बन्धकारण कहना चाहता है, और उसके इस कथन में ही उपर्युक्त दोष दिये गये हैं। जब उसने अपने एकान्त पक्ष को छोड़कर यह कहा कि 'अभिसन्धि' (प्रमाद और कषाय) भी उसमें कारण हैं तब उससे कहा गया कि यह तो अनेकान्त सिद्धि आ गई।"

यहाँ प्रश्न यह है कि आचार्य ने पूर्वपक्षी का वह एकान्त पक्षी छुड़ाया कैसे, और उसे यह कैसे विश्वास कराया कि बन्ध का कारण केवल सुख-दुःख नहीं होता? यदि कोई गीली लकड़ी को जली देखकर कहता है कि अग्नि धूम की उत्पत्ति का कारण है, तब उसे सूखी लकड़ी निर्धूम जली हुई दिखाकर ही तो यह विश्वास कराया जा सकता है कि शुद्ध अग्नि धूम का कारण नहीं किन्तु लकड़ी गीलेपन सहित अग्नि ही उसका कारण है। केवल गीली लकड़ी ही सधूम जलती हुई दिखा-दिखाकर उसकी भ्रांति का निवारण नहीं किया जा सकता। ठीक इसी प्रकार आप्तमीमांसा की उस कारिका में पूर्वपक्षी की जो शंका है कि अपने दुःख से पुण्य और सुख से पाप का बंध होता है, उसके निराकरण के लिये आचार्य उसे एक ऐसा व्यक्ति दिखलाते हैं जिसके दुःख-सुख तो है, किन्तु फिर भी पुण्य-पाप का बन्ध नहीं है। ऐसा व्यक्ति वेदनीयोदय से युक्त किन्तु अबन्धक जीव ही हो सकता है। छठे आदि गुणस्थान वर्ष बंधक जीवों के उदाहरण पेश करने से पूर्वपक्षी की बात का खंडन कदापि नहीं हो सकता, बल्कि उससे तो उसकी शंका की ही पुष्टि होगा, क्योंकि उन साधुओं के सुख-दुःख कषाययुक्त होने से कर्मबन्धक हैं ही। अतएव पंडितजी समाधान से उनके पक्ष का समर्थन नहीं होता, बल्कि उसका अर्थ और भी सुस्पष्ट हो जाता है कि आप्तमीमांसा की ९३वीं कारिका में छठे गुणस्थानवर्ती मुनि का नहीं, किन्तु अबन्ध गुणस्थानवर्ती संयमी का ग्रहण किया गया है और वही विद्वान् विशेषण वहां कोई सार्थकता रखता है तो उससे केवली का ही बोध होता है जैसा कि आगे दिखाया जायेगा।

(ख) स्वयं आप्तमीमांसा और उसकी टीकाओं में अज्ञान को मल ही कहा है

इस सिलसिले में पंडितजी ने मेरे सिर एक सैद्धान्तिक भूल जबर्दस्ती मढ़ दी है कि मैंने "अज्ञान को भी बन्धक कारण' बतलाया है और फिर आपने उस पर एक सभ्य व्याख्यान भाड़ा है। मुझे आश्चर्य है कि पंडित जी ने मेरे लेख

में उक्त बात कहाँ पढ़ ली? उन्होंने अपने दोषारोपण की पुष्टि में जो मेरा वाक्यांश उद्धृत किया है वह अपनी कारण परंपरा को लिये हुए पूर्णतः इस प्रकार है—

"कारिका में जो विद्वान् विशेषण भी लगाया गया है और जिस पर न्यायाचार्य जी ने सर्वथा ही कोई ध्यान नहीं दिया है, उससे स्पष्ट है कि आचार्य ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान के भी पार जाकर केवली के दो स्थानों की ओर से वहाँ दृष्टि रखते हैं। उनके ऐसा करने का कारण यह प्रतीत होता हुए भी अज्ञान के सद्भाव से कुछ मलोत्पति की आशंका हो सकती है। किन्तु अन्तिम दो गुणस्थान ऐसे हैं जहाँ साता व असाता वेदनीय आदि अघातिया मतों के हृदय से सुख और दुःख का वेदन तो संभव है, किन्तु कषाय व अज्ञान के अभाव से पुण्य-पाप बन्ध या किसी भी प्रकार के अन्तरंग मल की संभावना नहीं रहती। अतएव उन्होंने इन्हीं दो गुणस्थानों को ग्रहण किया है।"

कृपाकर पाठक देखे कि मैंने यहां कहां अज्ञान को बन्ध का कारण कहा है? मैंने तो उससे मलोत्पत्ति की बात कही है और वह ठीक भी है क्योंकि स्वयं आप्तमीमांसाकार ने उसे दोषी कहा है और उसे मल की उपमा दी है और अकलंक तथा विद्यानन्दि जैसे टीकाकारों ने भी उसे आत्मा का मल ही कहा है। यथा—

पोषादरसषोहीनिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
सत्तिद्यया स्वहेतुभ्यो बहिरन्तमलक्षयः।।

हस्तसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः।...... प्रतिपक्ष एवात्मनाकहान्तवते मलः परिक्षयी स्वनिर्हासनि मेत्तविवर्द्धनवशात्। कृत्ववो आत्पमः परिणामः स्वाभाविक आगन्तुकश्च। तत्र व्याभथिकोप्रमण्तज्ञानादिरातमस्वरूपत्वात्। मलः पुनरजनादि अगन्तुरः कर्मोदयनिमित्तकत्वात्।

षण्पायारवे ज्ञान और दर्शन आवर्णीको एथा—

यथा—वासरणानि स्लांसीव बहिरंगान्तरंगाशेष सुक्ताम्मस्सार्थंत्सुंजनपरिखस्मकवस्तुविषयवोधानुम रजांसि। (षट् ख० प० १, पृ० ४३)

मैं यह जानना चाहता हूं कि इसमें मेरी कौन सी मौलिक भूल है। अज्ञान को बन्ध का कारण तो न्यायाचार्यजी ने उसकी भूख बतलाने का सुयश लूटने के लिये जान-बूझकर स्वयं कल्पित कर दिया है। ऐसी हीनप्रवृति एक न्यायाचार्य के योग्य नहीं।

(ग) वीतराग और विद्वान् पद दो अलग-अलग मुनियों के वाचक नहीं

यद्यपि पूर्वोक्त विवेचन से पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि आप्तमीमांसा की ९३वीं कारिका में छठे आदि गुणस्थानवर्ती साधु का ग्रहण कदापि नहीं बन

सकती और इसलिये पंडितजी की तत्संबंधी अन्य कल्पनाओं की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। तथापि उन्होंने अपने निष्फल प्रयास में ऐसी भूलें की हैं जिनसे साधारण पाठकों को भ्रान्तियां उत्पन्न हो सकतीं हैं। अतएव उनका निवारण कर देना भी उचित जान पड़ता है। पंडितजी लिखते हैं कि "९३वीं कारिका में जो वीतरागी मुनि विद्वान् शब्द का प्रयोग है वह एक पद नहीं है और न एक व्यक्ति उसका वाच्य है। किन्तु ९२वीं कारिका में आये हुए 'अचेतनाकषायौ' की तरह इसका प्रयोग है और उसके द्वारा वीतराग मुनि तथा 'विद्वान् मुनि' इन दो का बोध कराया है" किन्तु उक्त दोनों कारिकाओं में जो बड़ा भारी भेद है उस पर पंडितजी की दृष्टि नहीं गई जान पड़ती। प्रथम कारिका में आचार्य ने पर में सुख-दुःख उत्पन्न करने वाले दो भिन्न प्रकार के उदाहरण दिये हैं—एक अचेतना का दूसरा सचेतना का और इसीलिये उन्होंने उनके साथ द्विवचन का प्रयोग किया है और उनकी क्रिया भी द्विवचन में रखी गई है। किन्तु दूसरी कारिका में स्वतः दुःख-सुख संवेदन करने वाला उदाहरण केवल एक सचेतना का ही दिया जा सकता है, अचेतना का नहीं। वीतराग और विद्वान् गुण परस्पर विरोधी भी नहीं जो एक ही व्यक्ति में न पाये जाते हों। यथार्थतः तो वे परस्पर सापेक्ष है। यह बात भी नहीं कि वीतराग मुनि के दुःख से तो पुण्यबंध न होता हो किन्तु सुख से पाप बन्ध होने लगता हो और न विद्वान मुनि के सुख से पाप का अभाव होते हुए दुःख से पुण्य बंध हो जाता हो। इस कारिका में क्रिया भी एक बचन हैं तब फिर यहां वीतराग और विद्वान् दोनों के विशेष्य दो अलग-अलग मुनि मानने की क्या सार्थकता है और उसके लिये कारिकायें क्या आधार है? यदि टीकाकार ने 'वीतरागो विद्वांश्च मुनिः' भी कर दिया तो उनका जोड़ा हुआ 'च' दोनों विशेषणों को जोड़कर उन्हें एक मुनि के ही तो विशेषण बनाता है। उस से दो मुनि कहाँ पे खड़े हो गये, जिनमें से एक वीतराग है पर विद्वान् नहीं और दूसरा विद्वान् है किन्तु वीतराग नहीं पंडितजी ने इन्हें अलग-अलग तपस्वी साधु और उपाध्याय परमेष्ठी पर घटाया है। परन्तु क्या जो तपस्वी साधु होता है वह वीतराग होकर विद्वान् नहीं होता या उपाध्याय परमेष्ठी विद्वान् होकर वीतराग नहीं होता? न्यायाचार्य जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"जान पड़ता है प्रो० सा० को कुछ भ्रान्ति हुई है और उनकी दृष्टि 'च' शब्द पर नहीं गई। इसी से उन्होंने बहुत गलती खाई है और वे 'वीतराग विद्वान् मुनि' जैसा एक ही पद मानकर उसका केवली अर्थ करने में प्रवृत्त हुए हैं।" मैं पंडितजी से पूछता हूँ कि 'च' शब्द पर मेरी ही दृष्टि नहीं गई या स्वयं आप्तमीमांसाकार की भी नहीं गई, क्योंकि उनकी कारिका में भी

'च' कहीं दिखाई नहीं देता? बड़ी कृपा होगी यदि पंडित जी यह बतला देंगे कि प्रमत्त संयत गुणस्थान में कौन सा तप करके साधु 'वीतराग' संज्ञा प्राप्त कर लेता है जिससे उसके दु:ख से पुण्यबंध नहीं होता और कौन सी विद्या पढ़कर वह ऐसा 'विद्वान्' हो जाता है जिस से उसके सुख से पाप बन्ध नहीं होता? उनके इस स्पष्टीकरण से मेरी ही नहीं, किन्तु समस्त जैनसिद्धान्त की 'भ्रांति' और 'बहुत बड़ी गलती' सुधर जायेगी, क्योंकि अभी तक उस सिद्धान्तानुसार छठे गुणस्थान में अबन्धक भाव किसी अवस्था में भी नहीं पाया जाता । इस गुणस्थान वाला साधु तो जो भी दु:ख-सुख अनुभव करता या कराता है उससे पुण्य-पाप बन्ध होना अनिवार्य है, क्योंकि उसकी कोई भी प्रवृत्ति कषाय से सर्वथा मुक्त हो ही नहीं सकती। वीतरागता और विद्वत्ता बल से मन, वचन और काय की ऐसी प्रवृत्तियों का, जिनके द्वारा पुण्य-पाप बन्ध न हो, तो स्वामी समन्तभद्र ने केवल सयोगि केवली के ही मानी हैं क्योंकि उन्होंने स्वयंभूस्तोत्र में स्पष्ट कहा है कि—

काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो नामवंस्तव मुनिश्चिकीर्षना।
वासमीक्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम्।।

(घ) किसी गुणस्थान में किसी कर्म का बन्ध न होने से वहाँ उसका उदयाभाव नहीं सिद्ध होता

पंडितजी ने सिद्धान्त में एक नया शोध यह किया कि "यथार्थतः संसारी जीवों में स्थिति बन्ध और अनुमान बन्धपूर्वक ही सुख-दु:ख की वेदना देखी जाती है। केवल में यह दोनों प्रकार के बन्ध नहीं होते तब उनके वेदना कैसे हो सकती है?" न्यायाचार्य जी की इतनी स्थूल सैद्धान्तिक भ्रान्ति से एक साधारण कर्मसिद्धान्तज्ञ को भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा। यदि जिस गुणस्थान में जिस कर्म का बन्ध नहीं होता तो उसका वेदन अर्थात् उदय भी न होता हो, अत: मैं पंडितजी से पूछता हूँ कि जब नपुंसक वेद का बन्ध प्रथम गुणस्थान में व स्त्रीवेद का द्वितीय गुणस्थान में ही व्युच्छित हो जाता है तब उनका वेदन नौवें गुणस्थान तक किस प्रकार होता होगा? नरक गति का बन्ध प्रथम गुणस्थान में ही समाप्त हो जाने पर भी चौथे गुणस्थान तक उसका बन्ध कैसे होता है? तिर्यंचगति व मनुष्यगति का बंध क्रमश द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थान में ही टूट जाने पर भी उसका उदय क्रमशः पांचवें और चौदहवें गुणस्थान तक कैसे माना गया होगा? ज्ञानावरण; दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का बंध दशवें गुणस्थान के आगे नहीं होता, किन्तु बारहवें के अन्त तक उनकी वेदना कैसे होती होगी? जब तीर्थंकर प्रकृति आठवें गुणस्थान से आगे नहीं

बंधती, फिर उसका वेदन तेरहवें गुणस्थान में कैसे संभव होता। यथार्थतः सयोगिकेवली के बन्ध तो केवल सातावेदनीय मात्र का होता है और वह भी स्थिति और अनुभाग केवल ईर्यापथिक। किन्तु उदयानुसार वेदना उनके कर्म प्रकृतियों की पाई जाती है और अयोगिकेवली के १३ की। इनका वहां स्थिति व अनुभाव बन्ध न होने से भी वेदना कहां से आता है?

पंडितजी! कर्मसिद्धान्त की व्यवस्था तो यह है कि सब प्रकृतियों की बन्ध और उदयव्युच्छिति एक ही बार व एक ही गुणस्थान में नहीं होती। बांधे हुए कर्म का तत्काल उदय भी नहीं होता। उनके स्थिति बन्धानुसार जब उनका आबाधाकाल समाप्त हो जाता है तभी उदय में आ सकते हैं, और फिर वे अपने उदयव्युक्ति स्थान तक अपना वेदना कराते रहते हैं, चाहे वहां भी भवक बन्ध होता हो और चाहे न होता हो। वेदनीय कर्म की बन्ध व उदय व्यवस्था यह है कि उसका प्रदीप कोड़कोड़ी सागर का उत्कृष्ट स्थितिबंध कम होते-होते सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में उसका सम्बन्ध स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त का होता है। जब जीव इस गुणस्थान से ऊपर जाकर अबन्धक हो जाता है उस समय इसके वेदनीय कर्म का पूर्व संचित स्थितिसत्व अपने अविद्याभावी योग्य अनुभाव सहित असंख्यात वर्ण व प्रमाण होता रहता है जो क्षीणकषाय और सयोगी गुणस्थानों में भी बराबर अपना साता व असातारूपवेदना कराया करता है। सयोगी गुणस्थान में आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर यदि उसका स्थितिसत्व आयुप्रमाण से अधिक शेष रह गया तो केवली समुद्धात द्वारा उसकी स्थिति आयुप्रमाण मानी जाती है। इससे कम उसका स्थितिसत्व कदापि नहीं हो सकता और इसी से अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक उसका साता व असातारूप उदय केवली को भोगना ही पड़ता है। अतएव न्यायाचार्य जी का यह कथन कि 'केवली में बिना स्थितिबंध और अनुभागबंध के सुख और दुःख की वेदना किसी भी प्रकार संभव नहीं है"। सर्वथा कर्मसिद्धान्त के प्रतिकूल है और केवली में साता व असाता कर्मजन्य सुख-दुःख की वेदनायें सिद्धान्त सम्मत है।

(ङ) केवली में सुख-दुःख की वेदनायें सिद्धान्त सम्मत हैं!

पंडित जी की आशंका है कि "केवली के सुख-दुःख की वेदना मानने पर उनके अनन्तसुख नहीं बन सकता।" परन्तु यदि ऐसा होता तो फिर कर्मसिद्धान्त में केवली के साता और असाता वेदनीय कर्म का उदय माना ही क्यों जाता? और यदि सुख-दुःख की वेदना मात्र से किसी जीव के कर्म का घात होता तो वेदनीय कर्म अघातिया क्यों माना जाता? हम ऊपर देख ही चुके हैं कि कि वेदनीय जीव के गुणों की बात तो तभी तक करता है जब तक वह मोहनीय से अनुलिप्त रहता

है। किन्तु अपने अघातिया रूप उदय में भी बढ़ आयु, नाम व गोत्र कर्मों का समान फल देते हुए जीव के गुणों का घात नहीं करता। हम ऊपर राजवार्तिक का मत उद्धृत कर चुके हैं जिसके अनुसार वेदनीय अन्य वेदना ज्ञान दर्शन की विरोधिनी नहीं किन्तु उनकी अनुषंगिनी हैं अतएव सयोगि अयोगि केवलियों का ज्ञान और सुख अन्य अघातिया कर्मों के अतिरिक्त वेदनीय जन्य वेदनाओं से विशिष्ट तो रहता ही है, और यही एक विशेषता नष्टघातिक केवलियों और विनष्ट कर्म सिद्धों के अनुभावन में पाई जाती है। सिद्धों को कोई साता-असाता रूप कर्मफल भोगना शेष नहीं रहा, इससे उनका सुख अव्याबाध कहा जाता है, परन्तु सयोगि-अयोगि केवलियों को अपने साता-असाता कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है और इसी से उनका सुख सिद्धों के समान अव्याबाध नहीं है। धवलाकार सिद्धों और अर्हन्तों में भेद बतलाते हुए कहते हैं—

सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माणः सिद्धाः नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्तः इति तयोर्भेदः। नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदय-सत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्य नाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपातान्यथानुपप त्तः आयुष्वादिशेषकर्मोदयसत्त्वास्तित्वसिद्धे। तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्ष-योन्यात्मकस्य जाति। जरामरणोपलक्षितस्य संसारस्यासत्त्वातेषामात्मयगुणघातन सामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतभेद इति चेन्न आयुध्य-वेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्व-गमन-सुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात्।

(षट् खं० मा० १, पृ० ४६-४७)

अर्थात्—

(१) प्रश्न— सिद्धों और अर्हन्तों में क्या भेद हैं?

उत्तर— सिद्धों के आठों कर्म नष्ट हो गये है, परन्तु अर्हन्तों के केवल चार घातिया कर्म ही नष्ट हुए हैं, यह दोनो में भेद हैं।

(२) प्रश्न— घातिया कर्मों के नाश हो जाने से तो आत्मा के समस्त गुण प्रकट हो जाते है, इसलिये गुणों की अपेक्षा तो दोनों में कोई भेद नहीं रहता?

उत्तर— ऐसा नहीं है, क्योंकि अर्हन्तों में अघातिया कर्मों का उदय और सत्व दोनों पाये जाते हैं।

(३) प्रश्न— ये अघातिया कर्म तो शुक्लध्यानरूपी अग्नि से अधजले हो जाने के कारण होते हुए भी अपना कोई कार्य नहीं कर पाते?

उत्तर— ऐसा भी नहीं है, क्योंकि शरीर के पतन का अभाव अन्यथा सिद्ध ही नहीं होता, अतएव आयु आदि शेष कर्मों का कार्य करना सिद्ध हो

जाता है।

(४) प्रश्न— कर्मों का कार्य तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जरा और मरण से युक्त संसार है जो अर्हन्तों के नहीं पाया जाता, तथा अघातिया कर्म आत्मा के गुणों का घात करने में असमर्थ भी है; अतएव सिद्धों और अर्हन्तों में गुणकृत कोई भेद नहीं पाया जाता?

उत्तर— यह बात नहीं है; क्योंकि जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबंधक आयु कर्म का उद्य और सुख-दुख का प्रतिबन्धक वेदनीयकर्म का उदय अर्हन्तों में पाया जाता है। अतएव अर्हन्तों और सिद्धों में गुणकृत भेद मानना ही पड़ेगा।

वीरसेन स्वामी के इन प्रश्नोत्तरों में सूर्य प्रकाशवत् सुस्पष्ट हो जाता है कि अर्हन्तावस्था में भी वेदनीय कर्म अपने उदयानुसार सुख में बाधा उत्पन्न करता ही है, जिसमें अर्हन्तकेवली भगवान् का सुख सिद्धों के समान अध्याबाध नहीं है।

पार्श्वनाथचरित के रत्नकरण्डक सम्बन्धी उल्लेख की ऊहापोह

७(क) न्यायाचार्य जी का आत्मनिवेदन

पार्श्वनाथचरित के अन्तर्गत देवागम और रत्नकरण्ड के खण्डों की व्याख्या पर आकर न्यायाचार्य जी लिखते हैं कि मुख्तार सा० ने वादिराजसूरि के जिन दो श्लोकों के आधार से अपना उक्त प्रतिपादन किया या वे दोनों श्लोक और उनका उक्त प्रतिपादन उस समय मेरे लिये विशेष विचारणीय थे। एक तो वे दोनों श्लोक उक्त ग्रन्थ में पहचान सहित हैं। दूसरे कुछ विद्वान उससे विरुद्ध भी का विचार रखते हैं। अतएव मैं उस समय कुछ गहरे विचार की आवश्यकता महसूस कर रहा था, और इसलिये न तो मुख्तार साहब के उक्त कथन से सहमत ही हो सका न असहमत और न ही तटस्थ रहा।

पंडित जी के इसी आत्मनिवदेन से सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने अपने पूर्व लेख में जान-बूझकर प्रकृतोपयोगी एक महत्वपूर्ण बात को छिपाया था कि वादिराज के दोनों उल्लेख व्यवधान सहित होने के कारण देवागम और रत्नकरण्ड के एक कर्तृत्व की सिद्धि में साधक नहीं किन्तु बड़े बाधक हैं। वे और भी लिखते हैं कि—'वहां मुझे वादिराज के जितने असंदिग्ध उल्लेख से प्रायोजन था उतने ही को उपस्थित किया, शेष को छोड़ दिया गया। इसके अतिरिक्त एक सच्चे विचार का कोई अच्छा तरीका नहीं है।'' किन्तु यदि न्यायाचार्य जी विचार कर लेंगे तो उन्हें ज्ञात होगा कि यह तरीका सच्चे विचार का नहीं, किन्तु एक घोर पक्षपाती का है। क्या कोई सच्चा विचारक इतना बड़ा उपर्युक्त बाधक प्रमाण

अपने समक्ष रखता हुआ भी अपने लेख में उस पर जरा भी विचार नहीं करेगा, न अपने पाठकों को उसका कुछ भी पता लगने देगा और बार-बार निश्शंक रूप से यह दावा करता चला जायगा कि "वे दोनों एक ही ग्रन्थकार की कृति है और वे हैं स्वामी समन्तभद्र", "अतः यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार और आप्तमीमांसादि के कर्ता एक हैं और वे स्वामी समनतभद्र हैं" तथा "इन सबका कर्ता एक ही है और वे हैं स्वामी समन्तभ्रद।" "प्रकट कर देना चाहता हूँ ताकि दोनों के कर्तृत्व के सम्बन्ध में कोई सन्देह या भ्रम न रहे?" जो लेखक उपर्युक्त उतना बड़ा सन्देह और भ्रम अपने मन में रखता हुआ भी अपने पाठकों को निस्सन्देह और निर्भ्रम बन जाने के लिये ललकारे उसकी बौद्धिक ईमानदारी में कहां तक विश्वास किया जा सकता है? यदि न्यायाचार्य जी अपने उस लेख में यह कह देते कि उक्त समस्या के कारण मैं इस प्रश्न पर 'गहरे विचार की आवश्यकता महसूस कर रहा हूं जैसाकि उन्होंने अब कहा है, तब तो यह माना जा सकता था कि वे निष्पक्ष विचारक हैं और तटस्थ रहना भी जानते हैं। किन्तु उनकी वर्तमान प्रवृत्ति से तो वे न्याय के क्षेत्र में अपने को बड़ा अयोग्य विचारक सिद्ध कर रहे हैं।

(ख) न्यायशास्त्र का दुरुपयोग

मैंने जो यह लिखा था कि "हमने वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित को उठाकर देखा" उस पर भी पंड़ित जी लम्बी टिप्पणी करते हैं कि 'उनकी अन्तिम पंक्ति तो बहुत आपत्ति के योग्य है, क्योंकि उनके इस कथन से यह मालूम होता है कि उन्होंने अपने प्रस्तुत लेख लिखने तक पार्श्वनाथ चरित को उठाकर नहीं देखा था और अब मेरे द्वारा बादिराज सम्बन्धी पार्श्वनाथचरित का उल्लेख प्रस्तुत किये जाने पर ही उसके देखने की ओर आपकी प्रवृत्ति हुई है।" इत्यादि। पंडितजी मुझे क्षमा करेंगे महारथियो, हरिवंश पुराण कर्ता तथा आदिपुराण के कर्ता ने इन्हीं का उल्लेख 'देव' पद द्वारा अपने ग्रंथों में किया है उन्होंने समन्तभद्र का उल्लेख भी किया है, किन्तु उनके उल्लेखों से उनकी ख्याति शब्दशास्त्रकार के रूप में बिलकुल नहीं पाई जाती। आदिपुराण में तो समन्तभद्र का यश, कवि, गमक के, वादी और वाग्मियों में सर्वश्रेष्ठ वर्णन किया गया है, किन्तु उनके किसी व्याकरण जैसे ग्रंथ का वहां कोई संकेत नहीं। इसके विपरीत देवनन्दि पूज्यपाद और उनके शब्दशास्त्र की प्रसिद्धि परम्परा ध्यान देने योग्य है—

(१) जिनसेन अपने हरिवंशुपराण में कहते हैं—

इन्द्र— चन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षणाः।
देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यन्ते गिरः कथम्।।

(२) आदिपुराण में जिनसेनाचार्य ने कहा है—

कवीनां तीर्थकृत् देवः किंतरां तत्रवर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्।।

(३) धनञ्जयने अपनी नाममाला में कहा है—

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमकंटकम्।।

(४) सोमदेव ने अपनी शब्दार्णवचन्द्रिका में कहा है—

अनु पूज्यपाद वैयाकरणाः।

(५) गुणनन्दि ने जैनेन्द्रप्रक्रिया में कहा है—

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
पदेपात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्।।

(६) शुभचन्द्र अपने ज्ञानार्णव में कहते हैं—

अपकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम्।
कलं कर्मगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते।।

(७) पद्मप्रभमलधारिदेव अपनी नियमसार टीका में कहते हैं—

शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे।

(८) शुभचन्द्र कृत पांडवपुराण में पाया जाता है—

पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः।।

ऐसे उल्लेख जैन साहित्य में और भी अनेक हैं।

श्लोक भी—

.....विपश्चिदत्रिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्।

और अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। इस सब उल्लेख माला से निर्विवाद सिद्ध है कि शक संवत् ७०५ से लेकर १५वीं-१६वीं शताब्दी तक देवनन्दि पूज्यपाद और उन के व्याकरण शास्त्र की प्रसिद्धि धाराप्रवाह रूप से अक्षुण्ण बनी रही है। इसी परम्परा के बीच हम शक संवत् ९४७ वादिराज का पार्श्वनाथ-चरितान्तर्गत यह उल्लेख पाते हैं—

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलाम्भिताः।।

इस पद्य को स्वयं मुख्तार सा० ने समाधितंत्र की प्रस्तावना (सन् १९३९) तथा सत्साधुस्मरण मंगल पाठ (सन् १९४४) में पूज्यपाद के लिये ही उद्धृत किया है पार्श्वनाथचरितान्तर्गत उस लम्बी गुर्वावली में उक्त पद्य को छोड़ अन्य कोई

फूज्यपाद का स्मरण करने वाला पद्य नहीं रह जाता जो कि चिन्तनीय है। प्राचीन साहित्यिक परम्परा में वादियों में जो कीर्ति और प्रसिद्धि समन्तभद्र की पाई जाती है वैसी ही कीर्ति देवनन्दि पूज्यपाद की शब्दशास्त्रियों में उपलब्ध होती है। ऐसी अवस्था में केवल वसुनन्दीवृत्ति में 'समन्तभद्रदेव' का उल्लेख मिल जाने मात्र से वादिराज के उस उल्लेख को उक्त समस्त परम्परा के विरुद्ध समन्तभद्रपरक घोषित कर देना अतिसाहस का कार्य है। यह बात मात्र एक अंधपरम्परा सम्बन्धी हठाग्रह के कारण न्यायाचार्य जी के जी को भले ही लगे, किन्तु जब तक वादिराज के समय में समन्तभद्र की देवनाम से प्रसिद्धि और उनके किसी शब्द शास्त्र की भी ख्याति के स्वतंत्र प्रमाण उपस्थित न किये जाये तब तक उनकी यह कल्पना विचारक समाज में कभी ग्राह्य नहीं हो सकती।

(घ) योगीन्द्र का वाच्यार्थ

यह 'देव' सम्बन्धी पद्य का व्यवधान जहां तक उपस्थिति है वहां तक वह तो कभी माना ही नहीं जा सकता कि उसके ऊपर और नीचे के पद्यों में वादिराज ने एक ही आचार्य के दो ग्रंथों का अलग-अलग दो उपनामों के साथ उल्लेख किया होगा। उस पद्य में योगीन्द्र ऐसा गुणवाचक विशेषण भी नहीं है जिसकी कहीं अर्थ में कोई सार्थकता सिद्ध होती हो। वह तो रत्नकरण्डक ग्रंथ के कर्ता का खास ही नाम या उपनाम है जैसे समन्तभद्र का स्वामी। इस परिस्थिति में समन्तभद्र के आराधना कथाकोष के आख्यान में योगीन्द्र कहे जाने पर उनका कथन सिद्ध नहीं होता। मुख्तार सा० तथा न्यायाचार्यजी ने जिस आधार पर 'योगीन्द्र' शब्द का उल्लेख प्रभाचन्द्रकृत स्वीकार कर लिया है वह भी बहुत कच्चा है। उन्होंने जो कुछ उसके लिये प्रमाण दिये हैं उनसे जान पड़ता है कि उक्त दोनों विद्वानों में से किसी एक ने भी अभी तक न प्रभाचन्द्र का कथाकोष स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसी से सुना कि प्रभाचन्द्रकृत कथाकोष में समन्तभद्र के लिये 'योगिन्द्र' शब्द आया है। केवल प्रेमीजी ने कोई बीस वर्ष पूर्व यह लिख भेजा था कि "दोनों कथाओं में कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्त की कथा प्रभाचन्द्र की गद्यकथा का प्रायः पूर्ण अनुवाद है।" उसी के आधार पर आज उक्त दोनों विद्वानों को "यह कहने में कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्र ने भी अपने गद्य कथाकोष में स्वामी समन्तभद्र को 'योगीन्द्र' रूप में उल्लेखित नहीं किया है।" यद्यपि मेरी दृष्टि में उस शब्द का वहां होना न होना कोई महत्व नहीं रखता, क्योंकि उसके होने से भी उक्त परिस्थिति में उससे वादिराज के पद्य में देवागमकार से तात्पर्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। तथापि मुझे यह आश्चर्य अवश्य होता है कि जो विद्वान् दूसरों की

बात-बात पर कठोर न्याय और नुकताचीनी किये बिना नहीं रहते, वे भी पक्षपात की ओर अपने न्याय की बागडोर कितनी ढीली कर लेते हैं।

(ङ) प्रभाचन्द्र का वादिराज से उत्तरकालीनत्व

प्रमाण की कचाई इस कारण और विचारणीय हो जाती है क्योंकि उसी के आधार पर यह दावा किया जाता है कि "स्वामी समन्तभद्र के लिये 'योगीन्द्र' विशेषण के प्रयोग का अनुसन्धान वादिराजसूरि के पार्श्वनाथचरित की रचना से कुछ पहले तक पहुंच जाता है।" न्यायाचार्यजी ने तो यहां तक कह डाला है कि "वादिराज जब प्रभाचन्द्र के उत्तरवर्ती हैं तो यह पूर्णतः संभव है कि उन्होंने प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोष और उनकी रत्नकरण्ड टीका को जिसमें रत्नकरण्ड का कर्ता स्वामी समन्तभद्र को ही बतलाया गया है, अवश्य देखा होगा और इस तरह वादिराज ने स्वामी समन्तभद्र को लक्ष्य (मनःस्थित) करके उनके लिये ही 'योगिन्द्र' पद का प्रयोग किया है।"

यहां फिर मुझे उक्त विद्वानों की शिथिल प्रामाणिकता की शिकायत करनी पड़ती है, क्योंकि जिस आधार पर वे रत्नकरण्ड टीका को पार्श्वनाथचरित से पूर्ववर्ती मान रहे हैं। उसमें उन्हें बड़ी भ्रान्ति हुई है। उनका आधार मुख्तार सा० के शब्दों में यह है कि "प्रभाचन्द्राचार्य धारा के परमार वंशी राजा भोजदेव और उनके उत्तराधिकार जयसिंह नरेश के राज्यकाल में हुए हैं और उनका 'प्रमेयकमल मारण्ड' भोजदेव के राज्यकाल की रचना है, जब कि वादिराज सूरिका पार्श्वनाथ चरित जयसिंह के राज्य में बनकर शक संवत् ९४८ (वि० सं० १०८२) में समाप्त हुआ है।" मुख्तार सा० के इस लेख से मालूम होता है कि वे पार्श्वनाथचरित में उल्लिखित जयसिंह और प्रभाचन्द्र द्वारा उल्लिखित जयसिंह देव को एक ही समझते हैं, और वह भोज का उत्तराधिकारी परमारवंशी नरेश। किन्तु इस बात का उन्होंने जरा भी विचार नहीं किया कि जब वादिराज शक ८४७ (वि० सं० १०८२) में जयसिंह का उल्लेख कर रहे हैं उस समय और उससे भी कोई तीस वर्ष पश्चात् तक धारा के सिंहासन पर तो भोजदेव दिखाई देते हैं और जयसिंह देव का उस समय वहां पता भी नहीं है। बात यह है कि वादिराज के जयसिंह चालुक्यवंशी थे जिसके परमारवंशी राजा भोज को पराजित करने का उल्लेख शक ९४६ के एक लेख में पाया जाता है। प्रभाचन्द्र का न्यायकुमुदचन्द्रोदय भोजदेव के उत्तराधिकारी जयसिंह परमार के काल में रचा गया था और ये नरेश वि० सं० १११२ में व उसके पश्चात् गद्दी पर बैठे थे। रत्नकरण्डटीका में न्यायकुमुदचन्द्रोदय का उल्लेख पाया गया है जिससे उसकी रचना उक्त समय में पश्चात् की मिली होती है। इस

प्रकार पार्श्वनाथचरित की रचना रत्नकरण्ड टीका से कम से कम तीस-पैंतीस वर्ष पूर्ववर्ती सिद्ध होती है। प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदनम, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराण टिप्पणी की अंतिम प्रशस्तियों में कर्ता ने ने अपने गुरु पद्मनन्दि व अपने समर्थ नरेश भोजदेव या जयसिंहदेव का तथा स्थान धारा का उल्लेख किया है। किन्तु रत्नकरण्डटीका में ऐसा कुछ नहीं पाया जाता। इसी से न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार के मतानुसार तो रत्नकरण्डटीका के उन्हीं प्रभाचन्द्रकृत होने की संभावना अभी भी खास तौर से विचारणीय है (न्यायाचार्य भाग २, प्रस्ता० पृ० ६७) प्रभाचन्द्र का गद्यकथा कोष तो जयसिंह देव के समय का बना हुआ है। ऐसी अवस्था में वादिराज के उल्लेख को रत्नकरण्ड टीका व गद्य कथा कोष के पीछे ढकेलने का प्रयत्न सर्वथा भ्रान्त और निराधार है।

(च) प्रभाचन्द्रकृत उल्लेख का सीमा पर विचार

मैंने जो अपने पूर्व लेख में वादिराज के उक्त उल्लेख को पंडित जी द्वारा दबाये जाने का उल्लेख किया था जिसका कि सब रहस्य अब स्वयं पंडित जी ने खोल दिया है, जान पड़ता है उसी का बदला लेने के लिये न्यायाचार्य जी ने मुझ पर यह दोषारोपण किया है कि—'प्रो० सा० ने वादिराज के उक्त उल्लेख पर जहां जोर दिया है वहां प्रभाचन्द्र के मुख्य एवं अभ्रान्त ऐतिहासिक उल्लेख की सर्वथा उपेक्षा की है— उसकी आपने चर्चा तक भी नहीं की है जो कि संभवतः समस्त प्रमाणों में दिनकर प्रकाश की तरह विशद् प्रमाण है और वादिराज से पूर्ववर्ती है। सच पूछा जाये तो आपने इस ज्यादा सुस्पष्ट, ऐतिहासिक प्रमाण को दबाया है और जिसका आपने कोई कारण भी नहीं बतलाया है।''

प्रभाचन्द्र का उल्लेख केवल इतना ही तो है कि रत्नकरण्ड के कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं उन्होंने यह तो कहीं प्रकट किया ही नहीं कि ये ही रत्नकरण्ड के कर्ता आप्तमीमांसा के भी रचयिता हैं। मैंने तो अपने सर्वप्रथम लेख 'इस इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' में ही लिखा था कि रत्नकरण्ड के कर्ता समन्तभद्र के साथ जो स्वामी पद भी जुड़ गया है और पूर्ववर्ती समन्तभद्र के सम्बन्ध की अन्य अध्यायों का सम्पर्क भी बतलाया गया है वह या तो भ्रान्ति के कारण हो सकता है या जान-बूझकर किया गया हो यह भी आश्चर्य नहीं।'' इसके पश्चात् मैंने अपने दूसरे लेख में सूत्र लिखा है कि—''न्यायाचार्य जी ने वादिराज और न्यायचन्द्र सम्बन्धी दो उल्लेख ऐसे दिये हैं जिनसे रत्नकरण्ड श्रावकाचार की रचना ग्यारहवीं शताब्दी में पूर्व की सिद्ध

होती है। किन्तु उसका आप्तमीमांसा के साथ एक महत्व सिद्ध करने के लिये उन्होंने केवल तुलनात्मक वाक्यों का प्रयोग किया है, पर ऐसा कोई ग्रंथोल्लेख पेश नहीं किया है कि मैंने किसी ग्रंथकार द्वारा व स्पष्ट रूप से एक ही कर्ता की कृतियां कही गई हों।"

इसके पश्चात् मैंने उसी लेख में टीकाकार प्रभाचन्द्र कृतग्रंथ के उपान्त्य श्लोक के वाच्यार्थ का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र के उल्लेखों संबंधी न्यायाचार्य जी के भ्रान्तिरूपी अन्धकार को 'दिनकर प्रकाश की तरह' विशदता से दूर करने वाले मेरे इन सब लेखांशों के होते हुए आश्चर्य है पंडितजी ने मुझ पर यह लाछंन कैसे लगा दिया कि मैंने उनके 'वादिराज' से पूर्ववर्ती, ज्यादा सुस्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण को दबाया है'? मैं ऊपर बतला ही चुका हूँ रत्नकरण्ड टीका वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित से पूर्ववर्ती नहीं किन्तु उससे बहुत पीछे की है। उसमें केवल रत्नकरण्ड के कर्ता नाम स्वामी समन्तभद्र पाया जाता है, पर उससे आप्तमीमांसा के साथ एक कर्तृत्व का कोई संकेत नहीं है, जबकि पार्श्वनाथचरित में स्वामीकृत देवागम, और योगीन्द्रकृत रत्नकरण्ड के उल्लेख सुस्पष्टतः अलग-अलग पद्यों में है जिनके बीच देवकृत शब्दशास्त्र सम्बन्धी उल्लेख वाले एक और पद्य का व्यवधान भी पाया जाता है। इस तुलना में यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि प्रभाचन्द्र का उल्लेख ज्यादा सुस्पष्ट या विशद् है। रत्नकरण्डटीका का कोई समय भी अभी तक सुनिश्चित नहीं हो सका है और यह भी अभी सन्देहात्मक है कि उसके कर्ता वे ही प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रंथों के रचयिता है। किन्तु वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित में स्पष्ट उल्लेख है कि उसकी रचना शक ९४७ में हुई थी उसी से पूर्व का कोई एक भी उल्लेख रत्नकरण्ड का नाम लेने वाला उपलब्ध नहीं होता, जिससे रत्नकरण्ड के सम्बन्ध का अभी तक वही प्राचीनतम उल्लेख है और उसके समक्ष रत्नकरण्डटीका का उल्लेख कोई ऐतिहासिकता नहीं रखता क्योंकि; स्वयं न्यायाचार्य ही अपने एक पूर्व लेख में यह मत प्रकट कर चुके हैं कि 'स्वामी' पद कुछ आप्तमीमांसाकार का ही एकान्ततः बोधक नहीं है। समन्तभद्र नाम के तो अनेक आचार्य हुए हैं और अप्रकट भी अनेक हो सकते हैं और किसी लेखक विशेष द्वारा उनके साथ स्वामी पद का भी प्रयोग करना कुछ असाधारण नहीं है। इस प्रकार प्रभाचन्द्र के जिस उल्लेख पर पंडितजी ने इतना जोर दिया है वह न तो सुस्पष्ट है, न अभ्रान्त है और न उसका कोई ऐतिहासिक महत्व है। वह वादिराज से पूर्ववर्ती कदापि नहीं है, प्रकृत विषय पर उसकी प्रमाणता भी आकिंचित्कर

है और मैंने न उसकी उपेक्षा की और न उसे दबाया है, किन्तु उसका उल्लेख भी किया है और निरसन भी।

रत्नकरण्ड के उपान्त्य श्लोक पर विचार

वसुनन्दी वृत्ति मंगल में 'समन्तभद्रदेव' शब्द आया है और कथाकोश के किस्से में समन्तभद्र को योगीन्द्र कहा है, इसलिये वादिराज द्वारा उल्लिखित 'देव' और 'योगीन्द्र' वे ही हैं, प्रभाचन्द्रकृत कथाकोष देखा भी नहीं है फिर भी उसमें योगीन्द्र का उल्लेख माना जा सकता है, वादिराज से कोई तीस-पैंतीस वर्ष पश्चात् लिखे जाने पर भी गद्य कथाकोष वादिराज से पूर्ववर्ती प्रमाण हैं, इत्यादि यह सब तो न्यायाचार्य जी के 'जी को लगता है', किन्तु मैंने जो रत्नकरण्ड के उपान्त्य श्लोक में आये हुए 'वीतकलंक', 'विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' पदों में अकलंक, विद्यानन्दि और सर्वार्थसिद्धि के संकेत का उल्लेख किया था वह उन्हें 'बहुत ही विचित्र कल्पना' प्रतीत हुई है और उसमें उन्होंने दो आपत्तियां उठाई हैं। एक तो यह कि मेरी उक्त बात "किसी भी शास्त्राधार से सिद्ध नहीं होती, इसके लिये आपने कोई शास्त्रप्रमाण प्रस्तुत भी नहीं किया।" किन्तु मेरी उक्त कल्पना कौन से शास्त्राधार व शास्त्रप्रमाण की आवश्यकता पंडितजी को प्रतीत होती है? 'वीतकलंक' और अकलंक सर्वथा पर्यायवाची शब्द बहुधा और विशेषतः श्लेष काव्य में प्रयुक्त किये जाते हैं। उदाहरणार्थ लघु समन्तभद्र ने अकलंक का उल्लेख 'देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणभ्य निजभक्त्या' आदि पद्य में 'अमल' पद द्वारा किया है। यथार्थतः रत्नकरण्ड के उक्त पद्य में जब तक किसी श्लेषात्मक अर्थ की स्वीकृति न की जाय तब तक केवल 'सत्' या 'सम्यक्' अर्थ के लिये 'वीतकलंक' शब्द का प्रयोग कुछ अस्वाभाविक और द्राविडी प्राणायाम सा प्रतीत होता है। विद्यानन्द को 'विद्या' शब्द से व्यक्त किये जाने में तो कोई आपत्ति ही नहीं है। नाम के एक देश में नामोल्लेख करना लौकिक और शास्त्र दोनों में रूढ़ है। पार्श्व से पार्श्वनाथ, राम से रामचन्द्र, देव से देवनन्दि की अर्थव्यक्ति सुप्रसिद्ध है। 'सर्वार्थ सिद्धि' से तन्नामक ग्रंथ के उल्लेख को पहचानने में कौन सी विचित्रता है और उसके लिये किस शास्त्र का आधार अपेक्षित है? इस प्रकार पंडितजी प्रथम आपत्ति में यदि कुछ सार हो तो उसका अब समाधान हो जाना चाहिये। आपकी दूसरी आपत्ति ने प्रश्न का रूप धारण किया है कि "जो आपने श्लोक के 'त्रिषु विष्टपेषु' का श्लेषार्थ 'तीनों स्थलों पर' किया है, कृपया बतलाइये कि वे तीन स्थल कौन से हैं?" मेरा ख्याल था कि वहां तो किसी की कल्पना की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि वहाँ उन्हीं तीन स्थलों की संगति सुस्पष्ट है जो

टीकाकार ने बतला दिये हैं अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र क्योंकि वे तत्वार्थसूत्र में विषय होने से सर्वार्थसिद्धि में तथा अकलंक के और विद्यानन्दि की टीकाओं में विवेचित हैं और उनका ही प्ररूपण रत्नकरण्डकार ने भी किया है। इस प्रकार न्यायाचार्य जी की इस शंका का भी समाधान हो जाता है। और तो कोई आपत्ति उक्त अर्थ में वे बतला नहीं सके। अतएव उक्त श्लोक में अकलंक, विद्यानन्दि और सर्वार्थसिद्धि के उल्लेख ग्रहण करने में कोई बाधा शेष नहीं रह जाती।

९—आप्तमीमांसा सम्मत आप्त का लक्षण

मैंने अपने पूर्व लेखमें अन्ततः जिन तीन बातों पर विचार किया था उनके संबंध में न्यायाचार्य जी की शिकायत है कि मैंने उन्हें "उपसंहार रूप से चलती सी लेख की प्रस्तुत की है।" मालूम नहीं पंडितजी का 'चलती सी लेखनी' से क्या अभिप्राय है? मैंने अपने उक्त लेख में यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि आप्तमीमांसा में क्या 'दोषावरणयोर्हानि' आदि रूप से आप्त का स्वरूप बतलाया गया है उसमें क्षुत्पिपासादि वेदनीयकर्मजन्य वेदनाओं का दोष के भीतर ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसके लिये मैंने जो 'अहिरन्तर्मलक्षयः' 'निर्दोष' व 'विशीर्णदोषाकरपाशबधम्' जैसे पदों को उपस्थित करके यह बतलाया था कि उनसे ग्रंथकार का यह अभिप्राय स्पष्ट है कि वे दोनों द्वारा केवल उन्हीं वृत्तियों का ग्रहण करते हैं जिनका केवल में विनाश हो चुका है। "अब यदि अघातिया कर्म वृत्तियों को भी आप्त संबंधी दोषों में सम्मिलित किया जाये तो केवली में अघातिया कर्मों के भी नाश का प्रसंग भी है जो सर्वसम्मत कर्मसिद्धान्त के विरुद्ध है। अतएव दोनों ही वृत्तियां ग्रहण की जा सकती हैं जो ज्ञानावरण घातिया कर्मों से उत्पन्न होती है एवं जो उन कर्मों के ही केवली में विनष्ट हो चुकी है। स्वयंभूस्तोत्र के 'स्वदोष स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रिम' आदि वाक्य भी ठीक इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि सयोगी केवली जिन दोषों के मूल को भस्म कर सके हैं वे घातिया कर्म ही है, न कि अघातिया कर्म।

मेरे इस समस्त प्रतिपादन पर न्यायाचार्य जी ने कोई ध्यान नहीं दिया। केवल उस पर 'चलतीसी' नज़र डाल कर लिख दिया है कि मैंने वहां "कुछ पद वाक्यों का ही अवलम्बन किया है, जिनमें वस्तुतः 'दोष' शब्द के प्रयोग के अतिरिक्त उसका स्वरूप कुछ भी नहीं बतलाया।" किन्तु उन्होंने यह देखने समझने का प्रयत्न नहीं किया कि मेरे द्वारा वहां प्रस्तुत किया गया समस्त कर्मसिद्धान्त तो उसका स्वरूप बतला रहा है जिस पर विचार करना उन्हें

लाज़मी था। उसकी ओर आंख मीचकर केवल उसे "चलतीसी लक्षणा में प्रस्तुत" कह देने से उसका परिहार कैसे हो गया? न्यायाचार्य जी की इच्छा यह जान पड़ती है कि इस विषय पर मैं अपने विचार और भी कुछ विस्तार से प्रकट करूँ तभी वे उन पर अपना लक्ष्य देना उचित समझेंगे। अस्तु।

आप्तमीमांसा सम्मत आप्त के लक्षण समझने में हमें इस ग्रंथ की प्रथम छह कारिकायें विशेषरूप से सहायक होती हैं। प्रथम और द्वितीय कारिकाओं में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है जो मायावियों और सारंगी देवों में भी पाई जाती है, अतएव वे आप्त के लक्षण में ग्राह्य नहीं। न्यायाचार्य जी के मतानुसार इन्हीं में क्षुत्पिपासादि वेदनाओं के अभावजन्य अतिशय भी सम्मिलित हैं। यदि यह बात ठीक है तो उन्हीं के मतानुसार यह सिद्ध हो जाता है कि ग्रंथकार को उनका अभाव आप्ति के लक्षण में स्वीकृत करना सर्वथा अमान्य है। तीसरी कारिका में तीर्थ स्थापित करना भी आप्त का कोई लक्षण नहीं हो सकता यह स्थापित कर दिया गया। इन वृत्तियों का आप्त के लक्षणों में निषेध करके ग्रंथकार ने अपनी चौथी व पांचवीं कारिका में कहा है कि कोई और आवरण की हानि तर-ताम भाव में पाई जाती है जिसे क्वचित् उनकी निश्शेष हानि भी होना संभव है। और वे किसी को सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ भी सिद्ध हो सकते हैं और इस प्रकार सर्वज्ञ की सिद्धि हो सकती है। सर्वज्ञ की निर्दोषता का फल कारिका छह में यह बताया गया है कि उससे उनके वचन युक्ति-शास्त्र अविरल बंधे हुए किसी प्रमाणसिद्ध बात से बाधित नहीं होते। आप्तमीमंसाकार के इस प्रतिपादन से आप्त के सम्बन्ध में निम्न मान्यताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं—

(१) देवागमनादि विभूतियां, विग्रहादि महोदय तथा तीर्थस्थापन ये आप्त के कोई लक्षण नहीं क्योंकि ये बातें मायावियों, सरागियों एवं परस्पर विरोधियों में भी पाई जाती हैं। न्यायाचार्य के अनुसार क्षुत्पिपासादि का अभाव विग्रहादि महोदय में ही सम्मिलित है, अतएव उनके मत से भी आप्तमीमांसाकार उसे आप्त का कोई लक्षण नहीं स्वीकार करते।

(२) आप्त का लक्षण यह है कि उनमें ऐसी निर्दोषता होना चाहिये जिससे उनके वचन युक्ति शास्त्र-अविरोधी और प्रसिद्धि से बाधित हों। ऐसी निर्दोषता सर्वज्ञ के ही हो सकती है जो सूक्ष्म, आन्तरिक और दूरस्थ पदार्थों को भी अपने प्रत्यक्ष कर सके। ऐसा सर्वज्ञ हो सकता है दोष और आवरण इन दोनों के निश्शेष क्षय से।

(३) आचार्य ने जो 'दोषावरणयोः हानि' से द्विवचन का प्रयोग किया है,

बहुवचन का नहीं उससे जान पड़ता है कि उनकी दृष्टि में एक ही दोष और एक ही आवरण प्रधान है। उनकी उपर्युक्त अपेक्षा पर ध्यान देने से स्पष्ट भी हो जाता है कि वह दोष कौन सा और आवरण कौन सा है? जो हमारी समझदारी में बाधक होता है। वह दोष है अज्ञान और इसको उत्पन्न करने वाला आवरण है ज्ञानावरण कर्म। इन्हीं दो का अभाव होने से सर्वज्ञता की सिद्धि होती है और आप्तता उत्पन्न होती है।

(४) शेष जितनी बातें सर्वज्ञ में अपेक्षित हैं वे ज्ञानावरण के सर्वथा अभाव से सुतरां सिद्ध हो जाती हैं। ज्ञानावरण के साथ दर्शनावरण व अन्तराय कर्म क्षय हो ही जाते हैं और मोहनीय का क्षय उससे पूर्व ही अनिवार्य होता है जिससे उनमें वीतरागता पहले ही आ जाती है। अतएव आप्तमीमांसा ने उनका पृथक् निर्देश करना आवश्यक नहीं समझा।

(५) शेष चार अघातिया कर्मों से उत्पन्न वृत्तियों का आप्त में न केवल अभाव नहीं माना गया, किन्तु उनके सद्भाव का निर्देश पाया जाता है। आप्त में वचन का होना आवश्यक है और वचन बिना शरीर के नहीं हो सकता। यह बात नामकर्माधीन है। शरीर अपनी जीवन-मरण वृत्तियों सहित ही होता है और यह कार्य आयुकर्म के अधीन है। शरीर से स्ववृत्ति का कार्य लिया जाता है जो उच्च गोत्र कर्म से सिद्ध होता है। एवं शरीर के साथ जो क्षुधा, तृषा की बाधा शीत-उष्ण की बाधा आदि दुःख-सुख लगे हुए हैं वे भी आयुकर्म के साथ तक चलने वाले वेदनवीयकर्म के आधीन होने से अनिवार्य हैं। यह बात कारिका ९३ में वीतराग केवली में सुख-दुःख की बाधा के निर्देश से स्वीकार कर ली गई है।

आप्तमीमांसाकार का यह मत है और वह सर्वथा जैन सिद्धान्त सम्मत है। अकलंक विद्यानन्दि आदि टीकाकार जहां तक इन मर्यादाओं के भीतर अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं वहाँ तक तो यह सर्वथा निरापद है किन्तु यदि वे कहीं आप्तमीमांसाकार के निर्देश से बाहर व कर्मसिद्धान्त की सुस्पष्ट व्यवस्थाओं के विपरीत प्रतिपादन करते पाये जाते हैं तो हमें मानना ही पड़ेगा कि वे एक दूसरी ही विचारधारा से प्रभावित हैं जिसका पूर्णतः समीकरण उक्त व्यवस्थाओं से नहीं होता।

१०—उपसंहार

इस पूर्वोक्त समस्त विवेचन से जो वस्तुस्थिति हमारे सन्मुख उपस्थित होती है वह संक्षेपतः निम्न प्रकार हैं—

(१) रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आप्त का तो क्षुत्पिपासादि के अभावरूप

लक्षण किया गया है वह आप्तमीमांसान्तर्गत 'दोषावरणयोर्हानिः' आदि आप्त के लक्षण से मेल नहीं खाता, तथा पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्' आदि ९३वीं कारिका से सर्वथाविरुद्ध पड़ता है, एवं उसकी संगति कर्मसिद्धान्त की व्यवस्थाओं से भी नहीं बैठती जिनके अनुसार केवली के भी वेदनीय कर्मजन्य वेदनायें होती हैं।

(२) रत्नकरण्ड का कोई उल्लेख शक संवत् ९४७ से पूर्व का उपलब्ध नहीं है, तथा उसका आप्तमीमांसा के साथ एक कर्तृत्व बतलाने वाला कोई भी सुप्राचीन उल्लेख नहीं पाया जाता।

(३) रत्नकरण्ड का सर्वप्रथम उल्लेख शक ९४७ में वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित में पाया जाता है। किन्तु यहां वह स्वामी समन्तभद्र कृत न कहा जाकर 'यो·गीन्द्र' कृत कहा गया है एवं उसका उल्लेख स्वामीकृत देना (आप्तमीमांसा) और देवकृत शब्दशास्त्र सम्बंधी पद्यों के पश्चत् पाया जाता है, आप्तमीमांसा के साथ नहीं देवकृत शब्दशास्त्र से हरिवंशपुराण व आदिपुराण आदि ग्रंथों के अनुसार देवनन्दि पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण का ही अभिप्राय सिद्ध होता है और उसके व्यवधान से रत्नकरण्ड आप्तमीमांसाकार कृत कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(४) रत्नकरण्ड के उपान्त्य श्लोक में जो 'वीतकलंक विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' पद आये हैं उनमें 'अकलंक', 'विद्यानन्दि' और 'सर्वार्थसिद्धि टीका का उल्लेख श्लेष रूप में किया गया प्रतीत होता है। बिना ऐसी कोई विवक्षा के उक्त पदों का और विशेषतः सत् या सम्यक् के लिये 'वीतकलंक' पद का ग्रहण किया जाना अस्वाभाविक दिखाई देता है।

इन प्रमाणों से रत्नकरण्डकार पूज्यपाद, अकलंकदेव व विद्यानन्दि आचार्यों के पश्चात् हुए पाये जाते हैं एवं उनका आप्तमीमांसा के कर्ता से एकत्व सिद्ध नहीं होता।

अमरकीर्तिगणि-कृत षट्कर्मोपदेश

ग्रन्थ का विषय नाम ही से स्पष्ट है। इसमें गृहस्थों के लिये नित्य पालने योग्य छह कर्मों का उपदेश दिया गया है। ये छह कर्म हैं देव पूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। इन्हीं का विवरण ग्रन्थ की चौदह सन्धियों में किया गया है। तेरह कडवकों की प्रथम सन्धि को कवि ने षट्-कर्म-निर्णय नाम दिया है। इसमें पूर्वोक्त कवि-परिचय के पश्चात् देव पूजा के हेतु सच्चे देव की परीक्षा की गई है। कवि का कहना है कि 'देव की जब परीक्षा करके पूजा की जायेगी तथी उससे पुण्य होगा; बिना परीक्षा की पूजा से दुर्गति ही बढ़ेगी[१]। 'दृढ़ मिथ्यात्व में फँसे होने के कारण देव की परीक्षा न जानकर मूर्ख सभी को देव मानने लगता है तथा अपने चित्त को एक जगह कहीं भी नहीं लगाता। सब वस्तुओं में विष्णु का वास बताता है, फिर पीछे उन्हीं को लात लगता है। आठ मूर्त पदार्थों में ईश्वर का भाव भाता है और तत्काल ही उनका अविनय करता है। विष्णु को नमस्कार करता है तथा सूकर और मच्छ को मारता है—उन्हें विष्णु की मूर्ति समझकर पाप का विचार नहीं करता[२]। महाराक्षस और भूत जो अशुचि-रूप हैं तथ क्षेत्रपाल, बेताल आदि इनकी सेवा से क्या होना है? ये तो हिंसा के घर हैं और दुष्कर्मों के बांधने वाले हैं। चंडी आदि सब योगिनी मद्यपान और पशुभक्षण करने वाली हैं; उन्हीं निर्दयी योगिनियों को देवता मानकर निर्लज्ज संशय-विद्ध मन से, उनकी वंदना करता है। गौ आदि तिर्यंच जीवों के अङ्गों को सुख से नमस्कार करता है जिनसे पाप का प्रसंग होने वाला है। बड़, पीपल, जामुन, नीम, ऊमर, देहली, दूब, जल, जलचर तथा कंजिनी आदि गृहस्थी के उपकरणों और जीवों के संहार करने वाले आयुधों आदि सभी को देवता मानकर उनको विनय से

---

१. देउ परिक्खिउ पुण्णहं कारणु। अपरिक्खिउ दुग्गइ-वित्थारणु। १, ९, १

२. दिढ-मित्थत्त-सहावारूढउ। तहो परिक्ख अमुणंतउ मूढउ।
सबल वि देव सहावें मंतइ। एक्कहिं कहिं मि ण चित्तु णियत्तइ।
सव्वहिं वत्थुहिं विण्हु पसंसइ। तक्खणि ताहं मि अविणउ दावाई।
विण्हु णवइ सूवरु तिमि मारइ। तहो मुत्तिउ पाविउ ण वियारइ।

नमस्कार करने लगता है। इन नाममात्र के देवताओं का प्रेरा हुआ, मूर्ख गुरुओं द्वारा धोखे में डाला जाकर, भ्रमता फिरता है। जो देव देखा उसी से लग गया; उचित-अनुचित की कुछ खोज ही नहीं करता। जब हाथ में अक्षमाला लेता है तब अपने मन में शंका उत्पन्न करता है कि यह देव नहीं है। जो प्रिया के प्रेम आसक्त है, विषयों में प्रमत्त है, देव होकर भी नाचता फिरता है, जो भयानक है (दारुवणु?), दुराग्रही है, वह शुभ प्रभु कैसे हो सकता है? अवश्य वह लोगों को ठगता है[३]। जो गोपियों के नाम से जाना जाता है उसे लोग पुरुषोत्तम कैसे कहने लगे? जिसका मन एक ग्वालिन के देखने से ही विचलित हो जाये, देवत्य उसके पास भी कैसे फटक सकता है? गौतम ऋषि की भार्या में जिसका मन विस्मित हो गया वही सहस्रनयन सुरपति बन गया? चन्द्र बृहस्पति की भार्या पर आसक्त हो गया, लोगों ने उसे कलंकित मात्र कहकर रहने दिया। यदि देव भी प्रिया व सुतं के मोह में पड़कर मनुष्यों के समान आचरण करते हैं और क्रोधातुर व कामातुर हुए, दुष्कर्मों में लिप्त, संसार में घूमते-फिरते हैं, तो फिर मनुष्यों और देवों में तो कोई अन्तर ही दिखाई नहीं देता? पुण्य का कारण फिर क्या ठहरा? जो स्वयं पापकर्म करते हैं वे दूसरों को कैसे पुण्यकर्म में लगा सकते हैं? जिनके चित्त में सदा संशय विलास कर रही है, उनमें तो कोई वीतराग-गुण दिखाई नहीं देता[४]। इत्यादि।

इस प्रकार मिथ्या देवों का निराकरण करके संधि के शेष भाग में सच्चे देव का निर्णय किया गया है। 'जिसके क्रोध, लोभ, मद, आलस्य, जरा, भय,

---

३ घत्ता— मह-रक्खस-भूवइं, असुइ-सरूवइं, खेत्तवाल-वेयालइं।
कह एयइं देवइं, हुंति असेवइं, दुक्कम्मइं हिंसालइं।।९।।
चंडिय-पमुहउ जोइणि-सारउ। मज्ज-पाण-पसु-कवलण-यारउ।
देवय मणिणवि वंदइ णिग्घिणु। णिधिणाइ संसय-सल्लिय-मणु।
गो-पमुहाइं तिरिक्खइं अंगइं। सुहिण णमंसइ पाव-पसंगइ।।
वहु पिप्पलु जंबू णिंबुंवुरु। देहलि दुव्व-इब्भु जलु जलयरु।
कंजिणि-पमुहइं घर-उवयरणइं। आउहाइं जीवहं संघरणइं।
इय सव्वइं देवइं मण्णंतउ। विणयें णवकारइं विरयंतउ।
णामाहास-देव-मइ-पेरिउ। हिंडइ जड-गुरूहिं अवहेरिउ।
जो जो देउ णियइ तहो लभाइ। जुत्ताजुत्तु किंपि ण हु मग्गइ।
देव ण णियमणि संसउ भावहिं। अक्खमाल जावहिं करुठा वहिं।

४ धता— पिय-पेम्मासत्तउ, विसय-पमत्तउ, देव हविवि जो णच्चइ।
दारुवाणु कथग्गहु, कह सो सुहपहु, लोयहं अवसु पवंचइ।।१०।।
जो गोविहिं णमेहिं वि तक्किउ। सो पुरिसुत्तमु कह नणि कोक्किउ।
गोविहि दंसणि जो वियलिय-मणु। परिभमेइ तहो कहिं-देवत्तणुं।
जो गोत्तम-कलत्त-विंभियमइ। सहसणयणु, संजायउ सुरवइ।

विस्मय आदि दोष नहीं, जिसके न गले में मुंडमाला है, न कर में कपाल है; न कंड में वासुकि है, न सिर पर गंगा है, न त्रिशूल है, न खट्वांग हैं, न धनुष है, न अर्धनारी-रूप शरीर है; जिसके न लीला-विलास हैं, न स्वयं गाता है, न नाचता है न रोष-तोष उपजाता है, न सन्तुष्ट होकर आधे क्षण में राज्य देता और न रुष्ट होकर पकड़ता और मारता; जो केवल जीवों की दया तथा अपने और पराये हित में मग्न है, वहीं देव नमस्कार करने योग्य है। दूसरे देवों के साथ देख परख कर वही वीतराग कहा जा सकता है[५]'।

दूसरी सन्धि से नवमी सन्धि तक कवि ने क्रमशः जल, सुगन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन अष्ट द्रव्यों द्वारा देव-पूजा करने का माहात्म्य बतलाया है, और प्रत्येक के फल के उदाहरणस्वरूप एक-एक कथा दी है। तदनुसार इन सन्धियों को कवि ने क्रमशः (१) जलपूजा कथा वर्णन, (२) गंधपूजा-फल-कथा-वर्णन, (२) अक्षत पूजा-विधान-कथा प्रकाशन, (४) पुष्पपूजा-फल-निर्णय वर्णन, (५) नैवेद्य पूजा-फल-कथा-वर्णन, (६) दीपक-प्रबोधन-पुण्यकथा वर्णन, (७) धूपपूजा-कथा-वर्णन, और (८) फल-पूजा-कथा-वर्णन, नाम दिये हैं। कथायें साधारण प्रचलित व्रत-कथाओं के समान ही हैं, पर कहीं-कहीं इनमें बड़ी रोचक और मर्म की बातें कह दी गई हैं। उदाहरणार्थ अक्षत-पूजा-विधान-कथा में राजा और एक शुकी की बातचीत हुई है। प्रसङ्ग ऐसा है कि राजा के बाग में एक सुन्दर आम का झाड़ था। वहीं एक शुक और शुकी का जोड़ा रहता था। शुकी को गर्भ-समय उस

चंदु विहप्पइ-भज्जासत्तइ। भणिवि कलंकिउ जणि वि गुत्तउ।
देव वि पुणु ज मणुयायारिहिं। वत्तहिं पिय-सुय-मोहुग्गारिहिं।
देव वि जइ कोहाउर कामिय। भवि भमंति दुक्कम्मोहामिय।
ता मणुवहं देवहं वि ण अंतरु। दीसइ पुण्णहेउ काइं मि थिरु।
पावयम्भु जे सइं उप्पायहिं। पुण्णकम्मि किह ते परु लायहिं।
ताहं ण वीयराय-गुणु दीसइ। संसउ जाहं चित्ति णिरु विलसइ।
५ जस्स कोहो ण लोहो ण मोहो मओ। णालसो णो जरा णो पिहा विंभवो।
x x x x x x x x
मुंडमाला गले णो कवालं करे। बासुई णत्थि कण्ठे ण गंगा सिरे।
णो तिसूलं ण खट्टंगयं णो धणू। अद्धणारी णरा दीसए णो तणू।
जो ण लीला-विलासो सयं गायए। णच्चए रोसतोसं सम्प्प[illegible]थए।
देइ रज्जं खणद्धें ण संतुट्ठओ। गिण्हए मारए जो पु[illegible] [illegible]ट्ठओ।
x x x x x x x
धता— जीव-दृयासत्तउ, स-पर-हियत्तउ, सो पुणु देउ णमिज्जइ।
इयरेहिं परिक्खिउ, देवेहिं लक्खिउ वीयराउ पभणिज्जइ।।१२।।

आम के मौर खाने का दोहला उत्पन्न हुआ। यह आम बड़ी सावधानी से रखाया जा रहा था— कोई पक्षी भी उसके पास फटकने नहीं पाता था। तो भी अपने प्रिया के प्रेमवश तोता अपने जीवन क़ो संकट में डाल रोज उस आम की मौर ले आता था। आखिर एक दिन रखवाले ने जाल डालकर इस तोते को फँसा लिया और राजा के सम्मुख उपस्थित किया। राजा मौर के नष्ट होने से बड़े रुष्ट थे, इससे तोते को उन्होंने मार डालने का विचार किया, पर इतने ही में वहाँ वह शुकी आ गिरी और बोली 'राजन् इसने मेरे लिये वह साहस किया था, इसलिये इनकी जान छोड़िये और मुझे दण्ड दीजिये'। राजा ने तोते से पूछा 'रे तोता! तूने समझदार होकर भी ऐसी गलती क्यों की? क्यों तू इस मादरजात के बहकावे में आकर ऐसा अपराध कर बैठा?' इसके उत्तर में तोता तो न बोलने पाया, शुकी बोल उठी—

'हे राजन्, लोग दूसरों पर तो बड़े जल्दी हँसने लगते हैं पर स्वयं अपनी कमजोरी पर ध्यान नहीं देते। अरे, स्त्री के लिये ही तो मनुष्य सब सुखों के देने वाले अपने माता-पिता तक को दूर छोड़ देता है। स्त्री के लिये वह धर्म छोड़कर दिन रात कुकर्म करता है। स्त्री के लिये ही वह समरांगण में भिड़ता, दूसरों को मारता और स्वयं मरता है। स्त्री के लिये तो वह देव, गुरु व सज्जनों तक की निर्लज्ज होकर चोरी कर डालता है। स्त्री के लिये वह कुल-परम्परा को छोड़कर निन्दनीय व्यसनों में पड़ जाता है, और बड़प्पन, सुहृत्ता, प्रसिद्धि, शील आदि गुणों तक को तिलाञ्जलि दे देता है। स्त्री के लिये ही वह अपने ऊपर दूसरों का ऋण चढ़ा लेता है और अपने जीवन को तृण के समान गिनने लगता है। और, हे देव! तुम भी तो अपनी भार्या के लिये जान निछावर करने के लिये तैयार हो गये थे, फिर एक बेचारे पक्षी को आप क्या दोष देते हैं। अपनी प्रिया के मोह में तो बड़े-बड़े विद्वान् भी मूढ़ हो जाते है'।[६]

---

६ ता जंपेइ कीरि णिबइ इत्य संधु लोउ।
परु उवहसइ मुणइ णहु किंपि णियय-गोहु।।
महिलहिं कज्जि सव्व सुक्खयरइं। णरु दूरम्मि चयइ णिय पियरइं।
महिलहिं कज्जि करेइ कुकम्मइं। अहणिसु दूरोसारिथ धम्मइं।
महिलहिं कज्जि भिडइ समरंगणे। परु मारइ मरेइ सइं तक्खणे।
महिलहिं देउ गुरु वि (पुणु) सज्जणु। मूसइ़ चोरु जेम अइणिग्धणु।
महिलहिं कज्जि कुलक्कमु वज्जइ। णिंदियाइ वसणइं पउंजई।
महिलहिं कज्जि गुरुत्तु सुहित्तणु। मुवइ पसिद्धि सीलु विवसत्तणु।
महिलहिं कज्जि चडावइ पररिणु। णिय-जीविउ अवगण्णइ जिह तिणु।
तुहुं मि देव णिय-भज्जा-कारणि। जं जीविउ चएहि तुट्ठउ मणि।
तं़ पक्खिहिं मि दोसु किम दिज्जइ। पिय मोहें विउसु वि मोहिज्जइ।।४, ४।।

तीसरी सन्धि में तपस्या में प्रवृत्त एक सुन्दरी और उसके रूप पर आसक्त एक विद्याधर के भाव और क्रियाओं की विषमता का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

'जैसा-जैसा उस सुन्दरी का ध्यान लगता जाता था, वैसा-वैसा यह विद्याधर उसको अपना रूप बतलाने का प्रयत्न करता था। जैसे-जैसे उसके ध्यान के अन्त होने का लक्षण नहीं दिखता था वैसे-वैसे यह उसके गात्र की ओर घूर-घूर कर देखता था। वह अपने मन में परमाक्षर 'ओं' का चिन्तन कर रही थी, तब यह अपने मन में रतिसुख का विचार कर रहा था। जैसे-जैसे वह अपने शील को सम्हालने में लगती थी वैसे-वैसे ये सविकार मन से देखते थे। वह गुरु के वचनों को छोड़ने के लिये तैयार नहीं थी, ये प्रेम के मारे बेहाल थे। वह अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं करती थी, ये नाना प्रकार के हाव-भाव दिखा रहे थे। वह द्वंद्व-भावना को छोड़ रही थी, ये गिड़गिड़ा कर बोल रहे थे। वह कर्मों के क्षय की भावना भा रही थी, तब ये उसके चारों और चक्कर काट रहे थे। वह भावनाओं में लीन थी तो ये कामबाण से तड़प रहे थे। और जैसे-जैसे वह तत्त्वों के विवेचन में संलग्न होती थी वैसे-वैसे ये हज़रत पृथ्वी पर पड़े अपने आपको भूल रहे थे।'[७]।

ग्रन्थ की दशवीं सन्धि में जिनपूजा पुरंदरविधि-कथा कही गयी हैं, उपवासविधि बतलाई गई है और जिनपूजन व व्रत-उद्यापनविधि का विवरण है। इस सन्धि के साथ षट्कर्मों में से प्रथम देवपूजा का उपदेश समाप्त होता है।

ग्यारहवीं सन्धि में दूसरे और तीसरे गृहस्थकर्म अर्थात् गुरु-उपासना और स्वाध्याय का उपदेश दिया गया है, 'गुरु के उपदेश से ही ज्ञान मिलता है, इसलिये गुरु की सेवा करनी चाहिये; बिना सूर्य-प्रकाश के कहीं लोक के पदार्थ दिखाई देते हैं?[८] गुरु कैसा होना चाहिये? 'जो मन की शंकाओं का निवारण कर

---

७ जह जह झाण किं पि आहासइ। तह तह सो णं मुत्ति पयासइ।
जह जह सा ण झाणु परिसेसइ। तह तह सो तहो गत्तु गवेसइ।
जह जह सा परमक्खरु चिंतइ। तह तह सो रइसुहु मणि चिंतइ।
जह जह सा ससीलु संभालइ। तह तहं सो सवियारु णिहालइ।
जह जह सा गुरु-वयणु ण छंडइ। तह तह सो णेहें अवरुंडइ।
जह जह सा स-पइज्ज ण भंजइ। तह तह सो बहु भाव पउंजइ।
जह जह सा दुविहासा मेल्लइ। तह तह सो सविलक्खु पयोल्लइ।
जह जह सा कम्मक्खउ भावइ। तह तह सो चउपासिउ धावइ।
जह जह सा भावणउ वियप्पइ। तह तह सो सरजालें कंपइ।
जह जह सा पज्जक्खु विवेयइ। तह तह सो महि पडिउ ण चेयई।

८ जाणिज्जइ सा गुरु-कहिय, तेण गहिज्जइ सुगुरु-वासणा।
रवि-उज्जोयइं विणु हवइ, किह लोयम्मि पयत्थ-पयासणा।।११, १।।

सके, शीलवान् हो, शुद्ध निष्ठावान् हो, जिसका चारित्र ही भूषण हो, दूषणों का जिसके त्याग हो, वही गुरु उत्कृष्ट है,।[९] जो इन्द्रियों के विषय-विकारों में भूला हो, वह गुरु तो सच्छिद्र नाव के तुल्य है। मोह, प्रमाद और अहंकार में जो मता हुआ है वह विकलत्र अर्थात् ब्रह्मचारी गुरु कैसे बनाया जा सकता है? गृह, कलत्र, मित्र और संपदा में जो बँधा है वह मोहांध कैसे गुरु होगा? जो मद्य पिये और मांस भोजन करे वह निर्लज्ज कैसे गुरु माना जा सकता है? जो जीवों की रक्षा न करने, न मन में शुद्ध आचार भावे वह पापी गुरु, अन्धों के समान अपने शिष्यों को स्वर्ग के दर्शन कैसे करा सकता है?"[१०]

अतएव उत्कृष्ट गुरु का सदैव विनय करना चाहिये। विनय बड़ा ही अच्छा गुण है—'विनय से बहुत पुण्य होता है और छोटे-बड़े सभी प्रसन्न होते हैं। विनय से देवता आपत्ति का नाश कर देते हैं और दुष्ट भी शान्त हो जाते हैं। विनय से सब विद्यायें सिद्ध होती है, ग्रहों की पीड़ा रुक जाती है, लोक में प्रसिद्धि होती है, लक्ष्मी कभी साथ नहीं छोड़ती। विनयी मनुष्य का सब लोग आदर करते हैं और दुर्जन भी भाई बन जाता हैं विनय से दान, शील, तप सहज ही सधते हैं और कोई शत्रु नहीं बनता। विनय से सब लोग वश में हो जाते हैं। विनय ही एक ऐसा कर्म है जिसका कभी कोई विरोध नहीं करता। विनय सब कल्याणों का करने वाला, और नरकों की दुर्गति को टालने वाला है। परोक्ष विनय का ही फल सुनो। द्रोणाचार्य का विनय एक भील ने किया था जिससे प्रतिदिन धनुर्विद्या का अभ्यास करते-करते उसे शब्द-वेधी बाणकला सिद्ध हो गई थी'।[११]

९ मण-संदेह-णसणो, सील-वासणो, विहिउ-सुद्ध-णिट्ठो।
जो चारित्त-भूसणो, चत्त-दूसणो, सो गुरु वरिट्ठो।।११, १।।

१० इंदिय-विसय-वियारहिं भुल्लउ। सो गुरु वणिय-तरंडहु तल्लउ।
मोह-पमाय-मएहिं पमत्तउ। किह सो गुरु किज्जइ वियलत्तउ।
घर-कलत्त-सुहि-संपय-बद्धउ। किह सो गुरु हवेइ मोहंधउ।
मज्जू पिएइ करइ मंसासणु। किह सो गुरु मण्णिज्जइ णिग्घिणु।
धत्ता— जो जीउ ण रक्खइ पावमई, सुद्धावारु ण णियमणि भावइ।
सो गुरु अंधहं, अंधु जिह, सीसहं केम सग्गु संदावइ।।११, १।।

११ विणउ विसेस-पुराण-उप्पायणु। विणएं रंजिज्जइ लहु-गुरवणु।
विणएं देव वि आवइ णासहिं। विणएं दुट्ठ वि सेस पयासहिं।
विणएं विज्जउ सलय वि सिज्झहिं। विणएं गह-पीडाउ णिरुज्झहिं।
विणएं लोय पसिद्धि पवच्चइ। विणोएं लच्छिव कहव ण मुच्चइ।
विणएं णरवरु होइ कयायरु। विणएं दुज्जणु जायइ भायरु।
विणएं दाणु सीलु तउ सुहयरु। विणएं कोवि ण जायइ तहु परु।
विणएं वसि हवेइ सयलु वि जणु। विणउ इक्कु अविरुद्धउ कम्मणु।
विणउ सथल-कल्लणहं कारणु। विणह णरहं दुग्गइ-विणिवारणु।
धत्ता— णिसुणि परोक्खय-विणय-फलु, दोणायरिउ भिल्ल पणधंतहु।
सद्दें बहु संजाउ तहो, दिणि दिणि धणुहब्भासु कुणंतहो।।११, ३।।

गुरु-उपासना का विषय इस संधि के सात कडवकों में समाप्त होकर आठवें कडवक से स्वाध्याय का उपदेश प्रारम्भ होता है। स्वाध्याय पाँच प्रकार का है, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेज्ञा, आज्ञा और उपदेश। अब कौन सा शास्त्र स्वाध्याय के लिये उपयुक्त गिन जाये? कवि उत्तर देते हैं "जिसमें पूर्वा पर विरोध न हो, दया के बहाने भी पशु के मारने और उसका मांस खाने की बात न हो, जहाँ लोकविरुद्ध आचरण और मलिन क्रियाओं का उपदेश न हो, तथा जहाँ कुदान और कु-परिग्रहण का आदेश न हो और पापों के साधनों की पुष्टि न की गई हो वही आगम सचमुच में सर्वोत्कृष्ट है[१२]। ऐसे आगम का नित्य स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इससे बुद्धि बढ़ती है। बुद्धिहीन मनुष्य की बड़ी दुर्दशा होती है; उसकी सब क्रियाओं का फल उलटा ही होता है "वह धूर्त पिशाचों की मीठी-मीठी बातों में फँस जाता है और फिर भ्रमता फिरता है। वह तीर्थों में भटकता है, पानी में डूबता है तथा काम-क्लेशों द्वारा अपने शरीर को दण्ड देता है। इस प्रकार वह बहुत से त्रस और स्थावर जीवों का घात करता है पर पुण्य हेतु कुछ नहीं साधता। जिस प्रकार कोशे का कीड़ा अपनी ही क्रिया से अपने आपको बंधन में डाल लेता है वैसे ही यह जीव दुष्कर्मों को अपनी ओर आकर्षित करता है"[१३]। इस सन्धि में या आगे की सन्धियों में कोई कथानक नहीं है। इस सन्धि को कवि ने 'गुरूपासना-स्वाध्याय-निर्णय-प्रकाशन' नाम दिया है।

बारहवीं सन्धि में चौथे कर्म 'संयम' का उपदेश है। इसके लिये इन्द्रिय-संयम की सबसे प्रथम आवश्यकता है। "एक ही स्पर्श इन्द्रिय के सुख की लालसा के कारण बन के हाथी को भी दृढ़ बन्धन में पड़कर ताड़नादि दुःख भोगना पड़ता है। रसना इन्द्रिय के लोभ से दुस्तर समुद्र में रहने वाला मत्स्य भी गल-द्वारा फँसा लिया जाता है। घ्राण इन्द्रिय में आसक्त भौंरा कमल के भीतर मरता है, नयन इन्द्रिय के वशीभूत होकर मूढ़ पतंग एक क्षण में दीपक के तेज से भस्म हो जाता

---

१२ पुव्वावर-विरोह-परिचुक्कउ। सो आयभु परमत्थ गुरुक्कउ।
जेत्थु दयाभासे वि ण हम्मइ। पसु तहु कप्पिउ मंसु ण जिम्मइ।
X X X X X X X
जेत्थु ण लोय-विरुद्धायरणइं। पयडिज्जहिं बहु-मल-वित्थरणइ।
जेत्थु ण दुद्दाणइं पडिगाहणु। णवि पोसिज्जइ दुरिय-पसाहणु।।११, ८।।

१३ बुद्धि-हीणु जणु धुत्त-पिसायहिं। गहिलउ हिंडइ किय-सुहिवायहिं।
तित्थइं अवगाहइ जले बुड्डइ। काय-किलेसहिं णिवतणु दंडइ।
तस थावर बहु जीव विरांहइ। पुण्ण-हेउ ण वि काइं उ साहइ।
कोसियारु जिह अप्पउ वेढइ। तिम स जीउ दुक्कम्महु कड्ढइ।।११, ३।।

है, और श्रवण इन्द्रिय के वश में पड़कर गान में आसक्त हुआ हरिण व्याध द्वारा तुरन्त मार डाला जाता है। एक-एक इन्द्रिय के दोष से ये सब जीव इस प्रकार विनष्ट हो जाते हैं; फिर जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियों के सुखों की अभिलाषा करता है; वह तो भव-भव में दुःख सहेगा ही। सर्प, सिंह, हाथी, क्रूरग्रह, रूठे हुए व्यंतर, कुपित नरेश्वर तथा अन्य दुर्जन भी जीव को वह दुःख नहीं दे सकते जो इन्द्रियों के विषय देते हैं। ये तो जीव का एक ही जन्म में विध्वंस कर सकते हैं, किन्तु वे जन्म-जन्मान्तर में भी पिंड नहीं छोड़ते"[१४]।

पर इन्द्रियां बेचारी अपने ही बल पर कुछ नहीं कर सकतीं। "जैसे अन्धा मनुष्य, एक स्थान पर खड़ा, अपने काम की अभिलाषा रखता हुआ भी, बिना दर्शक के कहीं जा नहीं सकता, उसी प्रकार बिना मन के व्यापार के इन्द्रियाँ अतिन्द्रिय विषय सुखों का रस नहीं चख सकतीं। जैसे जड़ कट जाने पर बड़े-बड़े पत्तों वाला वृक्ष, जैसे राजा के बिना चतुरंग सेना, जीव के बिना सारा कलेवर और सम्यक्त्व के बिना व्रतों का विस्तार निरर्थक है, उसी प्रकार मन के बिना ये प्रबल इन्द्रियाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं। पर यह मन ही तो सुख और दुःख के भावों में बँधे हुए त्रैलोक्य के जीवों के लिये बड़ा दुर्जय है। सब को दिखता है कि मन चंचल है, पर जिन देव को छोड़ कर और कोई उसे काबू में नहीं ला सका। तिलोत्तमा को रस से नाचती और हावभाव विभ्रम प्रकट करती हुई देखकर चतुरानन का चित्त भी चलायमान हो गया, ब्रह्मा का भी कामोन्माद बढ़ गया। मन में काम-विकार से संतप्त होकर हरि गोपियों में अनुरक्त हुए भटकने लगे। ऋषि के आश्रम में तरुणी से मोहित मन होकर शिव सौ गुना नाचने लगे और गौतम ऋषि की भार्या में आसक्त होकर इन्द्र का चित्त चल पड़ा और वे सहस्राक्ष बन गये।"[१५] इस दुर्जय मन को ही वश करना बड़ा भारी और सच्चा संयम है।

---

१४ वण-करि फासिंदिय-सुह-गिद्धउ। सहइ बंधु ताडणु दिढबद्धउ।
रसणिंदिय-लुद्धउ दुत्तरि जलि। तिमि बद्धउ गलेण णिब्भर गलि।
घाणिंदिय-रत्तउ इंदिंदिरु। पंकइं मरिवि जाउ सब सक्करु।
णयणिंदिय-वसेण खणि दूड्ढउ। सलहु दीव-तेएण विमूढउ।
सवणिंदिय-वसु गेयासत्तउ। वहि मारिठ हरिणु तुरंतउ।
इक्केफहं इंदियहं वि दोसे। इय ससल वि विणट्ढ कयतोसें।
जो णरु पंचेंदिय-सुढ-लालसु। दुक्खु सहइ सो भवि-भवि सालसु।
तं ण दुक्खु फणि केसरि कुंजर। कूरग्गह सरोस तह विंतर।
कुविय णरेसर अवर वि दुज्जण। एय-जम्म-विद्धंसण-कियमण।
जीवहु दिंति विसय जं भवि-भवि। उप्परणइं सरीर तह णवि-णवि।।१२, १।।

१५ अंधु जेम आयट्टइं वज्जिउ ठाणठिओ। अच्छइ चलणहु सक्कइ जइ वि सक्ज्ज-पिओ।
मण-वावार-विमुक्कइं तिह पुण इंदियइं। विसय-सुक्खु ण विवाणइं अवसु अतिंदिवइं।।

इसके पश्चात् दयाधर्म की प्रशंसा और उसके पालन का उपदेश है। फिर सात मिथ्यात्वों के उल्लेख और उनके त्याग के उपदेश, तथा सम्यक्तव के व मूल गुणों के धारण की प्रेरणा के साथ संधि समाप्त होती है। इस संधि का नाम कवि ने 'सम्यक्त्व-शुद्धि-प्रकाशन' रक्खा है।

तेरहवीं सन्धि में भी संयम का उपदेश चालू है। यहां अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील और अपरिग्रह इन पांच अणुव्रतों का दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थ-दण्ड-व्रत इन तीन गुण व्रतों का, तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और अतिथि संविभाग इन चार शिक्षाव्रतों का, और फिर निशिभोजन त्याग का उपदेश है। निशिभोजन त्याग को कवि ने व्रतों का सार कहा है और इस पर उन्होंने बड़ा जोर दिया है। जो इसे पालन नहीं करते उन पर इस जन्म और अगले जन्म में बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ आती हैं, पुत्र कलत्रादि सब दुराचारी हो जाते हैं, तथा जो इसे पालते हैं उनके सुखों का पारावार नहीं है, ऐसा कहा है। फिर मौनव्रत का उपदेश है। मल-मूत्रोत्सर्ग, भोजन, स्नान व देववन्दन क्रियाओं में मौन रखना चाहिये। इसके पश्चात् समाधिमरण के उपदेश के साथ सन्धि समाप्त होती है और संयम कर्म का उपदेश पूरा होता है। इस सन्धि को कवि ने 'संयम कर्म' कहा है।

अन्त की चौदहवीं सन्धि में तप और दान कर्मों का उपदेश है। तब बाह्य और अभयन्तर रूप से दो प्रकार का है और प्रत्येक के छह-छह भेद हैं, इस प्रकार तप बारह प्रकार का है। बाह्य तप के अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश तथ आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान भेद हैं। इनका वर्णन प्रथम आठ कडवकों में समाप्त होकर छठवें अन्तिम कर्म दान

छिण्ण-मूलु जिह तरु वड्ढिय-दलु। णिवइ-हीणु जिह चउरंगु वि बलु।
विणु जीवें जिह सतत्र कलेवरु। विणु सम्मत्तें जिह वच-वित्थरु।
तिह मण-वज्जियाइं सुसमत्थइं। पंचेंदियइं हवेइं णिरत्थइं।
मणु दुज्जेउ हवइ तिलयत्थहं। जीवहं सुह-दुह-भावात्थहं।
मणु चंचलु इह सव्वहं दीसइ। जिण मुएवि अण्णहं कहु सीसइ।
णियेवि तिलोत्तम सरसु णडंतिय। बिब्भम हाव भाव पयडंतिय।
चलिय-चित्तु चउराणणु जायउ। बंभु पवड्ढिय-कामुम्भायउ।
मणि मणसिय-वियार-संतत्तउ। हरि हिंडइ गोविहिं अणुरत्तउ।
रिसि आसम मोहिय तरुणिहिं मणु। हरु दारुयणु पणच्चिउ सयगुणु।
गोत्तम-रिसि-भज्जहिं आसत्तउ। हरि सहसक्खु जाउ चल-चित्तउ।।१२, २।।

का उपदेश प्रारम्भ होता है। दान का माहात्म्य बड़ा भारी है—"वह गृहस्थधर्म का सार कहा गया है। दान से पापों की अवधि टलती है तथा ऋद्धि और पुण्य उत्पन्न होते हैं। दान सब कल्याणों का भाजन है, दोनों लोकों को हिला देनेवाली शक्ति है, भोगभूति के सुखों का विस्तार बढ़ाने वाला है, लोक का अद्‌भुत वशीकरण है और गौरव का हेतु है। दान जाति और कुल के नाम को जगा देता है, सुपात्रों से संयोग जोड़ देता है, दुर्गति का समूल नाश कर देता है और शुभगति को सामने ला देता है। एक दान से ही सज्जनता का पोषण होता है और वैरी का भी मन संतुष्ट हो जाता है। दान कामधेनु है, कल्पवृक्ष है, चिन्तित फल देने वाला चिन्तामणि है। दान स्पष्ट फल देने वाला सिद्धमंत्र है और पाप के मेल को धोने के लिये बीजाक्षर है"[१६]। यह दान आहार, औषधि, अभय और शास्त्र ऐसा चार प्रकार से सुपात्र और कुपात्र का विवेक करके देना चाहिये।

ग्रन्थ को पूरा करते हुए कवि ने उक्त छह कर्मों की महिमा गाई है—"इन छह कर्मों से ही श्रावक की पहचान होती है, दिन भर के किये हुए पाप विलीन हो जाते हैं, सम्यक्त्व की शुद्धि होती है, गृहस्थी के काम काज से चित्त को कुछ विश्रान्ति मिलती है, जैनधर्म जाना जाता है, नर-जन्म में गणना होती है, उपसर्ग आने से रुकते है, ऋद्धि आने में चूकती नहीं, दुष्कर्म टूट जाते हैं, प्रमाद छूट जाता है, मन में शक्ति उत्पन्न हो जाती है, स्वर्गगति मिलती है, लोक में प्रसिद्धि होती है, त्रिभुवन में हलचल हो जाती है, बड़े-बड़े पुरुष वशीभूत हो जाते हैं, देव भी आज्ञाकारी बन जाते हैं, सब वाञ्छाएँ पूरी होती हैं, देव दुंदुभि बजाते हैं, केवल ज्ञान

---

१६ दाणु कहिउ गिह-धम्महं सारउ। दाणु होइ दुरियावहि-वारउ।
दाणु परिद्धि-पुण्ण-उप्पायणु। दाणु सयन-कबागहं भायणु।
दाणु तिलोयहं खोहहु कारणु। दाणु भोय-महि-सुह-वित्थारणु।
दाणु लोय-वसियरणु णिरुत्तउ। दाणु गुरुत्तहि हेउ पउत्तउ।
दाणु जाइ-कुल-णमुज्जोयणु। दाणु सुपत्त-संग-संयोजणु।
दाणु होइ दुग्गइ-णिण्णसणु। दाणु अवसु सुहगइ-उब्भासणु।
दाणु इक्कु सुयणत्तणु पोसइ। दाणु वि वइरिय-मणु संतोसइ।
दाणु वि कामधेणु सुरवर-तरु। दाणु वि चिंतामणि चिंतिययरु।
दाणु वि सिद्धमंतु पयडिय-फलु। दाणु वि वीयक्खरु हयकलिमलु।।१४, ९।।

१७ छक्कम्महिं सावहु जाणिज्जइ। छक्कम्महिं दिणि दुरिउ विलिज्जइ।
छक्कम्महिं सम्मत्तु विसुज्झइ। छक्कम्महिं घरकम्मु णिरुज्झइ।
छक्कम्महिं जिणधम्मु मुणिज्जइ। छक्कम्महिं णरजम्मु गणिज्जइ।
छक्कम्महिं उवसग्गु ण ढुक्कइ। छक्कम्महिं रिद्धिहिं ण वि चुक्कइ।
छक्कम्महिं दुक्कम्मइ तुट्टहिं। छक्कम्महिं पमाय विहट्टहिं।

उत्पन्न होता है और अविचल सुख की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य निःशल्यमन और संसार की बाधाओं से विरक्त होकर षट्कर्म का पालन करेगा वह स्थिर दृष्टि से उसी मोक्षमार्ग का दर्शन पा जायेगा जिसे जिनेश्वर भगवान् ने ही देख पाया है।"[१७]

इस प्रकार यह अमरकीर्तगणि का षट्कर्मोपदेश पूरा होता है। यहाँ जो विवरण दिया गया है उससे ग्रन्थ के विषय का, कर्ता की भाषा-शैली का तथा काव्य के गुणों का परिचय पाठकों को मिल जायगा। ग्रन्थ के कर्ता काष्ठा संघ के थे, पर ग्रन्थ भर में ऐसी कोई बात कम से कम मेरी दृष्टि में नहीं आई जो दूसरे किसी भी संघ के अनुयायी को अग्राह्य हो। पूजा के अष्ट द्रव्यों का क्रम तक कर्ता ने सर्वमान्यतानुसार ही रक्खा है। ग्रन्थ उद्धार के योग्य है। इति शभम्।

छक्कम्महिं पसत्ति मणि जम्मइ। छक्कम्महिं सुरणयरिहि गम्मइ।
छक्कम्महिं पसिद्धि जणे लब्भइ। छक्कम्महिं तिहुवणु खणि खुब्भइ।
छक्कम्महिं वसि जायइं णरवर। छक्कम्महिं देव वि आणायर।
छक्कम्महिं वंछिउ संपज्जइ। छक्कम्महिं सुरदुंदुहि वज्जइ।
छक्कम्महिं उप्पज्जइ केवलु। छक्कम्महिं लब्भइ सुहु अवियलु।
घत्ता— छक्कम्मइं जो णरु सल्लमणु, भविउ भवाहि-विवज्जिउ पालइ।
सो जिण्णाहे दीसियउ, मोक्ख-मग्गु थिर-दिट्ठि णिहालइ।।१४, १७।।

प्राकृत पंचसंग्रह का रचना-काल

प्राचीन जैन साहित्य का बहुभाग अभी भी अंधकार में है। हर्ष की बात है कि अब धीरे-धीरे अनेक प्राचीन ग्रंथ प्रकाश में आ रहे हैं। अनेकान्त वर्ष ३ कि० पृ० २५६ पर पं० परमानन्दजी शास्त्री ने अब तक अज्ञात एक 'अति प्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह' का परिचय प्रकाशित किया है। इसकी जो प्रति लेखक को उपलब्ध हुई वह सं० १५२७ में टंवक नगर में माघ बदी ३ गुरुवार को लिखी गई थी और उसकी पत्र संख्या ६२ है। ग्रन्थ में प्रशस्ति आदि कुछ नहीं है अतः उस पर से उसके कर्ता व समय का कोई ज्ञान नहीं होता। किन्तु इस ग्रन्थ में बहुत सी ऐसी गाथाएँ पाई गई हैं जो धवला में भी उद्धृत पाई जाती हैं। इस पर से उक्त परिचय के लेखन के यह निर्णय किया है कि ''आचार्य वीरसेन के सामने 'पंच संग्रह' जरूर था। इसी से उन्होंने उसकी उक्त गाथाओं को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। आचार्य वीरसेन ने अपनी धवला टीका शक सं० ७३८ (विक्रम सं० ८७३) में पूर्ण की है। अतः यह निश्चित है कि पंचसंग्रह इससे पहले का बना हुआ है।'' यही नहीं, पंचसंग्रह में एक गाथा ऐसी भी है जो आचार्य कुन्दकुन्द के 'चरित्र प्राभृत' में भी उपलब्ध होती है। इससे लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'बहुत सम्भव है आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचसंग्रह से उद्धृत की हो और यह भी सम्भव है कि चरित्र प्राभृत से पंचसंग्रहकार ने उठाकर रक्खी हो। परन्तु बिना किसी विशेष प्रमाण के अभी इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, तो भी इससे इतना तो ध्वनित है कि पंचसंग्रह की रचना कुन्दकुन्द से पहले या कुछ थोड़े समय बाद ही हुई होगी''। पंचसंग्रह की एक गाथा सर्वार्थसिद्धि वृत्ति में भी पाई जाती है। जिस पर से लेखक के मत से ''स्पष्ट है कि पंचसंग्रह पूज्यपाद से पहले का बना हुआ है''।

पंचसंग्रह में तीन गाथाएँ ऐसी भी हैं जो जयधवलाके मूलाधार गुणधर आचार्य कृत कषायप्राभृत में भी पाई जाती हैं किन्तु यहाँ लेखक ने यह अनुमान किया है कि ''उक्त तीनों गाथाएँ कषायप्राभृत की ही हैं और उसी पर से पंचसंग्रह में उठाकर रक्खी गई हैं।''

हमारे सामने उपर्युक्त पं० परमानन्दजी के लेख के अतिरिक्त पंचसंग्रह की प्रति आदि कोई सामग्री ऐसी नहीं है जिस पर से हम उक्त ग्रन्थ के निर्माण काल का कोई अनुमान लगा सकें। किन्तु उपर्युक्त प्रमाणों पर से लेखक ने जो उस ग्रंथ को वीरसेन व पूज्यपाद देवनन्दी से पूर्व कालीन रचना सिद्ध की है वह युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि यह अनिवार्य नहीं कि वीरसेन व पूज्यपाद ने इसी संग्रह पर से वे गाथाएँ उद्धृत की हों। जैसा कुन्दकुन्द की रचनाओं में उसकी एक गाथा पाये जाने से लेखक ने केवल यह अनुमान किया है कि दोनों में से कोई भी आगे-पीछे की हो सकती है, वैसा वीरसेन व पूज्यपाद के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। पंचसंग्रह को कुन्दकुन्द से पीछे की मानने पर उसे कुछ बाद का ही क्यों माना जाय। सो भी समझ में नहीं आता। चारित्र-पाहुड से उद्धरण तो तब से लगाकार अबतक कभी भी किया जा सकता है।

यदि कहा जाय कि वीरसेन व पूज्यपाद ने अपनी टीकाओं में वे गाथाएँ स्पष्टतः उद्धृत की हैं, किन्तु पंचसंग्रह में वे बिना ऐसी किसी संकेत के आई हैं इस कारण वे पंचसंग्रहकार की मूल रचना ही समझी जानी चाहिये तो यह भी युक्ति संगत नहीं होगा। गोम्मटसार में भी वे सैकड़ों गाथाएँ बिना किसी उद्धरण की सूचना के आई हैं जो धवला में 'उक्त च' रूप में पाई जाती हैं और यदि हमें गोम्मटसार के कर्ता के समय का ज्ञान नहीं होता तो संभवतः उक्त तर्क सरणि से उसके विषय में भी यही कहा जा सकता था कि उसी पर से धवलकार ने उन्हें उद्धृत किया है। अतः गोम्मटसार पहले की रचना है। किन्तु हम प्रमाणिकता से जानते हैं कि गोम्मटसार में ही वे धवला से संग्रह की गई हैं। इसी प्रकार यह असम्भव नहीं है कि पंचसंग्रहकार ने ही उन्हें गुणधर आचार्य, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद वीरसेन आदि आचार्यों की रचना पर से ही संग्रह किया हो। यह भी हो सकता है कि पूज्यपाद व वीरसेन तथा पंचसंग्रहकार ने उन्हें किसी अन्य ही ग्रन्थ से उद्धृत किया हो। ऐसी अवस्था में अभी केवल समान गाथाओं के पाये जाने से पंचसंग्रह को वीरसेन व पूज्यपाद से निश्चयतः पूर्ववर्ती कदापि नहीं कह सकते। संग्रहकार के समय निर्णय के लिये कोई अन्य ही प्रबल व स्वतंत्र प्रमाणों की आवश्यकता है। विशेषकर जब कि ग्रंथकार स्वयं ही अपनी रचना को 'संग्रह' कह रहे हैं तब सम्भव तो यही जान पड़ता है कि वह बहुतायत से अन्य ग्रन्थों पर से संग्रह की गई है। ये 'सार' या 'संग्रह' ग्रंथ प्रायः इसी प्रकार तैयार होते हैं। उनमें कर्ता की निजी पूंजी बहुत कम हुआ

करती है। आश्चर्य नहीं जो उक्त पंचसंग्रह धवला से पीछे की रचना हो। उसका सिद्धान्त-ग्रंथ से कुछ सम्बन्ध होने के कारण गोम्मटसार के समकालीन होने की सम्भावना की जा सकती है।

श्रुतकीर्ति और उनकी धर्मपरीक्षा

धर्मपरीक्षा नामक ग्रंथ के सम्बन्ध में अभी तक जो कुछ ज्ञात हो सका है—प्रकाशित व अप्रकाशित—उस सबका उल्लेख डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ जी उपाध्ये ने अपने 'हरिषेण-कृत अपभ्रंश धर्मपरीक्षा (Harishena's Dharmapariksha in Apabhramsa's) शीर्षक लेख में कर दिया है, और उनका यह लेख भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट की त्रैमासिक पत्रिका के रजत जयन्ती अंक (Silver Jubilee Number of the Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, Vol. XXIII, 1942) में प्रकाशित हो चुका है। किन्तु इस लेख में जिस धर्मपरीक्षा शीर्षक काव्य का परिचय दे रहा हूं वह उपाध्ये जी के उक्त लेख में सूचित नहीं है, क्योंकि अभी तक की किन्हीं ग्रंथ-सूचियों में उसका उल्लेख नहीं पाया जाता। मैं स्वयं भी इस ग्रंथ का नाम किन्हीं अप्रकाशित ग्रंथों की भंडार सूचियों में नहीं देखा पाया, और न किसी अन्य लेखक ने अभी तक इसका, जहां तक मुझे ज्ञात है, कोई उल्लेख किया। अतः यह ग्रंथ एक सर्वथा नई खोज कहा जा सकता है।

धर्मपरीक्षा की प्रस्तुत हस्तलिखित प्राचीन प्रति अपभ्रंश ग्रंथों की खोज के समय मेरी दृष्टि में आई और इस समय मेरे पास है। इस प्रति में ९८ (अंठान्नवे) पत्र हैं। प्रथम पत्र तथा अन्त के कुछ पत्र अप्राप्त हैं। ९८वें पत्र के अन्त तक सातवीं संधिका सातवां कडवक चला है जो पूरा नहीं हो पाया। उस पत्र पर के अन्तिम शब्द है :—

'घत्ता।। णियकट्टु....................'

प्रथम पत्र के न मिलने से ग्रंथ के प्रारम्भ का प्रथम कडवक अलभ्य हो गया है केवल उसकी अन्तिम तुकबन्दी और उसके ऊपर की तुकबन्दी का अन्तिम शब्द 'लोयपियारउ' ही दूसरे पत्र पर आने के कारण मिल सके हैं। प्रथम कडवक के इस उपलभ्य अंश पर से केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि उस कडवक में धर्म की प्रशंसा और उसकी

---

* इस विषय का निबन्ध अंग्रेजी में अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन ने १५हवें अधिवेशन के समय प्राकृत और जैनधर्म विभाग के सम्मुख बम्बई में सन् १९४९ नवम्बर में पढ़ा गया था।

अवहेलना करने वालों की निन्दा की गई होगी। कवि ने आगे चलकर कहा है कि पहले भरत क्षेत्र में धर्म का उपदेश जिनेन्द्र भगवान ऋषभदेव ने दिया था, और उसी का उपदेश इस काल में वीरनाथ भगवान ने किया। तत्पश्चात् धर्म के द्वारा प्राप्य सुख का वर्णन है। फिर लोक के अनन्त जीवों और उनके दुखों का वर्णन किया गया है। इन दुखों से जिस धर्म के द्वारा उद्धार हो सकता है उसकी आचार्य-परम्परा बतलाई गई है। इसी धर्म को एक खेचर (विद्याधर) ने सुना और उसने अपने मित्र के कल्याण के लिए उसे सुनाया। इस प्रकार काव्य की मुख्य कथा प्रथम सन्धि के पांचवें कडवक के मध्य में प्रारम्भ होती है। और मूर्खों के दश प्रकारों में से चार के वर्णन के साथ प्रथम सन्धि समाप्त होती है। द्वितीय सन्धि मूर्ख के पांचवें प्रकार से प्रारम्भ होकर छायां और अग्नि की कथा के साथ समाप्त होती है और उसी के साथ दूसरी सभा भी समाप्त हो जाती है। तीसरी सन्धि के साथ तृतीय सभा प्रारम्भ होती है। कमण्डल की कथा और उसका पुराणों के आख्यानों द्वारा समर्थन इस सन्धि के सोलहवें कडवक तक चलता है। वहां से फिर जैनशासन सार लोक का वर्णन प्रारम्भ होकर चौथी सन्धि के अन्त तक चला जाता है। चौथी सन्धि का नाम भी 'लोकसरूववण्णणो' दिया गया है। कथा का क्रम पांचवीं सन्धि में फिर उठाया गया है जबकि मनोवेग तापस के वेष में उपस्थित हुआ और चौथी सभा प्रारम्भ हुई। यह सभा संधि के चौदहवें कडवक पर समाप्त होती है। शेष सन्धि में पांचवीं सभा का वर्णन किया गया है, और इस सन्धि का नाम, 'पंचमसालाजयवण्णणो' दिया गया है। छठी सन्धि में अन्तिम सभा का वर्णन है। सातवीं सन्धि के प्रारम्भ में पवनवेगने यह प्रश्न उठाया कि वेदों के रचयिता कौन हैं? प्रस्तुत प्रति में इस सातवीं सन्धि के केवल प्रथम सात ही कडवक सुरिक्षत हैं, जिनमें ब्राह्मणों के भ्रष्ट चारित्र हो जाने पर उनके द्वारा एक दलदल में फंसे भैंसे के ऊपर चढ़कर उसके मार डाले जाने का उल्लेख है। मरकर वह भैंसा एक असुर हुआ।

यह कथानक हरिषेण-कृत धर्मपरीक्षा में दशवीं सन्धि के छठे कडवक तक पाया जाता है। तत्पश्चात् उसी सन्धि में ग्यारह कडवक और है, और फिर ग्यारहवीं सन्धि में सत्ताइस कडवकों की रचना है, जिनमें श्रावकधर्म का उपदेश दिया गया है। यह भाग श्रुतकीर्ति की की धर्मपरीक्षा की प्रस्तुत प्रति से विच्छिन्न हो गया है। संभवतः वह सातवीं सन्धि में ही पूरा हो गया होगा।

इस प्रति में सन्धि-अनुसार कडवकों की संख्या निम्न प्रकार है :—

संधि— १ २ ३ ४ ५ ६ ७

कडवक— २५ ३३ ३० ३८ २६ २० ७ +.....?

= १७९+

ग्रंथ की प्रत्येक संधि के अन्त में कवि ने अपना नाम श्रुतकीर्ति और अपने गुरु का नाम त्रिभुवनकीर्ति अंकित किया है। किन्तु कवि का और कोई परिचय इस ग्रंथ में उपलभ्य नहीं है। पंडित नाथूरामजी प्रेमी कृत 'दिगम्बर जैन ग्रंथ कर्ता और उनके ग्रंथ' नामक सूची में मुझे श्रुतकीर्ति के आगे उनकी तीन रचनाओं के नाम मिले—हरिवंशपुराण, (प्रा०) गोम्मटसार-टीका और गोम्मटसार-टिप्पण। श्रुतकीर्ति-कृत हरिवंशपुराण की एक प्रति जैनसिद्धान्तभवन, आरा में सुरक्षित है। यह ग्रंथ भी अपभ्रंश भाषा में है और उसके अन्त में कवि का परिचय निम्न प्रकार पाया जाता है—

पंचकाल-चलण-पढमिल्लइं।
तह उवण्ण आयरिय महत्लइं।।१।।
कुंदकुंदगणिणा अणुकम्मइं।
जायइं मुणिगण विविह सहम्मइं।।२।।
गणबलत वाबेसरिगच्छइं।
णंदिसव मणहर मइसच्छइं।।३।।
पहाचंद गणिण सुदपु णइं।
पोमणंदि तह पट्ट-उवण्णइं।।४।।
पुण सुभवंददेव कमजापइं।
गणि जिणचंद तहय विक्खायइ।।५।।
विज्जाणदि कमेण उवण्णइं।
सीलवत बहुगुण सुदपुण्णइं।।६।।
पोमपदि सिसकमिण ति जायइं।
मालवदेसे धम्म-सुपयासणु।
मुणिदेविंदकित्ति पिउभासणु।।८।।
तह सिसु अमियवाणि गुणधारउ।
तिहुवणकित्ति पजोहगसारउ।।९।।
तह सिसु सुद्दकित्ति गुरुभतउ।
जेहिं हरिवंसपुराणु पउत्तउ।।१०।।

मच्छरउज्झिउ बुद्धिविहीणउ।
पुव्वायरिहिं वयण-पयलोणउ।।११।।
अप्पबुद्धि बहुदोसु एलिव्वउ।
जं असुद्धतं सुद्धु करिव्वउ।।१२।।
एयहु सयलगंथसुपमाणहु।
तेरसद्धसहसइं बुह जाणहु।।१३।।
संवतु विक्कमसेण-णरेसहं।
सहसु पंचसय बावण सेसहं।।१४।।
मंडवगडुवर मालवदेसइं।
साहि गयासु पयाव असेसइं।।१५।।
णयर-जेरहद जिणहरु चंगउ।
णेमिणाहजिणबिंबु अभंगउ।।१६।।
गंथु सउण्णु तत्थ इहु जायउ।
जउविहु संसुणि सुणि अणुरायउ।।१७।।
माधकिण्ह पंचमि ससिवारइं।
हत्थ णखत्त समत्तु गुणालइं।।१८।।
गंथु सउण्णु जाउ सुपवित्तउ।
कम्मक्खयणिमितजउत्तउ।।१९।।

(प्रशस्ति-संग्रह : पं० के० भुजबलि शास्त्री, पृ० १५२)

इस प्रशस्ति से हमें निम्न बातें ज्ञात होती हैं :—

(१) नन्दिसंघ-कुन्दकुन्दाम्नाय में श्रुतकीर्ति हुए जिनकी गुरुशिष्य-परम्परा इस प्रकार थी— प्रभाचन्द्रगणि, पद्मनन्दि (प्र०), शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, विद्यानन्दि, पद्मनन्दि (द्वि०) देवेन्द्रकीर्ति, त्रिभुवनकीर्ति, श्रुतकीर्ति।

(२) श्रुतकीर्ति ने अपभ्रंश हरिवंशपुराण की रचना माघ-कृष्ण-पंचमी, सोमवार, विक्रमसंवत् १५५२ में हस्तनक्षत्र के समय समाप्त की।

(३) श्रुतकीर्ति हरिवंशपुराण की पूर्ति मालवदेश के 'जेरहद' नगर के नेमिनाथ जैन मन्दिर में बैठकर की और उस समय मालवा की राजधानी मांडवगढ़ थी और वहां ग्यासुद्दीन राज्य करता था।

इतिहास से हमें भली-भांति ज्ञात है कि सन् १४०६ में मालवा के सूबेदार दिलावरखां को उसके पुत्र अलफखां ने विष देकर मार डाला और मालवा को स्वतन्त्र घोषित करके वह स्वयं राजसिंहासन पर बैठा। उसने हुशंगशाह की

उपाधि धारण की और मांडवगढ़ को खूब मजबूत बनाकर उसे ही अपनी राजधानी बनाई। उसी के वंश में शाह ग्यासुद्दीन हुए जिन्होंने मांडवगढ़ से मालवा का राज्य विक्रमसंवत् १५२६ से १५५७ (सन् १४६९ से १५०० ईस्वी) तक किया। (Cambridge Shorter History of India, पृ० ३०६) अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि श्रुतकीर्ति की पूर्वोक्त प्रशस्ति में मालवा के इन्हीं शाह ग्यासुद्दीन का उल्लेख है।

हरिवंशपुराण के कर्ता श्रुतकीर्ति ही प्रस्तुत धर्म-परीक्षा के भी कर्ता हैं इसमें भी कोई सन्देह का कारण दिखाई नहीं देता। दोनों के कर्ता का नाम एक है, गुरु का नाम भी दोनों ग्रंथों में वही त्रिभुवनकीर्ति पाया जाता है, और दोनों रचनाएं अपभ्रंश पद्यों में हैं। इन रचनाओं के परस्पर मिलान करने पर तथा धर्मपरीक्षा की अन्य हस्तलिखित प्रतियां मिलने पर, मुझे आशा है, इनके एक कर्तृत्व को और भी पूरा समर्थन प्राप्त हो जायेगा।

जिस स्थान में हरिवंशपुराण की रचना की गई थी उसका नाम उक्त प्रशस्ति में 'जेरहद' कहा गया है। मालवा प्रान्त में यह स्थान कहां है इसका ठीक-ठीक निश्चय करने का फिर कभी प्रयत्न किया जायेगा। वर्तमान में इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि श्रुतकीर्ति ने अपने हरिवंशपुराण की रचना मालवादेश के 'जेरहद' नामक नगर में संवत् १५५२ में की थी। संभवतः उन्होंने अपभ्रंश में ही धर्मपरीक्षा की रचना भी इसी प्रदेश में संवत् १५५२ के कुछ पूर्व या पश्चात् की होगी।

श्रुतकीर्ति की एक तीसरी कृति और भी उपलब्ध है, जिसकी प्रशस्ति सरवासा-वीरसेवा मन्दिर के अपभ्रंश-विषयक अप्रकाशित प्रशस्तिसंग्रह में संग्रहीत हैं। उसका नाम है 'परमिट्ठिपयाससार (परमेष्ठिप्रकाशसार) यह ग्रन्थ प्रति आमेर के शास्त्र भंडार में मौजूद है, जिसमें प्रारंभ के दो पत्र और अन्तिम से पूर्व का २८७वां पत्र नहीं है। इसमें सात परिच्छेद हैं और इसकी रचना विक्रम संवत् १५५३ की श्रावण गुरुपंचमी के दिन मांडवगढ़ दुर्ग के जेरहट नगर के नेमीश्वर-जिनालय में पूर्ण हुई है, जबकि ग्यासुद्दीन का राज्य था और उसका पुत्र नसीरुद्दीन राजधर्म में बहुत अनुराग रखता था। इसमें हरिवंशपुराण और धर्मपरीक्षा दोनों का इससे पूर्व रचे जाने का उल्लेख है और इसलिये ये तीनों कृतियां एक ही श्रुतकीर्ति की रचनाएँ हैं, इस विषय में सन्देह के लिये कोई स्थान ही रहता और एकता-विषयक यह समर्थन पूर्णतः हो जाता है यहां पर इस ग्रन्थ की प्रशस्ति के रचनाकालादि-सम्बन्धी दो-तीन वाक्यों को ही उद्धृत किया जाता है :—

दहपणसय तेवण गयवासइं
पुण विक्कमणिवसंवच्छरहे।
तह सावणमासहुं गुरुपंचमिसहु
गंयु पुण्णु तयसहसतहैं।
मालवदेस-दुग्गमंडवचलु। वट्टइ साहि गयासु महाबलु।
साहिणसीरु णाम तह णंदगु। रायधन्मअगुरायउ बहुगुणु।
तह जेरहटणय(र) सुपसिद्धउ। जिण चेइहर मुणिसुपजुद्धइं।
णोमोसरजिणहरणिवसंतइं। विरयउ एहु गंथु हरिसंतइं।
तेहिं लिहाइहिं णाणागंथइं। इय हरिवंस पमुहसुपसत्थइं।
विरइय पढमतमहिवित्यारिय। धम्मपरिक्ख पमुहमणहारिय।
इय परमिट्ठिपयाससारे अरुंहादिगुणेहिं वण्णणा-
लंकारे अप्पसुदसुदकित्ति जह सत्तिमहाकव्वु-
विरयंतो णाम सत्पमोपरिच्छेउ संमत्तो।
इति परमेष्ठिप्रकाशसार ग्रंथ समाप्तः।''

इस ग्रन्थ प्रशस्ति से यह भी जाना जाता है कि सबसे पहले धर्मपरीक्षा की रचना हुई है। हो सकता है कि वह १५५१ या उससे भी पूर्व की हो। उसके बाद हरिवंशपुराण रचा गया है और हरिवंशपुराण के बाद इस परमेष्ठिप्रकाश सार का नम्बर है, जिसकी श्लोक-संख्या तीन हज़ार है।

जैन साहित्य की विशेषता

जैन साहित्य की विशेषता बतलाने से प्रथम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि साहित्य किसे कहते हैं व जैन साहित्य से क्या अभिप्राय है। साहित्य की परिभाषा देना बड़ा कठिन है। जिस प्रकार 'संज्ञा वस्तु के नाम को कहते हैं'। ऐसा कहकर संज्ञा की परिभाषा दी जा सकती है, उसी प्रकार साहित्य की कोई सरल परिभाषा नहीं दी जा सकती। अतः साहित्य का क्या क्षेत्र है व उसमें किन-किन बातों का समावेश होता है, हमें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिये। बाह्य जगत् के स्वरूप को देखने की शक्ति तो सभी नेत्रवान जीवों में है, पर उस स्वरूप को देखकर उसको अपने मनस्पटल पर अङ्कित कर लेने, उस पर विचार करने व तत्संबंधी अपने विचारकों को दूसरों पर प्रकट करने की शक्ति केवल मनुष्य ही को प्राप्त है। इस शक्ति के अभाव के कारण ही पशु निज व पर के अनुभवों से कोई लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि उन अनुभवों को स्थायी बनाने के कोई साधन उन्हें उपलब्ध नहीं है। और इसलिये वे किसी प्रकार अपनी उन्नति करने में असमर्थ हैं। पर मनुष्य इसी शक्ति के प्रभाव से अपनी उत्तरोत्तर उन्नति कर सकता है, इसी कारण यह कहावत एक प्रकार से सत्य है कि—

"We call our ancestors fools
the wiser as we grow;
Our wiser sons will call us so."

अर्थात् ज्यों-ज्यों हमारी बुद्धिमत्ता बदती जाती है त्यों-त्यों हम अपने पूर्वजों को मूर्ख कहने लगते हैं। हमसे अधिकतर बुद्धिमान् हमारी भावी सन्तान हमारे लिये भी ऐसा ही कहेगी'। यह इसी कारण सम्भव है कि मनुष्य में अपने अनुभवों को अपनी व अपनी सन्तान को स्थायी सम्पत्ति बनाने की शक्ति है। गहरे भूतकाल में निमग्न हमारे पूर्वजों ने न जाने कितने सोच-विचार और परिश्रम से अग्नि द्वारा अन्न पकाकर खाने, हल द्वारा जमीन जोतकर अन्न उत्पन्न करने, लकड़ी, ईंट, पत्थर आदि के मकान बनाकर रहने व प्रकृति प्रदत्त रुई, कपास आदि से सुन्दर वस्त्र बनाकर पहनने जैसी सभ्य-क्रियाओं का

आविष्कार किया होगा पर ये सब बातें हमारे लिये अब बिल्कुल साधारण हो गई हैं, जिन के लिये हमें कोई विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ता। इसी प्रकार संसार की प्राकृतिक शक्तियों जैसे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी, जल, वायु, व मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों जैसे आत्मा, मन, बुद्धि व मनुष्य के मानसिक विकारों जैसे क्रोध, मोह, ईर्ष्या, अहङ्कार व मनुष्य के बाह्य-आचरणों आदि के विषय में हमारे पूर्वजों ने जो कुछ सोचा, विचारा व अनुभव किया वह परम्परा से हमें सहज ही ज्ञात हो गया है। इन सब मानवीय अनुभवों और विचारों का प्रकटीकरण ही साहित्य कहलाता है। कोई व्यक्ति अपने विचारों को शब्द ध्वनि से प्रकट करता है, कोई लिखकर, कोई चित्र द्वारा और कोई मूर्ति निर्माण व दस्तकारी खुदाई आदि द्वारा। विस्तृतरूप से यह सब साहित्य के अन्तर्गत है। इस दृष्टि से हम मनुष्य के सभी अनुभवों और विचारों के प्रकटीकरण को साहित्य कह सकते हैं। नाचना, रोना, हंसना, गाना आदि भी एक प्रकार का साहित्य है क्योंकि ये सभी मानवीय हृदय के उद्गार हैं। एक सीधे-सीधे ग्राम-निवासी किसान का संध्या के समय आग तापते हुए अपने लड़कों को अपनी खेती के अनुभव सुनाना भी साहित्य है और शहर के रङ्ग मञ्च पर खेले जाने वाले नाटक में भी साहित्य है। यह सब साहित्य का विस्तृतरूप है। इस साहित्य का अधिकांश अस्थायी है, और इस कारण साधारणतः वह साहित्य की गणना में नहीं लिया जाता। अधिकतर इस साहित्य के केवल उसी भाग को साहित्य का नाम दिया जाता है जो किसी प्रकार का स्थायीरूप धारण कर मनुष्य-समाज की स्थायी सम्पत्ति बन जाता है। भाषा व चित्रण साहित्य को स्थायी बताने के मुख्य साधन हैं। यह कहना तो यथार्थ नहीं होगा कि इन दोनों साधनों में भाषा ही अधिक प्रभावशाली है, क्योंकि मानवीय-हृदय की अनेक भावनाएं जिस खूबी, जिस कौशल और प्रभावशीलता के साथ चित्रकार जिस अपनी लेखनी के थोड़े से घुमाव से प्रकाशित कर सकता है वह लेखक अपनी पुस्तक के हजार पृष्ठ लिखकर भी नहीं कर सकता। पर चित्रण का क्षेत्र संकुचित है; और वह हर एक व्यक्ति के लिय सुलभ भी नहीं है। इससे विपरीत भाषा का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। भाषा द्वारा मनुष्य के सभी प्रकार के अनुभव व विचार प्रकट किये जा सकते हैं और वह सभी मनुष्यों को सुलभ हैं। इस कारण विशेष कर साहित्य का केवल वही अङ्ग साहित्य-पदवी से विभूषित किया जाता है, जो भाषा द्वारा पुस्तककारूढ़ होकर मानव समाज की चिर-स्थायी सम्पत्ति बन जाता है।

इस पुस्तककारूढ़ साहित्य के उस भाग को जैन साहित्य की संज्ञा देते

हैं जो जैन धर्मावलंबियों के द्वारा समय-समय पर उत्पन्न हुआ है।

हम ऊपर कह आये हैं कि साहित्य मनुष्य के अनुभवों और विचारों का प्रकटीकरण मात्र हैं अनुभव और विचार मनुष्य की बाह्य परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं। अतः साहित्य का समाज व देश के इतिहास से घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी साहित्य का स्वरूप उसके समकालीन इतिहास को जाने बिना ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। जैन-साहित्य पर जैनधर्म की छाप लगी हुई है। इसलिये उक्त साहित्य की विशेषता समझने के लिये जैनधर्म का थोड़ा सा इतिहास जान लेना आवश्यक है। सच तो यह है कि भारत-वर्ष के प्राचीनतम इतिहास में जब तक हम गहरे नहीं पैठेंगे, तब तक जैन साहित्य की पूरी-पूरी विशेषता हमारी समझ में नहीं आ सकती। क्योंकि जैन साहित्य के मूलाधार जो सिद्धान्त हैं वे पुस्तकारूढ़ होने के समय ही किसी व्यक्ति-विशेष के मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं हुए। उनका सिलसिला बहुत पुराना है। कोई सिद्धान्त तब तक स्थायी साहित्य में स्थान नहीं पा सकता जब तक कि वह समय की कसौटी पर कसा जाकर ठीक न उतर जाय। यह नियम प्राचीनकाल के लिये अब से कई गुणा सत्य था, क्योंकि प्राचीनकाल में लेखन कला का बहुत अधिक प्रचार न था, और धार्मिक सिद्धान्तों का लोग ग्रंथों की अपेक्षा गुरु के मुख से ही सीखना अच्छा समझते थे। उपलब्ध जैन साहित्य जैनधर्म की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है। पर तो भी उसमें जैनधर्म की प्राचीनता की आभा विद्यमान है। महावीर स्वामी ने जिस समय जैनधर्म का उपदेश देना प्रारम्भ किया था, उस समय जैनधर्म कोई नया चलाया हुआ मत नहीं था। यह इतिहास सिद्ध बात है। पर उस समय की सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति ने उन सिद्धान्तों में नई रोशनी, नया तेज़, नई शक्ति ला दी थी। धार्मिक क्रियाओं में घोर हिंसा, मनुष्य के धार्मिक और सामाजिक अधिकारों में भारी विषमता से उद्विग्न जनता ने अहिंसा और धार्मिक समानता के सिद्धान्तों को बड़े चाव से अपनाया। इन उच्च आदर्शों को लेकर ही जैन साहित्य की उत्पत्ति हुई थी। केवल ज्ञान सम्पन्नावस्था में महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनि से उस समय में प्रचलित अनेक (ग्रंथों के अनुसार तीन सौ त्रेशठ) मतों का खण्डन होकर जिन दार्शनिक सिद्धान्तों व धार्मिक और सामाजिक नियमों का प्रतिपादन उससे हुआ उन सब का समावेश उनके शिष्यों ने बारह श्रुताङ्गों में किया ये बारह श्रुताङ्ग जैन साहित्य की सब से प्राचीन कृतियां थी। उन में जैन महर्षियों के सारे अनुभवों और विचारों का निचोड़ था। इनकी रचना उस समय की प्रचलित भाषा अर्द्ध-मागधी में हुई थी जो उस समय के शिक्षित अशिक्षित समाज के

लिये सुबोध थी। महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनि सारी जनता का उपकार कर रही थी। इसलिये संस्कृत को छोड़ इसी जीती-जागती भाषा में उनके उपदेश की रचना करना ठीक समझा गया था। स्वयं उनका दिव्य उपदेश पशुओं तक को बुद्धिगम्य था। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि ये श्रुताङ्ग कभी पुस्तकारूढ़ नहीं हुए। गुरु-शिष्य परम्परा से इनका अध्ययन होता रहा। पर यह अध्ययन प्रणाली थोड़े ही काल में देश की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों में घोर परिवर्तनों के कारण शिथिल पड़ गई और श्रुतांगों का लोप होने लगा। जब तक प्रमाणों के लिये सर्वज्ञ के ही वाक्य प्रस्तुत थे तब तक धर्म में कोई भारी मतभेद होने की सम्भावना न थी। पर श्रुतांगों के विच्छेद के साथ ही साथ समाज में मत भेद खड़े हो गये। दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों के अलग होने का बड़ा भारी मूल कारण यह श्रुतांगों का विच्छेद ही जान पड़ता है। इस प्रकार इस साहित्य के लोप से एक धार्मिक और सामाजिक बखेड़ा खड़ा हो गया जो आज दो हज़ार वर्षों से भी अधिक समय में तय नहीं हो सका। वेदों की रक्षा हुई। ईसाईयों ने बाइबिल को नष्ट नहीं होने दिया, मुसलमानों ने कुरान शरीफ़ सुरक्षित रक्खे, पर धन्य री जैन समाज! तूने अपने मर्यादा-पुरुष के वचनों को ऐसी सुगमता से नष्ट हो जाने दिये।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने पीछे श्रुतांगों के उद्धार का प्रयत्न किया। पर उन्होंने जो सामग्री एकात्रित की वह दिगम्बर सम्प्रदाय को मान्य नहीं हुई। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मतानुसार भी उन के संकलित किये हुए ग्यारह सूत्र, मूल श्रुताङ्गों के असली रूप नहीं है। तो भी इन ग्यारह अंगों का भारी मूल्य इस बात में है कि उनमें अर्द्ध-मागधी भाषा के नमूने रक्षित हैं। यद्यपि ये श्रुताङ्ग विक्रम की छठवीं शताब्दी में रचे जाने के कारण अर्द्ध-मागधी भाषा का वही रूप प्रकट करते हैं जो छठवीं शताब्दि में खड़ा किया जा सकता था।

श्रुताङ्गों का लोप हो गया पर उनके सिद्धान्तों का नहीं। बहुत शीघ्र जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले नये स्वतंत्र ग्रंथों की उत्पत्ति हुई। इस ग्रंथों की रचना में भी आचार्यों का वही लक्ष्य रहा कि वे जन-साधारण को उपयोगी हों। इस कारण वे भी प्राकृत भाषा में ही रचे गये। विक्रम संवत् की पहली शताब्दी के लगभग देश में शौरसेनी प्राकृत का प्रचार था। तत्कालीन आचार्य कुन्दकुन्द-स्वामी ने अपने ग्रंथों की रचना इसी प्राकृत में की और उनके पश्चात् होने वाले आचार्यों जैसे कार्त्तिकेय, वहकेर, नेमिचन्द्र आदि ने भी उन्हीं का अनुकरण किया। यही नहीं। विक्रम से पूर्व तीसरी शताब्दी में भद्रबाहु स्वामी के नायकत्व में जो दिगम्बर संघ कर्नाटक प्रान्त में आया था उसने

धीरे-धीरे दक्षिण भारत में जैनधर्म का ख़ूब प्राचार किया। इस धर्म प्रचार के लिये उन्होंने अनेक साधनों का अवलम्बन किया जिनमें भाषा सम्बन्धी भी एक साधन था। हाल में ईसाई धर्म के प्रचारकों ने बाइबिल के अनुवाद के लिये सैकड़ों भाषाओं को पहली बार ही लिपिबद्ध किया है। प्राचीन जैन गुरुओं से यह साधन छुपा नहीं था। उन्होंने कर्नाटकी और तामिल भाषाओं में ग्रंथ लिखकर इन भाषाओं को साहित्यिक रूप दिया। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी तक इन दोनों भाषाओं के साहित्य की बागडोर सर्वथा जैन लेखकों के हाथ में रही। विक्रम की छठवीं शताब्दी से लगाकर तेरहवीं शताब्दी तक जो न्याय व पौराणिक ग्रंथ रचे गये थे अधिकांश संस्कृत में हैं। इसका कारण यह है कि इस काल में जैन आचार्यों को धर्म रक्षा के लिये भिन्न-भिन्न स्थानों व राज सभाओं में ब्राह्मण और बौद्ध दार्शनिकों के साथ वाद-विवाद करना पड़ा था। समन्तभद्राचार्य ने पटना और काशी से लगाकर काञ्ची तक व ढाका से मालवा और सिन्ध तक भ्रमणकर अनेक पर-मतवादियों को परास्त किया था। इसी प्रकार सकलङ्कदेव, प्रभाचन्द्र, विद्यानन्द आदि आचार्यों के भी बौद्ध और हिन्दू नैयायिक से शास्त्राथों की कथाएं जैन साहित्य में पाई जाती हैं। इन देशव्यापी, शिक्षित समाज के सम्मुख होने वाले शास्त्रार्थों के लिये जैनाचार्यों को संस्कृत भाषा का अवलम्बन लेना पड़ा और उस में भी उन्होंने अपना अपूर्व पाण्डित्य प्रकट किया, जिस के प्रमाण-स्वरूप उनकी जैन-न्याय पर अनेक कृतियां विद्यमान हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत का अध्ययन जैनाचार्यों के लिये इस समय कोई नई बात थी। शाकटायन व्याकरण, और जैनेन्द्र व्याकरण संस्कृत जैन साहित्य की उत्तम और प्राचीन सम्पत्ति हैं। विक्रम की पहली शताब्दि में उमास्वामि आचार्य ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की रचना संस्कृत सूत्रों में की, जिसमें उन्होंने ब्राह्मण सूत्रकारों से कम पाण्डित्य प्रकट नहीं किया। जैनाचार्य यथावसर देश में प्रचलित सभी भाषाओं का उपयोग करते थे इतिहास से सिद्ध है कि विक्रम की चौथी शताब्दी में, गुप्तवंशी नरेशों के राजस्वकाल में संस्कृत भाषा का देश में कुछ अधिक प्रचार बढ़ा। हिन्दू पुराणों की रचना इसी काल में हुई। धर्म प्रचार में सदा कटिबद्ध और जागृत रहने वाले जैनाचार्यों ने भी संस्कृत की बढ़ती हई लोकप्रियता को देखकर संस्कृत में ही अनेक जैन पुराणों की रचना कर डाली। इससे प्रथम जैन-पुराण प्राकृत भाषाओं में रचे जाते थे यह 'पउमचरिय' नाम के पुराण से सिद्ध है जो सम्भवतः विक्रम की पहली शताब्दी का रचा हुआ है। विक्रम की आठवीं शताब्दी के लगभग पश्चिम भारत में अपभ्रंश भाषा सुप्रचलित हुई। उस समय में जैनाचार्यों ने

सैकड़ों ग्रंथ इसी भाषा में रचकर आधुनिक भाषाओं जैसे हिन्दी, गुजराती आदि की नींव डाली। क्योंकि यह भाषा अशिक्षित व कम शिक्षित व्यक्तियों में ही प्रचलित थी इससे इस भाषा में केवल पौराणिक, कथात्मक व थोड़े बहुत उपदेशात्मक ग्रंथ ही रचे गये। गहन-दर्शन-सिद्धान्तों को इस भाषा में रखने की आवश्यकता नहीं समझी गई। स्वयंभू चतुर्म्मुख, पुष्पदन्त, धवल, श्रीचन्द्र, धनपाल, पद्मकीर्त्ति, कनकामर, सिंहसेन आदि इस भाषा के महाकवियों के बड़े-बड़े पुराण व कथात्मक ग्रन्थ आज हमारे प्राचीन ग्रन्थ भण्डारों की शोभा बढ़ा रहे हैं। खेद है हम अब तक उनका और कुछ अधिक उपयोग नहीं कर सके। अपभ्रंश भाषा के पश्चात् ही हिन्दी गुजराती व राजस्थानी आदि आजकल की भाषाओं का काल आया। इन भाषाओं के भी प्रारम्भिक ग्रंथ जैन साहित्य में ही विद्यमान् हैं। रास ग्रन्थ, जो बहुधा गुजराती भाषा के कहे जाते हैं यथार्थ में गुजराती, हिन्दी व राजस्थानी भाषाओं की सम्मान सम्पति है। उनमें जितने गुजराती भाषा के लक्षण हैं उतने हिन्दी के भी हैं। हिन्दी भाषा के काल में बनारसीदास, भूधरदास, दौलतराम आदि ऊँचे दर्जे के कवि हुए हैं।

यहाँ दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों और ग्रन्थों का ही उल्लेख किया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की विक्रम की छठवीं शताब्दी तक की सबसे बड़ी साहित्यिक सफलता का नमूना उन के संकलित किये हुए ग्यारह श्रुताङ्ग हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके पश्चात् उनका कार्यक्षेत्र पश्चिम भारत में ही संकुचित रहा और वहां वे विशेषतः ग्यारह अङ्गों पर भाष्य टीका चूर्णि आदि लिखने में दत्त-चित्त रहे। महावीर स्वामी के नाम से सम्बद्ध ग्यारह श्रुताङ्गों को पाकर उन्होंने कोई छः शताब्दी तक किसी विषय पर कोई स्वतंत्र भारी ग्रंथ लिखने की आवश्यकता नहीं समझा। विक्रम की बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में गुजरात के सोलंकी राजाओं को श्वेताम्बर आचार्यों ने जैन धर्मावलम्बी बनाया। यह काल यहाँ श्वेताम्बर जैन साहित्य के अतुल वैभव का था। दर्शन, न्यायपुराण, व्याकरण व कोष के अधिकांश स्वतन्त्र ग्रंथ इसी समय लिखे गये। इस सम्प्रदाय के सबसे बड़े आचार्य हेमचन्द्र इसी काल में हुए जिन्होंने उपर्युक्त सभी विषयों पर स्वतन्त्र ग्रन्थ रखकर श्वेताम्बर साहित्य की भारी सेवा की। इनसे कुछ समय पहले होने वाले सिद्धार्थ आचार्य का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंनें 'उपमितिभव प्रपञ्च कथा' नामक एक रूपक ग्रन्थ लिखा, जो संस्कृत साहित्य की अतुल सम्पत्ति है। इस काल में श्वेताम्बर लेखकों ने अपभ्रंश और विशेषकर रास (प्राचीन हिन्दी गुजराती) साहित्य की रचना में अच्छा भाग लिया।

यह जैन साहित्य के बाह्यरूप का निदर्शन हुआ। इसमें जैन साहित्य की यह विशेषता पाई गई कि वह किसी एक भाषा में सम्बद्ध नहीं रक्खा गया। जैनाचार्यों ने सदैव अपने सिद्धान्तों को शिक्षित व अशिक्षित, पण्डित व अज्ञानी सभी के कानों तक पहुंचाने का प्रयत्न किया है और इस हेतु उन्होंने जिस समय व जिस प्रान्त में जिस भाषा को सर्व-सुबोध देखा उस समय उन्होंने अपने साहित्य को उसी भाषा का जामा पहनाया। ब्राह्मण साहित्य भी एक भाषा में नहीं है। वेदों और पुराणों की भाषा में बड़ा अन्तर है पर यह अन्तर और किसी कारण नहीं केवल एक ही भाषा के भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न रूपों के कारण हैं। वेदों की भाषा ने ही हजारों वर्षों के जीवन के पश्चात् पुराणों की संस्कृत भाषा का रूप धारण किया है। बौद्धों ने भी अपने धर्म का प्रचार देश की प्रचलित भाषा में किया पर उनका साहित्य केवल पाली भाषा में ही रचा गया है। उसे संस्कृत के अतिरिक्त भारत की अन्य भाषाओं में प्रकट होने का अवसर नहीं मिला।

अब हम जैन साहित्य की आभ्यन्तर विशेषता पर विचार करेंगे। स्थूल रूप से समस्त जैन साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, एक धार्मिक और दूसरा लौकिक। लौकिक साहित्य से मेरा तात्पर्य उन ग्रन्थों से है जो ऊपर से ही साम्प्रदायिकता व धार्मिक-पक्षपात को लिये हुए नहीं है। जैसे काव्य, कथा, व्याकरण, कोष आदि ग्रन्थ। जैन साहित्य के ये दोनों ही भाग खूब पुष्ट हैं। यथार्थ में धार्मिक पक्षपात की दृष्टि से भी इन दोनों भागों में केवल अपेक्षाकृत ही अन्तर है सर्वथा भिन्नता नहीं है। जैनाचार्यों द्वारा रचित काव्यों व कथाओं पर तो जैनधर्म की छाप स्पष्ट ही है क्योंकि इनके नायक आदि जैन धर्मावलम्बी ही होते हैं, पर कोष आदि वैज्ञानिक ग्रन्थ भी इससे रहित नहीं हैं क्योंकि ये भी विशेषकर जैन कवियों की कृतियां को लक्ष्य कर लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों के टीकाकारों ने उनकी साम्प्रदायिकता को और भी स्पष्ट कर दिया है, क्योंकि नियमों व रूपों के उदाहरण उन्होंने अधिकतर जैन ग्रन्थों से लिये हैं। पर इस विभाग के कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें लेखक अपनी साम्प्रदायिकता को बहुत कुछ छुपा गये हैं। उदाहरणार्थ, सोमदेव कृत 'नीत्तिवाक्यामृत' नामक अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थ में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके कारण हम उसे जल्दी से एक जैनधर्मी की कृति कह सकें। धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत दर्शन, आचार और पुराणविषयक ग्रन्थ है। दर्शन ग्रन्थों में मुख्यतः सात तत्त्वों की विवेचना की गई है। प्रथम तत्त्व जीव और दूसरे तत्त्व अजीव के पांच भेद, पुद्गल धर्म, अधर्म, प्रकाश और काल ये छह द्रव्य हैं जिनसे सारी सृष्टि बनी

हुई है। जीव का अजीव के साथ सम्बन्ध और इस सम्बन्ध के कारण उसका संसार भ्रमण तथा इस सम्बन्ध के टूटने से उसका मोक्ष ये शेष पांच तत्त्वों के विषय हैं। जैनदर्शन में एकान्ताग्रह नहीं है। उसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि पदार्थों में अनेक गुण हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टि से विचार करने पर पदार्थों के भिन्न-भिन्न गुण व स्वरूप सिद्ध होते हैं। इन ग्रन्थों में जिस वैज्ञानिक ढंग से जैनदर्शन की विवेचना की गई है वह वैज्ञानिक ढंग अन्य प्राचीन साहित्यों में कम देखने में आता है।

जैनियों का समस्त आचार अहिंसा के सिद्धान्त पर निर्भर है। मुनियों व गृहस्थी के लिये जो नियम व्रत आचार-ग्रंथों में पाये जाते हैं उनका मूल उद्देश्य है जीवों की हिंसा को यथाशक्ति रोकना। जीवाघात से बढ़कर कोई पाप नहीं है। पर जैन आचार की विशेषता यह है कि उसमें मनुष्य को उसकी अवस्था व सांसारिक स्थिति के अनुसार ही नियम पालने का उपदेश दिया गया है।

जैन पुराणों का विषय चौबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती, नव बलभद्र, नव नारायण व नव प्रतिनारायण इन त्रेशठ पुरुषोत्तमों के चरित्र का वर्णन करना है। रामचन्द्र अष्टम बलभद्र थे, इसलिये उनका चरित्र जैनियों के विमलसूरिकृत 'पउमचरिय' व रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण में वर्णित है। कृष्ण नवमे नारायण थे इसलिये उनका व उनके साथ महाभारत युद्ध का वर्णन जिनसेनकृत हरिवंश पुराण में पाया जाता है। शेष पुराणों में सामान्य रूप से उपर्युक्त त्रेशठ पुरुषों ही के चरित्र वर्णन किये गये हैं। ये पुराण प्राकृत, संस्कृत व अपभ्रंश भाषाओं में भिन्न-भिन्न महाकवियों द्वारा रचे हुए पाये जाते हैं। ब्राह्मण-पुराणों से इनमें यह विशेषता है कि इनमें प्रायः सभी नायकों के अनेक पूर्वभवों का वर्णन भी दिया गया है। यह पूर्वभव-वर्णन की प्रथा जैनकथा साहित्य में भी कुछ अंश में पाई जाती है। यह पूर्वभव वर्णन जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त व आत्मा के आवागमन विषयक मत को अच्छी तरह विशद् कर देता है।

कला की जैन साहित्य में कमी नहीं है। यहां तक कि कला के जिस भाग की ओर जैन कवियों का झुकाव हुआ उसे उन्होंने उसकी चरम सीमा तक पहुंचाया है। पार्श्वाभ्युदय, पवनदूत, पाणप्रिय काव्य आदि समस्या पूर्ति के सर्वोत्तम ग्रन्थ है। द्विसन्धान काव्य ब्राह्मण साहित्य में भी है, पर जैन साहित्य में सप्तसंधान और चतुर्विंशतिसंधान काव्य, जिनके एक-एक श्लोक के क्रमशः सात और चौबीस अर्थ निकलते हैं, श्लेषालङ्कार के अनुपम और आश्चर्यकारी उदाहरण हैं। हेमचन्द्र का द्वयाश्रय काव्य भट्टिकाव्य से कुछ अधिक विशेषता रखता है। सिद्धर्षि का 'उपमितिभव प्रपञ्च कथा' अपने ढंग का एक ही रूपक

काव्य है, जिसकी तुलना केवल अंग्रेजी साहित्य में ज्ञान व नयन के पिलग्रिम्स प्रोग्रेस (Pilgrims Progress) से की जा सकती है। कवित्व शक्ति में जिनसेनाचार्य के काव्य कालिदास की कृतियों का भले प्रकार सामना करते हैं और सोमदेव आचार्य का गद्य बाण के गद्य से कुछ नीची श्रेणी का नहीं है।

जैन साहित्य में अनेक ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें उनके रचयिताओं ने अपने धार्मिक पक्षपात को बिल्कुल ही नहीं आने दिया है। तामिल भाषा का सबसे प्राचीन और सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ "काव्यकुरल" एक जैन कवि, सम्भवतः स्वयं स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य का बनाया हुआ है। उसमें ऐसे उदारभावों का समावेश है कि आज भारतवर्ष का प्रायः प्रत्येक ही सम्प्रदाय उसे अपनी ही सम्पत्ति समझ रहा है। ठीक यही हाल नृप अमोघवर्षकृत 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' का है। इसे भी सभी सम्प्रदायों के लोग अपने-अपने साहित्य में स्थान देने के लिये लालायित हैं। नागचन्द्र कवि का 'पम्प रामायण' कनाड़ी भाषा का सर्वप्रिय काव्य है। भारतीय कथा-साहित्य की उत्पत्ति और रक्षा में जितना जैनियों का हाथ है उतना अन्य किसी का नहीं संस्कृत भाषा के अद्वितीय रत्न 'पञ्चतन्त्र' की रक्षा एक जैनाचार्य पूर्णभद्र की पञ्चाख्यायिका द्वारा हुई है। वैताल पंचविंशति का सिंहासनद्वात्रिंशिका जैसे रोचक कथा संग्रह जैनियों द्वारा ही हमारे काल तक आ सके हैं। यथार्थ में कथाओं द्वारा जन-साधारण में धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार करने की सुप्रणाली जैसी प्रबल जैनियों में रही है वैसी भारत के अन्य सम्प्रदायों में नहीं रही। इसी से जैन साहित्य का कथामार्ग बहुत पुष्ट है। हर्टल साहब का मत है कि इनमें की अनेक कथायें प्राचीनकाल में इस देश से चलकर धीरे-धीरे भूमण्डल के अनेक भागों में फैल गई हैं। प्राचीन काल के उदार जैन कवियों ने अपनी साम्प्रदायिकता को साहित्य प्रेम से आगे नहीं रक्खा। दूसरों के साहित्यों में उन्होंने जो कृति विशेष उपयोग व प्रशंसनीय देखी उसे हृदय से अपनाया। इस उदारता के फल स्वरूप कालिदास, भारवि, बाण आदि महाकवियों के काव्यों पर जैनाचार्यों की टीकायें पाई जाती हैं। मेघदूत के पदों की समस्यापूर्ति अनेक जैन-कवियों ने की है। जैन नैयाकरणों के व्याकरण प्रस्तुत रहने पर भी 'सारस्वत' व्याकरण पर कोई पांच भिन्न-भिन्न जैन लेखकों ने टीकायें लिखी हैं। बौद्धों का एक उत्तम न्यायग्रंथ धर्मबिन्दु एक जैनाचार्य मल्लवादी की टीका द्वारा ही भारत में सुरक्षित रह सका है। भासरज्ञ के न्यायसार पर जयसिंहसूरि की टीका बहुत उत्तम है। नरचन्द्रसूरिकृत 'कन्दलि टिप्पणी' अभय तिलकसूरि कृत 'न्यायालङ्कार' टिप्पणी शुभविजय सूरिकृत 'तर्कभाषा टिप्पणी' जैन विद्वानों द्वारा ब्राह्मण ग्रंथों के सत्कार किये जाने के

थोड़े से उदाहरण हैं इस के विपरीत यह बात शोचनीय है कि जैन साहित्य की ओर भारत की अन्य समाजों ने वही उदारता नहीं दिखाई। सिद्धर्षि के उपमितिभवप्रपञ्च कथा जैसे संस्कृत के अद्वितीय ग्रंथ के कभी किसी ब्राह्मण विद्वान द्वारा विशेष रूप से अपनाये जाने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। पर सन्तोष इस बात का है कि अब देश की इस पुरानी साम्प्रदायिक संकीर्णता की छूत मिटती जा रही है।

सारांश यह है कि जैन साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण और व्यापक है। उसमें भारतवर्ष की प्रायः मुख्य-मुख्य सभी भाषाओं की उत्तम रचनायें हैं। यद्यपि यह साहित्य एक विशेष धर्म-सम्प्रदाय की ही अमूल्य और अक्षय सम्पत्ति हैं, तथापि उसमें उस लौकिक ज्ञान की कमी नहीं है जो किसी धर्म, जाति व देश की उपेक्षा न कर सम्पूर्ण मानव समाज को उपयोगी और रुचिकर सिद्ध हो सके। यही इस साहित्य की वास्तविक सार्वभौमिकता और लोकप्रियता है। यह साहित्य, छंद, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, संगीत आदि कला और विज्ञान विषयक ग्रंथों से भी खाली नहीं है। इस छोटे से प्रबन्ध में उन सब ग्रंथों का उल्लेख मात्र करना भी असम्भव था। यहां पर हम केवल जैन साहित्य के धार्मिक और काव्य ग्रंथों का ही सूक्ष्म दिग्दर्शन करा सके हैं। इतना होने पर भी अभी जैन साहित्य का पूरा अन्त नहीं मिला है। प्राचीन शास्त्र भंडारों तथा मन्दिरों में अभी भी सहस्त्रों ऐसे ग्रंथ रक्षित हैं, जिनके अन्तर्गत सामग्री का हमें इस समय तक कुछ भी पता नहीं है। जब हम इन अप्रकाशित ग्रंथों से अपने प्रकाशित साहित्य का मिलान करते हैं तो ज्ञात होता है कि जैन साहित्य का बहुत बड़ा भाग अभी अन्धकार में ही पड़ा है। केवल जैन समाज के लिये ही नहीं वरन् समस्त आर्य जाति के लिये वह दिन बड़े सौभाग्य और गौरव का होगा जब यह विविध-ज्ञानपूर्ण और कलासम्पन्न साहित्य प्रकाशित होकर संसार के ज्ञान-कोष में भारी वृद्धि करेगा।

अनुभाग— ६

भारतीय संस्कृति की प्राणाधारा

अहिंसा

जीव जगत् में एक मर्यादा तक अहिंसा की प्रवृत्ति प्राकृतिक है। पशु पक्षी और उनसे भी निम्न स्तर के जीव जन्तुओं में अपनी जाति के जीवों को मारने व खाने की प्रवृत्ति प्राय: नहीं पाई जाती। सिंह व्याघ्रादि हिंसक प्राणी भी अपनी सन्तति की तो रक्षा ही करते हैं और अन्य जाति के जीवों को भी केवल तभी मारते हैं जब उन्हें भूख की वेदना सताती है। प्राणी मात्र में कुछ ऐसी स्वाभाविक चेतना जगाई जाती है, जो प्रकृति की अहिंसोन्मुख वृत्ति की परिचायक है। इन चेतनाओं में मैथुन, संस्कृति-पालन तथा सामूहिक जीवन की प्रवृत्तियां प्रधान हैं।

प्रकृति में यह भी देखा जाता है कि जो प्राणी जितनी मात्रा में अहिंसक वृत्ति का होता है वह उतना ही अधिक शिक्षा के योग्य और उपयोगी सिद्ध हुआ है। गाय, भैंस, बकरी, हाथी, घोड़ा, ऊंट आदि पशु मांसभक्षी नहीं हैं और वे ही मनुष्य के व्यापारों में उपयोगी सिद्ध हुए हैं। उन्हीं में प्रकृति की शीतोष्णादि द्वन्द्वात्मक शक्तियों को सहन करने और अधिक परिश्रम करने की शक्ति विशेष रूप में पायी गई है।

मनुष्य तो सामाजिक प्राणी ही है, और समाज तब तक बन ही नहीं सकता जब तक व्यक्तियों में परस्पर हिंसात्मक वृत्ति का परित्याग न हो, बल्कि यही नहीं, समाज बनने के लिये यह भी आवश्यक है कि व्यक्तियों में परस्पर रक्षा और सहायता करने की भी भावना हो। इतना होने पर भी जो कभी और कहीं नरबलि देने की प्रवृत्ति पाई जाती है उसका आधार वस्तुत: सर्वथा भिन्न है। उस प्रवृत्ति के मूल में धार्मिक प्रेरणा विद्यमान है और नरबलि देने वाले की भावना अज्ञातनाम् न होने पर भी उसमें हिंसात्मक वृत्ति नहीं, किन्तु त्याग की वृत्ति प्रधानता से पाई जाती है।

मनुष्य समाज में जितने धर्म स्थापित हुए हैं उनमें कुछ मर्यादाओं के भीतर अहिंसा का उपदेश पाया जाता है— भले ही वह कुटुम्ब के व्यक्ति, जाति के व्यक्ति या मनुष्य मात्र तक ही सीमित हों।

मुसलमानी धर्म में अपने धर्मानुयायी को मारना बड़ा पाप कहा गया है तथा समधर्मियों में समानता और भाईचारे के संबंध पर बड़ा जोर दिया गया है।

संसार के जो सुप्रचलित और प्रतिष्ठित धर्म हैं—जैसे ईसाई व मुसलमान उनमें एक मर्यादा के भीतर अहिंसा पालन पर जोर दिया गया है। "तुम किसी का घात मत करो" यह ईसाइयों के मान्य ईश्वरीय आदेशों में से एक आदेश है। किन्तु यहाँ घात करने का कार्य मनुष्य का घात ही समझा जाता है, पशु पक्षी का नहीं। हिन्दू धर्म यद्यपि आदितः अहिंसा प्रधान नहीं रहा, तथापि दीर्घकाल से उसकी हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ मन्द पड़ती चली जा रहीं हैं जिनके फलस्वरूप उसकी वैष्णव सम्प्रदाय जैसी कुछ शाखाओं में मांस भोजन का सर्वथा निषेध पाया जाता है। यज्ञों की हिंसात्मक विधियों प्रायः बन्द हो गई। योग जैसे वैदिक दर्शन में अहिंसा पर बहुत जोर दिया गया है और उसी प्रकार स्मृतियों और पुराणों आदि में भी अहिंसात्मक उपदेश समाविष्ट पाये जाते हैं।

भारतीय धर्मों में बौद्ध और जैन धर्मों ने व्यापक रूप से अहिंसा पर जोर दिया और धार्मिक तथा भोजनात्मक विधियों में प्राणिवध का सर्वथा निषेध किया किन्तु बौद्धधर्म ने व्यवहार में केवल उद्दिष्ट (दृष्ट श्रुत व परिशंकित) हिंसा के त्याग पर ही जोर दिया प्रतीत होता है। इसीलिये जहाँ-जहाँ अभी तक बौद्ध धर्म का प्रचार है वहाँ निरामिष भोजन की अनिवार्यता नहीं पाई जाती।

जैनधर्म ने अहिंसा को उसके पूर्ण और व्यापक रूप में अपनाया है और उसे ही अपने धर्माचरण की मूल भित्ति रूप से स्वीकार किया है। इसी कारण यहाँ हिंसा और अहिंसा के सिद्धान्त पर बड़ा सूक्ष्य विचार किया गया है। हिंसा को परिभाषा तत्वार्थ सूत्र के अनुसार यह है—

प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा। (त.सू. ७, १३)

अर्थात् प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणों का विच्छेद कर डालना हिंसा है। इस परिभाषा के अनुसार दोषात्मक हिंसा तभी होती है जब प्राणों का घात किया जाये और दूसरे उस घात को करने वाले के मन, वचन व काय की क्रिया में प्रमाद रहा हो अर्थात् क्रोध, मान, माया व लोभ इन कषायों की थोड़ी बहुत प्रेरणा उस घात में वर्तमान हो। इस परिभाषा पर से दो परिणाम निकाले जा सकते हैं, एक तो यह कि जब तक मनुष्य के मन, वचन व कार्य की प्रवृत्ति में कोई कषाय रूप कलुषता नहीं है, अर्थात् उसके प्रवृत्ति यत्नाचार सहित है तब तक उसकी किसी क्रिया से यदि किसी जीव का घात भी हो गया तो वह उसका दोषी नहीं ठहरता, उससे उसे कोई पाप नहीं लगता, उसके कोई कर्मबन्ध नहीं होना। अर्थात् उसके द्वारा हिंसा हुई यह कहा ही नहीं जा सकता।

दूसरा परिणाम यह भी निकाला जा सकता है कि यदि उस मनुष्य की वृत्ति में प्रमाद रूप कषाय तो रहा, किन्तु प्राणवध नहीं हो पाया तो भी हिंसा नहीं हुई। किन्तु परिभाषा पर से फलित होता दिखाई देने पर भी यह परिणाम शास्त्र सम्मत नहीं है। भले ही उस व्यक्ति के द्वारा दृश्यमान हिंसा नहीं हुई तथापि उसके हृदय में जो हिंसात्मक कलुषता उत्पन्न हुई, दुर्भाव उठा उससे वह दोष का भागी अवश्य ठहरेगा। इस बात को स्पष्ट करने के लिये आचार्यों ने हिंसा के दो रूप स्थापित किये हैं। एक द्रव्य हिंसा और दूसरी भाव हिंसा। यदि प्राण विच्छेद किया गया तो द्रव्य हिंसा हुई। यदि इस हिंसा के होने से हिंसक के भावों में प्रमाद रूप कोई कलुषता या मलिनता नहीं रही तो यह द्रव्य हिंसा मात्र उसे दोषी नहीं बना सकती।

कियेजयति चासुभिर्नच वधेन संयुज्यते।

इसके विपरीत, यदि उसके मन में हिंसा का भाव रूप प्रमाद उत्पन्न हो गया, किन्तु उसकी किसी भी क्रिया से प्राणिवध नहीं हुआ तो भी भाव हिंसा हो गई और वह मनुष्य उस दोष का भागी बन गया— मरदुव जियदुव जीवों आयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। (पयदस्स णत्भि बंधों हिंसामित्रेण समिदस्सा)

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब द्रव्य हिंसा नहीं हुई प्राण-व्यपरोपण हुआ ही नहीं, तब हिंसा दोष उत्पन्न ही कैसे हुआ। यहाँ आचार्यों ने यह स्पष्टीकरण किया है कि अन्य प्राणी के प्राणों का घात भले ही न हुआ हो, किन्तु जो हिंसा की बात सोचता है वह स्वयं अपने ही आत्मा का घात करता है'' आत्म परिणाम हिंसन हेतुत्शत्सव्रमेव हिंसैतत्''— (प्र. सि. ४२) और यही भाव हिंसा का स्वरूप है, बुरे चिन्तन मात्र से आत्मा में जो कलुषता या मलिनता उत्पन्न होती है वही शुद्ध आत्मा की अपेक्षा उस आत्मा का घात है।

स्वयमेवात्मना, डडत्मानं हिनरत्र्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्व प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात् स्याद्वा न वा वधः।।

जैन दर्शन में जो आसव और बन्ध तत्वों का स्वरूप बतलाया गया है वह भी प्रधान मूलक है। इसका कथितार्थ यह हुआ कि हिंसा में जो दोष है वह यथार्थतः हिंसक के भाव दूषित होने का है, यदि भाव दूषित नहीं हुए, तो हिंसा दोषजनक नहीं होती। अर्थात् अहिंसा का सच्चा स्वरूप है, हिंसात्मक भावों की निवृत्ति।

अहिंसा के इस शास्त्रीय स्वरूप का जैनधर्म को व्यवहारिक प्रवृत्तियों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। यहाँ अहिंसा को समस्त धार्मिक जीवन की आधारशिला माना गया है। अहिंसा परमोधर्मो इस सुप्रतिष्ठित और सुप्रचलित

वाक्य का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है। तीनों शब्दों को अलग-अलग रखने से वह अहिंसा के महत्व का चक्र है कि अहिंसा ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। यदि अहिंसा के साथ परमो का समाय करके अर्थ किया जाये तो वह वाक्य धर्म के स्वरूप का वाचक बन जाता है कि धर्म वही है जो अहिंसा परायण हो या जिसमें अहिंसा का सर्वोच्च स्थान हो। तात्पर्य यह कि अहिंसा और धर्म पर्यायवाची माने जा सकते हैं। जहाँ अहिंसा है वहाँ धर्म है, और जहाँ धर्म है वहाँ अहिंसा का होना नितान्त आवश्यक है। जैन आचार के जो नियमोपनियम बनाये गये हैं वे सब प्रधानतया इस अहिंसा के परिपालनार्थ ही हैं। यहाँ तक भी कह दिया गया है कि असत्य— अचौर्यादि को जो व्रत का रूप दिया गया है वह केवल अबोधों को समझने के लिये है। यथार्थ मर्म तो यही है कि कुत्सित भावों में आत्मघात रूप हिंसा होती है और इसी कुभाव परिणति से बचना अहिंसा है—

आत्म-परिणाम-हिंसन हेतुत्वात्सर्व मेव हिं अतत्
अन् वचनादि केवलामुदाहृतं शिष्यबोधाय।। (प्र. सि. ४२)

अहिंसा की इस नैतिक भित्ति पर ही जैन धर्मान्तर्गत समस्त जीवन की व्यवस्था की गई है। मुनियों और गृहस्थों की जो नाना साधनाएं बतलाई गई हैं, उन सबकी मौलिक प्रेरणा इसी अहिंसा तत्व से ग्रहण की गई हैं।

अहिंसा के व्यवहारात्मक परिपालन के लिये जो मुनियों और गृहस्थों के लिये उसकी महाव्रत और अणुव्रत रूप से व्यवस्था की गई है वह केवल सुविधा की दृष्टि से है, उससे अहिंसा के उक्त तत्व में कोई असामन्जस्य उत्पन्न नहीं होता। हाँ उससे यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि हिंसा का अपराध भावात्मक होने के कारण जितनी कुत्सित भावना से हिंसा की जाती है। उतना ही तीव्र पाप उसके द्वारा उत्पन्न होता है।

अब हम अहिंसा के इस तात्विक स्वरूप से उत्पन्न होने वाली कुछ— मनौवैज्ञानिक, वैयक्तिक व सामाजिक समस्याओं पर विचार करेंगे।

यदि हम देखते हैं कि किसी जीव के प्राण लिये जा रहे हैं, किसी प्राणी को भूख, प्यास या शीतोष्ण अथवा रोग-व्याधि का असह्य पीड़ा हो रही है तो उससे जो अनुकम्पा व क्षोभरूप भाव मन में उत्पन्न हो तो वे शुभ हैं अशुभ, पापबंधकारी है या पुण्य-हेतुक उन्हें कषायमूलक कहना चाहिये या अकषाय-मूलक? यह मन-कर्म असरकारी होगा या न होगा? उससे आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द तो हुआ ही, अतः यहाँ साम्प्रदायिक असर क्यों न होगा? कषाय

का अमुक अंश भी इस भावना में रहेगा ही क्योंकि उसके बिना अनुकम्पा व क्षोभ का भाव उत्पन्न ही कैसे होगा :

(१) जो लोग कषाय के वश होकर नहीं, किन्तु धर्म-भाव से प्रेरित होकर अपने व पशु के कल्याण की भावना से हिंसात्मक-बलिदान करते हैं उन्हें किस प्रकार हिंसा का दोष लगता है?

उत्तर— उन्हें मिथ्यात्व का दूषण लगता है।

(२) अहिंसा अपने स्वरूप में एक निषेधात्मक गुण है, इसमें सन्देह नहीं। यथार्थतः पांचों ही व्रत मूलतः निषेधात्मक ही हैं। अहिंसा, अचौर्य, अमृक-अमैथुन और अपरिग्रह, इन सबके नामों और स्वरूप से यही सिद्ध होता है कि हिंसादि न करना चाहिये। पातंजलयोग शास्त्र में इनके निषेधात्मक स्वरूप को और भी स्पष्टता से प्रकट कर दिया गया है। वहाँ अष्टांग योग में पहले और दूसरे अंग क्रमशः यम और नियम माने गये हैं। क्या न करना चाहिये यह यम-योग का विषय है और क्या करना चाहिये यह नियम योग के भीतर आता है। ''चातुर्याम धर्म में भी यमपक्ष पर ही जोर दिया प्रतीत होता है। अहिंसा का हमें जो कुछ शास्त्रों से संक्षिप्त या विस्तृत स्वरूप मिलता है वह सब उसकी निषेधात्मकता का ही प्रतिपादन करता है। प्रश्न यह है कि अहिंसा के प्रतिपालन का धार्मिक दृष्टि से कोई विधानात्मक पक्ष भी है या नहीं?

यदि किसी जीव के प्राण जा रहे हैं या वह मारा जा रहा है अथवा उसे कोई भूख-प्यास की या शीत-उषा की या रोग व्याधि की पीड़ा हो रही है तो अणुव्रती/महाव्रती का अहिंसाव्रत के भीतर उसकी रक्षा का प्रयत्न करना अनिवार्य कर्तव्य है या नहीं। इस अनिश्चय से जैनाचार में कुछ संभ्रान्तियाँ— उत्पन्न हुई दिखाई देती हैं :

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यज्यः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थ निधनं प्राप्ताः प्राप्तुवन्त्युत्स्तीः पुनः
मधुपर्के च यज्ञे च पितृ दैवत कर्मणि
अत्रेव पशवे हिंसा नान्यत्रेत्यव्रवीन्मनुः
एष्वर्थेणु पशून्हिंसन्वेद-तत्वार्थविद्दिजः
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्रमां गतिम्।।

(३) प्रत्येक प्राणी में अपनी रक्षा व अपने उत्कर्ष की भावना प्राकृतिक है। इसके लिये प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी को कुछ आत्मरक्षी शक्तियाँ भी प्रदान

की हैं, किन्तु इन शक्तियों का उक्त उद्देश्यों में प्रयोग न करना जूँ और लीख, डांस, मच्छर-खटमल आदि क्षुद्रजन्तुओं की हिंसा के भय से अपना विनाश करना व कराना कहाँ तक अहिंसा धर्म का अंग है। क्या इससे आत्म विनाश का दूषण उत्पन्न नहीं होता?

कीटाणुओं के विनाश के भय से स्वास्थ्य के नियमों का पालन नहीं करना दांत साफ नहीं करना, स्नान नहीं करना इत्यादि क्रियाएँ क्या अहिंसा महाव्रत के लिये अनिवार्य हैं? इनसे वैयक्तिक व सामाजिक दूषण के अतिरिक्त जो आत्म-हिंसन और विनाशी कीटाणुओं का कार्य पोषण होता है वह किसी प्रकार धार्मिक कहा जा सकता है।

(४) यदि संकल्पी हिंसा का बड़े पैमाने पर निवारण किया जाय तो बड़ी कठिन और घातक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि डांस, मच्छरों की नस्ल को न मारा जाये तो न सुख से रहा जा सकता और न बीमारियों से बचाव हो सकता। यदि चूहों का विनाश न किया जाये तो प्लेग फैलता है। यदि जलाशयों में कीटमार औषधियाँ न डाली जाये तो हैजा आदि रोगों से नरसंहार होता है। जहाँ जलाशयों में मछली आदि मारने का निषेध कर दिया जाता है, वहाँ इतनी भीषण परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि मनुष्य के लिये वहाँ हाथ डालना भी निरापद नहीं रहता। मनुष्य के पोषण के लिये अन्न उत्पादन आवश्यक है, वनों का संरक्षण भी जरूरी है। किन्तु यदि शिकार द्वारा हिंसक पशुओं का वध न किया जाये तो खेतों और पशुओं की रक्षा दुष्कर है। डिड्डी-दल कृषि के लिये कितना घातक होता है। आपत्तियों को टालने के कार्य में अहिंसा के अनुयायिओं द्वारा आगा-पीछा किया जाना कहाँ तक इष्ट है? अनेक रोग कीटाणु जन्य सिद्ध हो चुके हैं और उनके उपचार की प्रक्रिया कीटनाशक औषधियों का प्रयोग है। अहिंसा धर्म के अनुसार क्या इस प्रक्रिया को रोकना इष्ट होगा? इत्यादि।

(५) जब हम राष्ट्रीय स्तर पर विचार करते हैं तो हमें मानना पड़ता है कि बिना सैनिक बल युद्धों और नरसंहार के न देश की रक्षा हुई और न निकट भविष्य में हो सकती दिखाई देती। सैनिक शिक्षा एक राष्ट्रीय आवश्यकता है, और हिंसक प्रवृत्तियों के बिना सैनिक शिक्षण कभी पूर्ण नहीं होता। यदि हम यह मान भी लें कि आत्मरक्षा के लिये जो हिंसा अनिवार्य होती है वह संकल्पी हिंसा नहीं है, तथापि जिसने कभी रक्तपात नहीं किया और हिंसा के उपकरण रखना भी पाप समझा, क्या वह अवसर आने पर विरोध में टिक सकेगा? जिसने जीवन-भर यह पाठ पढ़ा है कि जीव हिंसा महापाप है, उसका

जब ऐसे व्यक्ति से विरोध होगा जिसका धर्म पाठ कहता है—'हतों व प्राप्त्यसि स्वर्ग जिव्वा वा भोक्ष्य से महोम्', तब कौन अधिक उत्साह से लड़ सकेगा? अहिंसा के अभ्यास के इसी पक्ष के बल पर कितने ही विद्वानों ने जैन धर्म पर यह लांछन लगाया है कि उस धर्म की प्रवृत्ति भीरुता-पोषक है। क्या सिद्धान्ततः इस कलंक का निवारण किया जा सकता है?

इसमें सन्देह नहीं कि अहिंसा उच्चतम-नैतिक आदर्श है, किन्तु उसकी बड़ी कठोर मर्यादायें हैं। जबकि व्यक्ति और समाज ऐसी शक्ति-समुदायों से घिरा हुआ है जो अहिंसा के तत्व को नहीं समझती या उस पर नहीं चलती तब तक अहिंसा व्रत का पालन आत्मोत्सर्ग का ही कारण हो सकता है। इसका कुछ ही इने-गिने लोग प्रयोग कर सकते हैं, जनता मात्र नहीं। समस्त प्राणियों को अभय के आदर्श पर समाज व नीति की व्यवस्था करना तथा अहिंसा वृत्ति का साधारणीकरण क्या कभी संभव हो सकेगी, यह चिन्तनीय है?

उक्त समस्याओं के संबंध में मेरे निजी विचार निम्न प्रकार हैं—

(१) प्राणियों की पीड़ाओं को देखकर जो अनुकम्पा उत्पन्न होती है वह सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। प्रशम, संकेत, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणों की अभिव्यक्ति को सम्यग्दर्शन का लक्षण माना गया है। चूंकि अहिंसा को धर्म का अभिन्नांग माना है, अतएव अनुकम्पा धर्म का परम मूल कहा गया है—

सत्व सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते।।

(यशस्ति ६)

अनुकम्पा के कषाय का कोई अंश न होने से यह शुभ भावना है। अतएव पुण्यबंधकारी परिणाम है। पर पीड़ावलोकन से यदि क्षोभ होता है और उसमें यदि क्रोधादि रूप प्रतिहिंसा का भाव हुआ तो उतने अंश में वह अशुभ परिणाम होने से पापबंध का कारण है।

(२) यह सत्य है कि अहिंसा मूलतः निषेधात्मक कृत हैं, तथापि जीवकल्याण की दृष्टि से उसमें विधानात्मक भावना का भी समावेश करना आवश्यक है। जीवों में परस्पर उपकार की भावना बतलाई गई है—परस्परोपग्रहों जीवानाम्—यदि कोई पर पीड़ा को देखकर केश निवारण की योग्यता रखता हुआ भी बिना उस जीव की सहायता किये चला जाता है तो वह कठोर, स्वार्थों व भीरू आदि कहलाने का पात्र होगा। आत्म रक्षा से भी अधिक पर पीड़ा निवारण साधु का कर्तव्य होना चाहिये। अतएव अहिंसा व्रत के इस विधानपक्ष को प्रबल बनाने की आवश्यकता है।

(३) साधु-जीवन में यह जो क्षुद्र प्राणी रक्षण की चिन्ता से वैयक्तिक मलिनता आ गई है वह विशेषतः आज के युग में अवांछनीय है। आज साधु को भी स्वच्छता और आरोग्य के नियमों का पालन करना चाहिये, वह भी वह लोक-कल्याण के क्षेत्र में समुचित भाग ले सकता है। जिन्हें समाज की परवाह न होकर उसी घोर वृत्ति में अपना कल्याण दिखाई देता है। उन्हें समाज से सर्वथा तटस्थ होकर निर्जन स्थान में रहना चाहिये।

(४-५) जिन्हें समाज में रहना है और कुटुम्ब पालना है वे उक्त हिंसा से अपने को नहीं बचा सकते-बचाने का प्रयत्न करना एक सामाजिक अपराध होगा। इन प्रवृत्तियों को मानव रक्षा के अंग समझकर अहिंसामूलक ही स्वीकार करना चाहिये।

अहिंसा के पुजारी आज अहिंसा का किस प्रकार प्रचार कर सकते हैं, इसका विचार करना आवश्यक है। प्राणी हिंसा का सबसे प्रबल व्यापक और अनिवार्य निमित्त है दैनिक भोजन-संसार के अधिकांश मनुष्य और इस देश के भी वासी मांस भोजी हैं। इसके दो कारण हैं—एक परम्परा और दूसरी शाक भोज की अपर्याप्तता मैं समझता हूँ जैनियों के लिये यह क्षेत्र है जिसमें बहुत उपयोगी कार्य किया जा सकता है। उन्हें शाक रूप खाद्य-सामग्री की उत्पत्ति बढ़ाने में पूरा योगदान देना चाहिये। अन्न शाक व फलों की जितनी प्रचुरता होगी, उतने अंश में मांस भोजन को प्रवृत्ति घटेगी, क्योंकि मांस भोजन मंहगा भी पड़ता है। सर्वत्र और विशेषतः जिन क्षेत्रों में मांस भोजन की प्रवृत्ति है वहां शाकान्न की बहुलता उत्पन्न करना चाहिये, सस्ते भोजनालय खुलवाना चाहिये और तीसरे शाक भोजन संबंधी शिक्षण और प्रचार फैलाना चाहिये। प्राणिशास्त्र की मानी हुई बात है कि मनुष्य प्रधानतया शाक भोजी हैं। बंदर इसके प्रमाण है। प्रकृति यह भी बतलाती है कि शाक भोजी प्राणी ही उपयोगी और शिक्षणीय हुआ करते हैं—इत्यादि।

राजकीय क्षेत्र में युद्ध संबंधी नीति में अहिंसा का यदि कभी बड़े पैमाने पर विधिवत उपयोग किया गया है तो यह मौर्य सम्राट-अशोक द्वारा जिन्होंने अपनी कलिंग विजय में हुए रक्तपात और जनविपत्ति से व्याकुल होकर स्पष्टतः अपनी नीति घोषित की कि अब से युद्ध विजय कभी न करेंगे और उसके स्थान पर धर्म-विजय द्वारा जनता व राजनीतिज्ञों का हृदय परिवर्तन करेंगे। उन्होंने अपनी इस अहिंसात्मक धर्म-विजय संबंधी नीति को क्रियात्मक रूप भी दिया, उन्होंने अपने साम्राज्य भर में प्रशस्तियों का प्रचार किया—सुधी महामात्यों की नियुक्ति की तथा विदेशों में भी इसी आशय का प्रचार किया।

किन्तु दुर्भाग्यवश अशोक अपने काल की परिस्थितियों में बहुत आगे आ गये थे जिसके कारण उनकी वह धर्म विजय का कार्यक्रम भारतीय राजनीति का स्थायी अंग न बन पाया। अब तो यह केवल बौद्धिक कल्पना मात्र की बात है कि यदि अशोक के पश्चात् भी भारतीय राजनीति उनके अहिंसात्मक सांस्कृतिक विजय के सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकार करके बनती तो भारतीय संस्कृति का कितना विस्तार आज पाया जाता? किन्तु हुआ इसके विपरीत ही। उनके उत्तरकालीन विद्वानों ने उनकी "देवानांप्रिय" उपाधि का अर्थ मूर्ख किया और उनकी सारी धर्म विजय की व्यवस्था ही उलट दी। तत्पश्चात् किसी समय पुनः वैसा और उस पैमाने पर राजनीति में अहिंसा का प्रयोग हुआ दिखाई नहीं देता।

महात्मा गांधी के नायकत्व में भारत को स्वातंत्र्य की प्राप्ति भी जनता की अहिंसात्मक साधनाओं द्वारा हो सकी और अहिंसा का सिद्धान्त भारत की राजनीति की मूलाधार शिला स्वीकार कर ली गई हैं, और जिस प्रकार पंडित नेहरू ने इसे अपनी स्वदेशी एवं विदेशी राज-व्यवहार में प्रयोग किया है, उससे समस्त संसार की दृष्टि भारतवर्ष की ओर आकृष्ट हुई है। संहार के महाभयंकर अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार के प्रकाश में इस समय जो युद्ध की महाभीषण आशंका लोगों के चित्त में उत्पन्न हो रही है उसके कारण और भी बड़ी आतुरता से भारत से "त्राहि माम" की याचना कर रहे हैं। जैनधर्म की अहिंसा, भारत की अहिंसा कहां तक संसार को अभयदान देने में समर्थ होती है यह देखना है।

अहिंसा को जनता मात्र के जीवन में उतारने-के दो ही उपाय हैं-एक लोगों की भोजन प्रणाली को मांस रहित बनाना और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अहिंसा के सिद्धांत को सर्वमान्य स्वीकृत कराना। इन दोनों कार्यों के लिये यह बड़ा स्वर्णावसर है। हिंसा के संबंध में नाना परिस्थितियों के अनुसार नानाप्रकार की शंकायें उपस्थित होती हैं कि ऐसी परिस्थिति में ऐसा करने से हिंसा हुई या नहीं। इन शंकाओं के निवारण में हिंसा का अमृतचन्द्रसूरि द्वारा पुरुषार्थ सिद्ध उपाय नामक ग्रंथ में किया गया निम्न विवेचन बहुत सहायक और जैन दृष्टिकोण को सुस्पष्ट करने वाला सिद्ध होगा—

अप्रादुर्भावः खलु शगादीनों भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोन्पत्ति हिंसेति जिन्तगमस्य संक्षेप।।
युक्ताचरणस्य सतो रागाघावे शमन्तरेणान्पि
न हि भवति जातु हिंसा प्राण व्ययरोपणादेव

व्युत्मानावस्थामां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्
म्रियत्तां जीवों मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा
यस्मात्सकषाय: सन् हनुयात्मा प्रथममात्मनात्मानम्
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु
हिंसायामविरमणं हिंसोपरिणमनमपि भवति हिंसा
तस्मात् प्रमत्तयोगे प्राण व्ययरोपणं नित्यम्
सूक्ष्मापिन खलु हिंसा पर वस्तु निबन्धना भवति प्रसंख
हिंसायतननिवृत्ति परिणामविशुद्ध ये तदपि कार्या
निश्चयमबुध्यमानो ये निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करण चरणं सबहि: करणाल सो बाल।
अविधायपि हिहिंस्यं हिंसाफल भाजनं भवत्येक:
कृत्वाप्य परोहिंसा हिंसाफल भाजनं न स्यात्
एक स्याल्प्य हिंसा ददाति काले फलमनत्यम्
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पकला भरति परिपाके
एकस्य सैर तीव्रं दिशसि फलं सैव मन्दमन्यस्य
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्रयमत्र फलकाले
प्रागेक फलति हिंसाडक्रियपाण फलति फालति च कृतापि
आरम्य कर्तुमकृताडपि फलति हिंसातुभावेन
एक: करोति हिंसा भवन्ति फल भगितो बहव:
व हको विदधति हिंसा हिंसाफल भुग्भवत्येक
कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेक मेव फलकाले
अन्यस्य सैर हिंसा दिशत्यहिंसा फलं किपुलम्
हिंसा फलमपरस्यक ददात्यहिंसा तु परिणामे
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं मान्यत्
इति विविध भंगगहने सुदुरतरे मार्ग मृण्दृष्टीन्तम्
गुरूवों भवन्ति शरणं प्रबुद्धनय चक्र संचारा:
अवब्रध्य हिंस्य हिंसक–हिंसा हिंसाफलानि तच्वेनति
निव्यमवगूहमानै र्निजशक्तया त्यज्यतां हिंसा

अकलंक देव ने व राजवार्तिक में प्रश्न उठाया है
जले जंतु: स्थले जंतुराकाशे जन्तुदेव च।
जंतुपालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसक:

और इसका उत्तर उन्होंने यह दिया है—

सूक्ष्म न प्रतिपीडयन्ते प्राणितः स्थलर्म्त्तयः
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा प्रयतात्यनः।।

पं. आशाधर जी ने भी कहा है—

विष्व जीवाचिते लोके कू चरन् कोच्च्यमोक्षमत।
भावैक साधनों बन्ध मोक्षौ चेन्वाभविष्यताम्।।

अहिंसा और अपरिग्रह की प्रतीक— महावीर जयन्ती

मानव संस्कृति के विकास में सबसे प्रबल प्रेरक शक्ति है "जीने की इच्छा"। प्रत्येक प्राणी छोटे-छोटे कीटाणु और बड़े से बड़ा दिग्गज हाथी, ऊंट या मनुष्य— घात शक्तियों से अपनी रक्षा और जीवित रहने के साधनों के संचय में अनुरक्त दिखाई देता है। नीति, सदाचार और धर्म के नियमों का यदि हम विश्लेषण करके देखें तो हम पायेंगे कि उन सब का मूल उद्देश्य जीवन की रक्षा करने की इच्छा है। सामाजिक जीवन के विकास से पूर्व मनुष्य की अधिकांश शक्ति जीविका साधनों के संचय सम्बन्धी परस्पर संबंध में व्यय हुआ करती थी। उसी अपव्यय और भय को दूर करने के लिये ज्ञानी महापुरुषों में सहयोगात्मक प्रणाली से सुख और शक्तिपूर्वक रचने के लिये सामाजिक जीवन-प्रणाली का आविष्कार किया। जियो और जीने दो, परस्पर मेल-जोल से जीवन के साधन जुटायें, एक-दूसरे की आवश्यकतायों को समझें और उनका निवारण करायें। इससे सभी को सुख-शान्ति मिलेगी और अधिक आनन्द का अनुभव होगा।

किन्तु धर्म और सदाचार के इस उत्तम व्यय को व्यवहारिक रूप देने में नाना कठिनाइयां उत्पन्न हुई। जगत यद्यपि बहुत विस्तीर्ण हैं, और काल अनादि हैं, तथापि उनमें जीवन के साधनों अर्थात् अन्न वस्त्रादि उत्पन्न करने की शक्तियों का एक सा वितरण नहीं पाया जाता। इस कारण सामाजिक संगठन हो जाने पर भी परस्पर सामुदायिक आक्रमणों का युग प्रारम्भ हो गया। एक देश-प्रदेश की सीमा से बाहर हमारे सामाजिक नियम नहीं चल सके। यह संकुचित क्षेत्रीय शक्ति का दृष्टिकोण आज भी संसार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में संघर्ष का वातावरण बनाये हुए हैं।

भारतवर्ष में समय-समय पर ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने मानव को एक विशाल दृष्टिकोण प्रदान कर संसार भर को स्नेह के सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा "मेरे और तेरे की गणना ओछे मन के लोगों की है।

उदार पुरुषों के लिये तो समस्त वसुधा ही एक कुटुम्ब है।" इस उत्कृष्ट मानवीय भावना को तीर्थंकर महावीर ने उसकी चरम सीमा पर पहुंचा दिया। उन्होंने आदर्श और व्यवहार में भी सामन्जस्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। मानव-मानव में ही नहीं, उन्होंने मानव और अन्य प्राणियों के बीच भी अहिंसा की भावना को स्थापित किया।

"अहिंसा परमो धर्मः" इस सूत्र को दो प्रकार से पढ़ा और समझा जा सकता है। तीनों तथ्यों को पृथक् रखकर उसका अर्थ किया जा सकता है कि अहिंसा ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। और यदि अहिंसा परमो का समास में मिलाकर अर्थ किया जाये तो आशय निकलता है कि धर्म वही है जिसमें अहिंसा को प्रधान स्थान दिया गया हो। तात्पर्य यह कि अहिंसा ही सच्चा धर्म है, और सच्चा धर्म वहीं है जो अहिंसा को मानकर चलता हो।

अहिंसा का उपदेश केवल जैनधर्म में दिया गया हो, सो बात नहीं है। सभी धर्मों में किसी न किसी सीमा तक अहिंसा के पालन का विधान पाया ही जाता है। किन्तु तीर्थंकर महावीर की परम्परा में अहिंसा पर धर्म का विशेष भार दिया गया है, और उसके परिपालन की सूक्ष्म व्यवस्थायें भी स्थापित की गई हैं। यदि जीवन के लिये अहिंसा का पूर्णता से पालन संभव नहीं है, तो व्यक्तियों की योग्यता और परिस्थितियों के अनुसार उसे तरतम भाव से पालन करना चाहिये। साधुओं पर उद्योग-धन्धों तथा कुटुम्ब आदि के परिपालन का कोई बोझ नहीं है। अतः उन्हें उत्कृष्ट आदर्श के रूप में अहिंसा का पालन करना चाहिये। वे ध्यान और सतर्कतापूर्वक समस्त जीवों की रक्षा करें। प्राणिजन की तो बात क्या, वे किसी को अपने वचनों व आचरण द्वारा लेशमात्र भी क्लेश न पहुंचायें। इस प्रकार साधुओं की अहिंसा एक महाव्रत है। किन्तु गृहस्थों को अपनी नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं, उद्योग-धन्धों एवं कुटुम्ब व देश के संरक्षण रूप कर्त्तव्य पालन में हिंसा से बचना संभव नहीं। अतएव उन्हें केवल संकल्पपूर्वक भोजन के लिये या क्रीड़ा-हेतु तथा राग-द्वेष की तीव्र प्रेरणा से अभिभूत होकर जीव हिंसा के पाप का परित्याग कराया जाता है। इस प्रकार गृहस्थों की अहिंसा एक अणुव्रत है।

भोजन की दृष्टि से यह बात ध्यान देने योग्य है कि मांस मनुष्य का स्वाभाविक आहार नहीं। विज्ञान जिस प्राणि वर्ग से मानव का विकास हुआ मानता है उस वानर जाति में मांस भक्षण की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। वानर सर्वथा शाकभोजी हैं जीव जगत् में यह भी पाया जाता है कि जो प्राणी जितनी मात्रा में अहिंसक होता है उसमें उतनी ही अधिक शिक्षा ग्रहण करने की

योग्यता पायी जाती है। बकरी, गाय, भैंस, घोड़ा, ऊंट, हाथी आदि पशु मांसभक्षी नहीं हैं। इसलिये वे बहुत कुछ सिखलाये जा सकते हैं, और वे मानवीय व्यापारों में बड़े सहायक सिद्ध होते है। उन्हीं में शीत-उष्ण आदि प्रकृति की द्वन्द्वात्मक कठोरताओं को सहन करने की विलक्षण शक्ति पाई जाती है। वे परस्पर मिलकर हिंसक पशुओं से अपनी रक्षा का भी प्रयत्न करते हैं। ये गुण सिंह-व्याघ्र आदि हिंस्त्र पशुओं में नहीं पाये जाते। यदि हम इस दिशा में गंभीर विचार करें तो समझ सकते हैं कि मांसभोजन व हिंस्रवृति मनुष्य की प्रकृति नहीं, किन्तु एक विकृति ही है।

पाप यर्थाथतः क्रिया में नहीं, किन्तु इस क्रिया को प्रेरित करने वाली भावना में है। अतएव भावशुद्धि पर भगवान, महावीर ने विशेष बल दिया है। सब प्राणियों को जीवन प्यारा है। आध्यात्मिक दृष्टि से वे सब एक ही पथ के पथिक हैं अतः उनमें परस्पर सहयोग और संरक्षण की वृत्ति होना चाहिये, एक-दूसरे को कुचलने की नहीं। और चूंकि मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ और समझदार है, अतएव उसके ऊपर अहिंसा की नीति के निर्वाह का सबसे अधिक उत्तरदायित्व है।

क्रोधादि कुभावनाओं के वशीकरण से हिंसा की ओर प्रवृत्ति स्वभावतः कम हो जाती है। किन्तु एक प्रबल कारण उस ओर प्रवृत्ति का बना ही रहता है। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन और सुख के लिये कुछ भौतिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। अन्न, वस्त्र, आश्रय आदि सुख-साधन सभी को चाहिये। पशु आदि भी इन्हीं की खोज में रहते हैं। किन्तु वे उनका संचय नहीं करते। मनुष्य में दूरदर्शिता प्रबल है। अतएव वह न केवल अपने लिये, किन्तु समस्त कुटुम्ब परिवार भर के लिये, और न केवल आज के लिये किन्तु चिरकाल के लिये भी द्रव्य संचय करना चाहता है। कुछ लोगों में तो संचय वृत्ति इतनी प्रबल और अविवेकपूर्ण हो जाती है कि वे यह भूल ही जाते हैं कि इस संचय का ध्येय क्या है। संचय ही उनके लिये अन्तिम उद्देश्य बन जाता है और वे उस हेतु अपना समस्त सुख खो बैठते हैं, दूसरों को भी दुःख पहुंचाते हैं और कलह में कभी अपनी जीवन लीला ही समाप्त कर बैठते हैं।

यद्यपि संसार की उत्पादन शक्ति अपरिमित है, फिर भी वह अनन्त नहीं। एक आचार्य ने कहा है कि "प्रत्येक मनुष्य के मन में लोभ रूपी गड्ढा इतना विशाल है कि उसमें यह विश्व अणु के समान छोटा पड़ता है। तब इतना जो विशाल जन समुदाय पृथ्वी पर निवास करता है उसमें संसार भर की वस्तुओं के वितरण से कितना क्या एक-एक के पल्ले पड़ेगा? अर्थशास्त्र के विज्ञाता

भी बतलाते हैं कि जिस गति से जनसंख्या बढ़ती है उसी गति से जीवन के साधन नहीं बढ़ाये जा सकते। जनसंख्या दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस ऐसे दुगुण क्रम से बढ़ सकती है, जबकि भोज्य पदार्थ दो, चार, छह, आठ, दस जैसे क्रम से ही बढ़ पाते हैं। यह एक ऐसी सीमा है जिसका विचार समझदार लोगों को करना चाहिये। और परिग्रह अर्थात् निर्वाह की वस्तुओं तथा धन द्रव्यादि के संचय पर अपनी आवश्यकता का ध्यान रखकर स्वयं एक नियंत्रण लगाना चाहिये। तभी सबको निर्वाह योग्य वस्तुएं सुलभ हो सकती हैं। इस तथ्य को स्वीकार करके ही शासन द्वारा समवितरण अर्थात् राशनिंग की प्रणाली अपनाई जाती है। किन्तु जब व्यक्तियों में लोभ का संवरण नहीं है और उनमें संचय वृत्ति तीव्र है। तब यह समवितरण की प्रणाली समस्या को हल नहीं करती, उल्टा भ्रष्टाचार को जन्म देती है, जिससे सभी ग्रस्त है, मनुष्य के हृदय में जब तक धर्म का अंकुश नहीं लगता, तब तक भ्रष्टाचार निरोध की शृंखलायें दोष का निवारण नहीं कर पातीं। उनके द्वारा केवल लुक्काछिप्पी की परम्परायें पनपती हैं अतएव बाहर के पुलिसमैन अर्थात व्रत रूपी निरीक्षक को बैठाने का भगवान् महावीर ने उपदेश दिया है।

इस प्रकार धर्म की अपरिमित व्यवस्थाओं के बीच अहिंसा और परिग्रह परिमाण रूप व्रतों का विधान भगवान् महावीर की मानव को एक बहुत बड़ी देन है, जिससे जीवन में वह निखार आता है जो समस्त संघर्ष और संहाररूपी कलंक को धो डालने का सामर्थ रखता हैं। तीर्थंकर महावीर का जन्म हुए आज अढ़ाई हजार वर्षों से अधिक काल व्यतीत हो गया। तो भी उनका उक्त उपदेश जैन साहित्य में ही नहीं, समस्त भारतीय साहित्य में मूल रहा है। उसी की स्मृति के लिये प्रतिवर्ष अहिंसा और अपरिग्रह की प्रतिमूर्ति महावीर जयन्ती मनाई जाती है।

अहिंसा बनाम स्वदेश रक्षा

जैनधर्म में जो अहिंसा पर अधिक जोर दिया गया है उसके कारण कुछ लोग उसे अव्यवहारिक तथा राष्ट्र को निर्बल बनाने वाला समझते हैं। किन्तु यह उनका भ्रम है और जैनधर्म के इस सिद्धान्त के उथले व अपरिपक्व ज्ञान का घोतक है। जैनधर्म के संस्थापक व प्रचारक आदितः क्षत्रिय थे। अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर के तो नाम से ही प्रकट है कि धर्म के क्षेत्र में भी पराक्रम और शूरवीरता का कितना महत्व है। जब आदि तीर्थंकर ने कर्मभूमि की व्यवस्था बनाई तब गृहस्थों के छह कर्मों में उन्होंने असि कर्म अर्थात् तलवार चलाने की क्रिया और अभ्यास को सर्वप्रथम स्थान दिया। इस कर्म में विशेष योग्यता प्राप्त करने वाले शस्त्रजीवी क्षत्रिय वर्ण को उन्होंने अपनी वर्ण-व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान दिया, क्योंकि जब तक सुरक्षा की व्यवस्था न हो जब तक विद्याभ्यास आदि अन्य सत्क्रियायें चल नहीं सकती। निस्तेज और निर्वीर्य शरीर से पूर्ण धर्म-साधना की योग्यता भी जैन धर्म नहीं मानता। उसके लिये वज्र-वृषभ-नाराच संहनन अर्थात् फौलादी शरीर प्राप्त करना अनिवार्य बतलाया गया है। गृहस्थों के लिये जिन बहत्तर कलाओं को सीखने का उपदेश जैन शास्त्रों में दिया गया है उनमें धनुर्वेद, चक्र और तलवार चलाने का कौशल, सेना प्रमाण और स्कंधावार सन्निवेश, गरूडव्यूह, शकटव्यूह आदि व्यूह प्रतिव्यूह रचना, घोड़े और हाथी की सवारी, नाना प्रकार की युद्धक्रियायें जैसे बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, लतायुद्ध, निर्युद्ध, युद्धातियुद्ध, प्रहार-हरण स्तम्भन, मोहन आदि कलाओं का विधान पाया जाता है। उन कलाओं को सिखाने वाले कलाचार्य व शिल्पाचार्य भी हुआ करते थे। जैनधर्म के सच्चे उपासक राजा महाराजा व चक्रवर्त्तियों के अगणित चरित्र जैन पुराणों में वर्णित है। जिनमें उनके देश रक्षा व शत्रुदमन के कार्यों में नाना प्रकार के युद्ध कौशल और शस्त्रचातुरी के आख्यान समाविष्ट हैं। ऐतिहासिक काल में भी कलिंग नरेश खारवेल, गंग, कदम्ब आदि वंशों के जैन पक्षपाती नृप गुजरात के राजा कुमारपाल आदि के साक्षात् दृष्टान्त इस बात के प्रमाण में उपस्थित है कि

जैनधर्म की उपासना और राष्ट्र की सुरक्षा व उत्थान के कार्य में युद्ध संबंधी तत्परता के बीच कोई विरोध नहीं, किन्तु सामञ्जस्य है।

जैनधर्म के संस्थापक व प्रचारक आदितः क्षत्रिय थे। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के तो नाम से ही प्रकट है कि धर्म के क्षेत्र में भी पराक्रम और शूरवीरता का कितना महत्व है। जब आदि तीर्थंकर ने कर्मभूमि की व्यवस्था बतलाई तब गृहस्थ के षट्कर्मों में उन्होंने असि-कर्म अर्थात्-तलवार चलाने की क्रिया और अभ्यास को सर्वप्रथम स्थान दिया। इस कर्म में विशेष योग्यता प्राप्त करने वाले शस्त्रजीवी क्षत्रिय वर्ण को उन्होंने अपनी वर्ण व्यवस्था में सर्वोच्च ब्राह्मण वर्ण से ऊपर स्थान दिया, क्योंकि जब तक सुरक्षा की व्यवस्था न हो तब तक विद्याभ्यास आदि अन्य सत्क्रियायें चल नहीं सकती। निस्तेज और निवीर्य शरीर से पूर्ण धर्म साधना की योग्यता ही जैन धर्म नहीं मानता। उसके लिये वज्र-वृषभ नाराच संहनन अर्थात् फौलादी शरीर प्राप्त करना अनिवार्य माना गया है। गृहस्थों के लिये जिन बहत्तर कलाओं को सीखने का उपदेश जैन शास्त्रों में दिया गया है उनमें धनुर्वेदचक्र और तलवार चलाने का कौशल सेना का प्रमाण और सन्निमेश गरूडव्यूह, शकट आदि व्यूह प्रतिव्यूह रचना घोड़े और हाथी की सवारी नाना प्रकार की युद्ध क्रियाऐं जैसे बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, लतायुद्ध, निर्युद्ध, युद्धातियुद्ध, प्रहार-हरण स्तम्भन, मोहन आदि कलाओं का विधान पाया जाता है। इनके सिखाने वाले शास्त्राचार्यों से भिन्न कलाचार्य व शिलाचार्य भी हुआ करते थे। जैनधर्म के सच्चे उपासक चक्रवर्तियों तथा राजा महाराजाओं के अगणित चरित्र जैन शास्त्रों में वर्णित है जिनमें उनके देश रक्षा व शत्रु दमन के कार्यों में नाना प्रकार के युद्ध कौशल और शस्त्र चातुरी के आरयान समाविष्ट हैं, ऐतिहासिक काल में भी कलिंग नरेश खारवेल, गंग, कदम्ब आदि वंशों के जैन पक्षपाती नृप गुजरात के राजा कुमारपाल आदि के साक्षात् दृष्टान्त इस बात के उपस्थित है कि जैनधर्म की उपासना और राष्ट्र की सुरक्षा व उत्थान के कार्य में युद्ध सम्बन्धी तत्परता के बीच कोई विरोध नहीं किंतु सामाञ्जस्य है। गंग राज्य आधुनिक मैसूर में फैला हुआ था जिसकी नींव सुदृढ़ करने में जैनाचार्य सिंहनन्दि के साहाय्य का उल्लेख उनेक शिलालेखों में पाया जाता है। गंग नरेश राचमल्ल के मंत्री व सेनानायक चामुण्डराय इतने धार्मिक थे कि उन्होंने श्रवणवेल्गोला के विन्ध्यगिरि पर्वत पर गोम्मटेश्वर बाहुबली की वह विशालमूर्ति स्थापित कराई जो भारतीय मूर्तिकला का एक असाधारण उदाहरण हैं। इस वंश के प्रतापी नरेश आरसिंह ने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करके राष्ट्रकूट में अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा की।

भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म में जो अहिंसा पर इतना जोर दिया गया है, उसके कारण कुछ लोग जैनधर्म को अव्यवहारिक तथा राष्ट्र को क्षीण शक्ति करने की प्रवृत्ति को उत्तेजक समझते हैं। किन्तु यह उनका भ्रम हैं। और जैनधर्म के इस सिद्धान्त के उथले व अपरिपक्व ज्ञान का द्योतक है।

तीर्थंकर क्षत्रिय
वर्धमान–महावीर
मुक्ति साधन के लिये वज्र–वृषभ नाराचसंहवन
मुनि और गृहस्थ धर्म पृथक
गृहस्थ धर्म में आरंभी हिंसा का त्याग नहीं
क्षत्रिय वर्ण स्थापना व उसके कर्तव्य (महाप्र.)
नाना सैनिकों व सचिवों के उदाहरण
कर्माणीभानि बोढा हयः प्रजाजीवनहेततः।

म.प्र. १६, १७९ आदि

(चामुण्डराय आचारसार के कर्ता असि, मषि–कृषि विद्या, वाणिज्य, शिल्प, उद्योग, विधान कलाओं में युद्ध–धनुर्वेद।

क्षत्रियाः शास्त्रजी वित्वम्
क्षतत्राणादिमिर्गुर्णः
पावती जगतीवृत्तिः अपापोपहता च या।
सा सर्वास्य मतेनासीत्, स हि धाता सनातन।।
जह रायकुल पस्ओ जोग्गं णिच्चमणि कुणइ परियम्नं
तो जिदकरणों जुज्झे कम्मसमत्थो भविस्सदि हि
इस सामझण. साहू वि कुणइणिच्चमणि जोग्गदरियम्मं।।
तो जिदकरणों मरणे काणसमत्थों भविस्सदि हि।

(भग. आ. २०–२१)

वे जैनधर्म के इतने मर्मज्ञ विद्वान थे कि उन्होंने न केवल नेमिचन्द्राचार्य को गोम्मटसार जैसे सिद्धान्त ग्रंथ की रचना के लिये प्रेरित किया, किन्तु स्वयं भी चारित्रसार नामक वह संस्कृत ग्रंथ रचा जो न केवल जैन गृहस्थों के आचार पर किन्तु जैन मुनियों की चर्चा के लिये भी प्रमाणभूत माना जाता है। कन्नड़ में उन्होंने एक पुराण की भी रचना की जो चामुण्डराय पुराण कहलाता है। ऐसे धार्मिक विद्वान चामुण्डराय ने अपनी सत्य निष्ठा के लिये सत्ययुधिष्ठिर की उपाधि भी पाई थी तथा गंग राष्ट्र की रक्षा और समृद्धि के लिए अनेक युद्धों

का सफल संचालन करके भुजविश्राम, समर-धुरंधर, वीरमार्तण्ड, रणरंगसिंह, वैरिकुलकालदण्ड, समर परशुरराम जैसी उपाधियाँ प्राप्त की थी। होय्यसल वंश के प्रतापी नरेश विष्णुवर्धन के महासामन्त गंगराज ने अनेक जैन मंदिर बनावाकर व उन्हें दान देकर जैन धर्मामृताम्बुधि पवर्धन सुधाकर व सम्यकत्व रत्नाकर की उपाधियाँ भी प्राप्त की तथा अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर महाप्रचण्डदण्डनायक वैरिदमनायक आदि उपनाम भी पाये। इसी वंश के राजा वीरवल्लाल के दण्डाधिपति हल्ल ने सेना भव्यचूडामणि नामक मंदिर बनवाकर तथा अन्य का संचालन भी किया और धार्मिक कृत्यों द्वारा सम्यक्त्व चूड़ामणि का पद भी पाया। सेनानायक भरतेश्रवद् राजाधिराज व मंत्री रस्तुपाल तेजपाल, मंत्री भामाशाह आदि के अनेक उदाहरण हमारे सम्मुख विद्यमान हैं जिनसे निस्सन्देह रूप से सिद्ध है कि देश की प्राणरक्षा के लिये निर्भय रूप से युद्ध करने तथा आत्मकल्याण के लिये धर्मोपासना में रण छोड़कर हतोत्साह होने में कोई विरोध नहीं है। भामाशाह ने तो अपने जीवन में संचित किये सुवर्ण कोष को महाराणा प्रताप के हाथों में देकर अनुपम उदाहरण रखा। धर्म भावना और युद्ध साधना में विरोध दिखाई देने का कारण है जैनधर्म की वैशिष्टतम् कर्म शैली की नासमझी। जैनधर्म अनेकान्त मूलक है। किसी भी वस्तु व नियम को पूर्णरूप से समझने के लिये परिस्थितियों का परिज्ञान आवश्यक है। जैनधर्म में अहिंसा को धर्म का मूल माना गया है। किंतु उसके परिपालन में तरतमभाव स्वीकार किया गया है। इसके लिये मनुष्य समाज को दो वर्गों में बांटा हैं। एक है त्यागी वर्ग जो राग-द्वेष को पूर्णरूप से जीतकर वीतराग भाव से आत्म के साथ विश्व कल्याण भी करना चाहते हैं। उनके लिये शत्रु और मित्र राजा और रंक सोना और पत्थर, कामिनी और पिशाचिन्नी सब एक बराबर हैं। वे घर में नहीं रहते वे तिल तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखना चाहते। इस समताभाव और त्याग वृत्ति द्वारा वे मनुष्य मात्र के विश्वासपात्र बनकर अपने आदर्श और उपदेश द्वारा मानवीय समाज के नैतिक उत्थान का प्रयत्न करते हैं। उनके लिये अहिंसा-धर्म अपने पूर्ण रूप में पालन करना आवश्यक है। उन्हें अर्धवतारण और असिप्रहारण में तथा चन्दन से लेप और वसूले से अंग छेद में भी अपने मन को राग-द्वेष रहित बनाये रखने की साधना का विधान किया गया है। यह अहिंसा महाव्रत का स्वरूप है जो जैन गृहस्थों के लिये लागू नहीं होता। जैन गृहस्थों के लिये जिस रूप में अहिंसा के पालन का विधान किया गया है वह कहलाता है अणुव्रत। इसके लिये हिंसा दो भागों में बांटी गई है। एक संकल्पी हिंसा और दूसरी आरम्भी हिंसा मुनियों के लिये दोनो प्रकार की हिंसा वर्ज्य

है। किन्तु गृहस्थों को निषेध केवल संकल्पी हिंसा का किया गया है। घर गृहस्थी के उद्योग-धंधों के तथा जानमाल व देश धर्म की सुरक्षा के प्रयत्नों में सावधानी रखने पर भी जो हिंसा अनिवार्य होती है उसका गृहस्थ को त्याग नहीं कराया जाता। यही नहीं उसे हिंसा भी नहीं कहना चाहिये। ऊपर हमने जिन वीरमार्तण्ड चामुण्डराय द्वारा निर्मित चारित्रसार का उल्लेख किया है उसके अनुसार अपने कर्तव्य पालन के लिये तलवार चलाने, कलम चलाने तथा खेती व वाणिज्य आदि करने में जो हिंसा होती है वह हिंसा है ही नहीं, क्योंकि यहाँ भावना हिंसा करने की नहीं किन्तु आत्म व पर भावना रक्षा की है। हाँ धार्मिक गृहस्थ धर्म के लिये देवता को प्रसन्न करने के लिये, मंत्र सिद्धि के लिये एवं औषध व आहार के लिये जीव हिंसा नहीं करते। यदि असावधानी से हो जाये तो प्रायश्चित द्वारा उसकी शुद्धि कर लेते हैं। यह विधान केवल समर-धुरंधर चायुण्डराय ने ही किया हो सो बात नहीं है क्योंकि यही बात आचार्य अमृतचन्द्र, सोमदेव, अमितगति आशाधर आदि ने भी अपने श्रावकाचार संबंधी प्रकरणों में कही है।

इस विवेचना से सुस्पष्ट है कि जैनधर्म से देश व समाज, सभी का सम्बन्ध है।

अहिंसा, जैन-दर्शन और आधुनिक युग

आधुनिक युग बुद्धि प्रधान है। लोग प्रत्येक बात को क्या और क्यों आदि प्रश्नों द्वारा समझना चाहते हैं। समझ कर ही बात ग्रहण करना चाहते हैं जो जीवन में उपयोगी हो, व्यावहारिक हो और सुखकारी हो। इस दृष्टि से स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौन सी सांस्कृतिक देन है जिसके कारण इस महापुरुष की स्मृति उसके निर्वाण से आज लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पश्चात् भी हमारे मन में इस प्रकार ताजी बनी हुई है।

यह तो भली-भाँति विदित है कि भगवान् महावीर अंतिम जैन तीर्थंकर थे। उन्होंने इसी बिहार राज्य के विदेह प्रदेश में वैशाली नगरी के कुंडपुर कहलाने वाले भाग में जन्म लिया था। यह वही वैशाली नगरी थी जहाँ लिच्छवि क्षत्रियों का गणराज्य स्थापित था और जो भगवान बुद्ध को भी बहुत प्रिय थी। काल चक्र के प्रभाव से यह इतिहास प्रसिद्ध नगरी सातवीं शताब्दी के पश्चात् एक प्रकार से लुप्त और अशांत हो गई। यहाँ तक कि जैन धर्मानुयायियों को अपने पूज्य तीर्थंकर की सच्ची जन्मभूमि का पता ही नहीं रहा। यह आधुनिक युग की खोजबीन का ही प्रभाव है गत कुछ वर्षों में न केवल उस भूमि का ठीक-ठीक पता चल गया किन्तु परम्परागत मान्यता के बल पर एक ऐसा स्थल भी मिल गया जहाँ भगवान महावीर का जन्म हुआ था। वह स्थल उसके भूस्वामी ने बिहार सरकार को दान कर दिया और वहाँ सरकार की ओर से महावीर स्मारक भी खड़ा कर दिया गया है। जिसका उद्घाटन सन् १९५६ में महावीर जयन्ती के अवसर पर हमारे राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी ने किया था।

इस महावीर स्मारक के उद्घाटन के साथ-साथ राष्ट्रपति महोदय के कर-कमलों द्वारा वैशाली में प्राकृत जैन तत्वज्ञान व अहिंसा संबंधी उच्च अध्यापन और अनुसंधान पीठ का शिलान्यास भी किया गया था। इस पीठ के भवन का निर्माण इस प्रांत के प्रधान उद्योगपति साहू शांति प्रसाद जैन के आठ लाख रुपयों के दान से हुआ है। विद्यापीठ का कार्य फिलहाल मुजफ्फरपुर में चल रहा है। इस समय वैशाली में जो महोत्सव मनाया जा रहा है। वह इस राज्य का एक अद्वितीय सांस्कृतिक उत्सव है और वह इस बात का प्रमाण है कि यह

राज्य भगवान महावीर की सांस्कृतिक देन का कितना सम्मान और आदर करता है।

संक्षेपत: भगवान महावीर का उपदेश यह था कि संसार के प्राणि-मात्र में जो जीव या आत्म-तत्व है वह परमात्म स्वरूप की योग्यता रखता। इस दृष्टि से मनुष्य मात्र ही नहीं किन्तु प्राणिमात्र एक है। जाति-पांति भेद आत्मा के भेद नहीं। वे कृत्रिम और भ्रान्तिमूलक हैं। भले ही हम अपने कुछ विकसित गुण-धर्मों व व्यवसायों के आधार पर अनेक वर्ण और वर्ग खड़े कर लें। किन्तु वे जीवों के सच्चे भेद नहीं। इस प्रकार जीवमात्र में उसके नाना रूप रहते हुए भी एकत्व है। हाँ, देशकालानुसार जीवों की परिस्थितियाँ अवश्य भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु वे सब अपने-अपने साधनों के अनुसार गति कर रहे हैं उसी परमात्मत्व की ओर इस दृष्टि से वे सब एक ही मार्ग के पथिक हैं। अतएव उनमें वही भाईचारे का परस्पर सहयोग और सहायता का भाव होना चाहिये जो एक ही मार्ग पर चलने वाले पथिकों के बीच होता है। चूँकि मनुष्य सब जीवों में श्रेष्ठ और विशेष साधन-संपन्न हैं, अत: उसे अपने इस आत्मैकत्व पर सबसे अधिक ध्यान होना चाहिये और तदनुसार उसकी वृत्ति होना चाहिये विश्व-जनीन अर्थात् सबके सुख और कल्याण की ओर।

जैनधर्म का यह आत्मैत्व वैदिक परम्परा के ब्रह्मैकत्व से सर्वथा भिन्न है। वेदान्तदर्शन जहाँ एक ही मौलिक तत्व-ब्रह्म को स्वीकार करता है एवं समस्त भौतिक संसार तथा प्राणियों की भिन्नता को असत्य, माया-जाल कहकर मिथ्या ठहराता है, वहाँ जैनदर्शन जड़ और चेतन-अजीव और जीव इन दोनों तत्वों को मौलिक रूप से स्वीकार करता है। वह जीवों की अनन्त संख्या मानता है और उनका त्रैकाल्य में स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करता है। प्रत्येक प्राणी अनादि काल से अपने कर्मानुसार सुख-दु:ख की नई-नई योनियाँ प्राप्त करता चला आ रहा है और वह अनन्त काल तक स्वतंत्र ही रहेगा। संसार परिभ्रमण से मुक्ति मिल जाने पर भी सिद्ध लोक में वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोता नहीं है।

जैनधर्म का यह द्वैतवाद सांख्यदर्शन के अनुकूल है जहाँ प्रकृति और पुरुष दोनों पृथक सत्ताओं के रूप में स्वीकार किये गये हैं। यदि आज की नये वैयक्तिक स्वातंत्र्य की भावना से उसका मिलना किया जाय तो जैनधर्म सोलहों आने इस भावना के अनुकूल पाया जाता है। जिस प्रकार आज तक सत्तात्मक प्रणाली एक राजा या सेनानायक का शासन, गणतंत्रात्मक, सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था के प्रतिकूल समझी जाती है और उसका सर्वत्र त्याग किया जा रहा है, उसी प्रकार धार्मिक व दार्शनिक क्षेत्र में जैनधर्म किसी एक ईश्वर

का शासन स्वीकार नहीं करता है और किसी प्राणी को अपने सुख-दुःख आदि के लिये उसकी कृपा व प्रसाद पर अवलंबित नहीं बनाता। सब प्राणी अपने पूर्व संचित कर्मों के संस्कार एवं प्रकृति की भौतिक शक्तियों की सीमा के भीतर अपने कर्म या अपने भविष्य निर्माण में व अपने उत्तरदायित्व में स्वतंत्र हैं। इस दृष्टि से जैनधर्म अनीश्वरवादी कहा जा सकता है। किन्तु वह ऐसी आत्माओं को स्वीकार करता है जो शुद्ध-बुद्ध और मुक्त होकर परमात्मत्व को प्राप्त हो चुकी हैं। ये ही परमात्मा जैनधर्म में पूज्य और आदर्श माने जाते हैं।

इस परमात्मत्व की ओर ले जाने वाली कौन सी सरणि है, कौन सा धर्म और आचार है, कौन सी मनोवृत्ति है, यह भी जैनधर्म की अपनी विशेष वस्तु है। प्राणियों का आचरण दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो मानसिक और दूसरा शारीरिक, हम जो कुछ अपने शरीर से करते है, उससे पूर्व हमारे मन में उस क्रिया के संबंध में कोई भाव, विचार, प्रेरणा या आवेग उत्पन्न होता है। यही हमारी मानसिक क्रिया या भावाचरण है जिसके अनुसार हमारी आत्मा में अच्छे या बुरे संस्कार या पुण्य-पाप रूप कर्म-बंधन उत्पन्न होते हैं, पश्चात् शारीरिक क्रिया से ये बंधन दृढ़ हो जाये किन्तु यथार्थ विकृति उत्पन्न करने वाला है हमारा भावाचरण, राग और द्वेषात्मक चित्र वृत्तियाँ बुरे संस्कार उत्पन्न करती हैं, और उनसे रहित ध्यान वृत्तियाँ सुसंस्कार उत्पन्न कर आत्मा को शुद्ध बनाती है।

राग द्वेषात्मक वृत्ति को उत्पन्न करने वाली एक सबसे प्रबल मानसिक परिस्थिति है एकान्त दृष्टि जैनधर्म ने इस एकान्त दृष्टि को छोड़कर अनेकान्त दृष्टि पर बहुत जोर दिया है। संसार में जितने पदार्थ व जितनी घटनायें हमारे सन्मुख उपस्थित होती हैं वे बहुगुणात्मक हैं। उनके विषय में एकान्ततः यह कहना कि यह ऐसी ही है, वैसी नहीं बुरी ही है, अच्छी नहीं, आदि बातें भ्रान्तिमूलक हैं। प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते हैं, अनेक अवस्थायें होती हैं, और अनेक गुणधर्म होते हैं। इनमें से किसी एक समय हम उसके प्रस्तुत, एकाध गुणधर्म का ही प्रधान रूप से विवेचन करते हैं, किन्तु उसके अन्य गुणधर्म उस समय भी गौण रूप से हमारी दृष्टि में रहना चाहिये। जब वे हमारी दृष्टि में रहते हैं तभी हमारी दृष्टि अनेकान्तात्मक शुद्ध कहीं जा सकती है। आग्रह पूर्वक एक ही गुणधर्म मात्र पर जोर देना और दूसरे गुणों को सर्वथा दृष्टि से ओझल कर देना ही एकान्त दृष्टि है जो दूषित है। उदाहरणार्थ, जब हम विष को उसकी घातक शक्ति के कारण बुरा कहें तब यह बात भूलना नहीं चाहिये कि उसमें उत्तम औषधि के गुण भी हैं जिनके द्वारा वह व्याधियों का उपहरण

कर जीवन की रक्षा कर सकता है, और इस कारण वह अच्छा भी है। शक्कर के लड्डुओं को हम अच्छा अवश्य कहें, किन्तु यह भूल जाना हितकर न होगा कि अस्वास्थ्य की अवस्था में या मात्रा से अधिक सेवन से वे बुरे और हानिकर भी कहे जा सकते हैं। यही जैनधर्म का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद है। जिसके द्वारा वह वैयक्तिक व सामाजिक क्षेत्रों के नाना मतभेदों व संघर्षों का निराकरण कर विचार सामञ्जस्य उत्पन्न करना चाहता है। इसलिये आज से कोई डेढ़ हजार वर्ष पूर्व एक आचार्य ने भगवान महावीर की स्तुति करते हुए उनके इस अनेकान्तात्मक उपदेश को सर्वोदय तीर्थ कहा है :—

सवोन्तवत् तगुण-मुख्य-कल्पम
सर्वान्त-शून्य च मिथ्योंनपेक्षम।
सर्वा-पदामन्त करं निरन्तं
सर्वोदमं तीर्थमिदं तवैव

स्तुतिकार कहते हैं, हे भगवान आपने जो वस्तु स्वरूप का कथन किया है उसमें मुख्यता या गौणता से समस्त गुणधर्मों का समावेश हो जाता है। ऐसा कोई गुणधर्म आप स्थापित नहीं करते जो अपने सहभावी गुणधर्मों की अपेक्षा न रखता हो। इसी कारण आपका उपदेश समस्त आपत्तियों का अन्त करने वाला है। अनन्त कालीन अर्थात् शाश्वत् है और सर्वोदय तीर्थ कहा जाने योग्य है।

मुझे भरोसा है कि यदि आज के सर्वोदयवादी उपदेशक महावीर भगवान के इस सर्वोदय तीर्थ की ओर ध्यान देकर उसका मर्म समझे और अपनी विचार सरणि में उसे उतारने की प्रयत्न करें तो उनका अपने उद्देश्यों की पूर्ति में बड़ा लाभ हो सकता है।

इस सर्वोदय तीर्थ की सामंजस्य भावना का मुख्य ध्येय यही है कि एक तो हम वस्तु के सर्वांगीण स्वभाव को समझ सकें और दूसरे हम परस्पर सहयोग और सद्भाव स्थापित कर वह शान्त और सुखमय वातावरण स्थापित कर सकें जो सामाजिक जीवन का मूलाधार है। विशेष प्रश्न है विरोध में सामंजस्य की खोज और वह इसी अनेकान्त दृष्टि द्वारा संभव है। विरोध की परम्परा द्वेष-बुद्धि उत्पन्न करता है जिसका परिणाम है हिंसा और तज्जन्य संहार। हिंसा और संहार के वातावरण में न मानसिक शांति संभव है और न किसी प्रकार की उन्नति हमारी सारी शक्ति संघटनात्मक कार्य में नहीं, किन्तु विघटन में लग जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से इस हिंसात्मक वृत्ति का परिणाम यह होता है कि जीव की परमात्मत्व की ओर गति रूक जाती है और उसमें वे अधर्म वृत्तियाँ जागृत हो जाती हैं जो उसे अधः पतन की ओर ढकेलती हैं।

आज के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसका स्पष्ट उदाहरण दिखाई दे रहा है। उसका उपाय भी केवल यही है कि हम विशेष मूलक हिंसा का परित्याग कर सामंजस्य मूलक अहिंसा भाव स्वीकार करें। इसी दृष्टि से जैनधर्म में क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि रागद्वेष वृत्तियों को जीतकर सब प्रणियों की ओर मैत्रीभाव और अहिंसात्मक वृत्ति पर बड़ा जोर दिया गया है और अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया गया है। अपने और पराये हित की दृष्टि से अहिंसा ही परम धर्म है और धर्म वही है जो अहिंसा परायण हो यह जैनधर्म के आचार शास्त्र का मूलाधार है। इसका भारतवर्ष के समस्त धर्मों और सम्प्रदायों पर प्रभाव पड़ा और अन्त में अहिंसा इस देश की राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय नीति का आधार बन गया। हिंसात्मक विधि-विधानों का यहाँ से सदा के लिए लोप हो गया।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भगवान महावीर ने यह जैनधर्म संबंधी समस्त विचारधारा का स्वयं आविष्कार किया या यह दर्शन उन्हें पूर्व परम्परा से प्राप्त हुआ था। इस संबंध में भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के जीवन पर तुलनात्मक दृष्टि डालना आवश्यक है। बुद्ध ने गृहत्याग कर एक के पश्चात् दूसरे अनेक ऋषि, मुनि व संयासियों का आश्रय लिया और अन्ततः उनकी प्रवृत्तियों से निराश होकर उन्होंने अपने उस मार्ग का आविष्कार किया जिसकी मध्यम प्रतिपदा के नाम से प्रसिद्धि हुई। बुद्ध भगवान ने इसे अपनी ही मौलिक सूझ या बोधि कहा है। इस प्रकार बुद्धधर्म के प्रतिष्ठापक स्वयं भगवान बुद्ध ही हैं। किन्तु भगवान महावीर की बात ऐसी नहीं है, जब वे गृहत्याग कर श्रमण हुए, तब तक सुनिश्चित शैली से ही उन्होंने मुनिवृत्ति धारण की उसमें कभी कोई विपरिवर्तन की उन्हें आवश्यकता नहीं पड़ी और न कभी उन्होंने अपने प्रवचन में यह बात कहीं कि वे कोई नवीन सत्य व तथ्य की स्थापना कर रहें हैं। यर्थाथतः उनके समय में पाश्र्वापत्य सम्प्रदाय था और उसके मतों का वे आदर करते थे। खोज करने से सिद्ध हो जाता है कि उन्होने वही श्रमण धर्म स्वीकार किया था जिसकी स्थापना आदि तीर्थंकर ऋषभ देव ने की थी। ऋषभ देव की कथा वैदिक परम्परा के भागवत पुराण में विस्तार से वर्णित हैं। वहाँ बतलाया गया है कि वे वातरशना श्रमणों की परम्परा में हुए थे। इन वातरशना मुनियों का उल्लेख भारत के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में भी पाया जाता है और उनके मुनि केशी की चर्चा का भी वहाँ कुछ वर्णन है, जो जैन मुनि वृत्ति से मेल खाती है। श्रमण और ब्राह्मण ऋषि मुनियों के उल्लेख समस्त प्राचीन साहित्य में भरे पड़े हैं। ब्राह्मण ऋषि जहाँ गृहस्थ थे गौओं का दानादि लेते थे, पक्षादि विधान करते

कराते थे और चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का समर्थन करते थे, वहाँ श्रमण मुनि सर्व परिगृह त्यागी यहाँ तक कि नग्न भी होते थे, हिंसक यज्ञों का विरोध करते थे— तथा चातुर्वर्ण व्यवस्था का तिरस्कार कर मनुष्य मात्र की एकता पर जोर देते थे। श्रमणों की यह परम्परा मगध व विदेह में विशेष रूप से प्रबल रहीं और उसी श्रमण परम्परा ने भगवान् बुद्ध व भगवान् महावीर जैसी पुरुष-विभूतियों को उत्पन्न किया। इसी कारण वैदिक परम्परा में मगध देश का कुछ तिरस्कार किया गया पाया जाता है, क्योंकि वहाँ प्रविष्ट होने वाले आर्यों को वैदिक परम्परा से भ्रष्ट होने का सदैव भय रहता था।

भले ही प्राचीनकाल में श्रमणों और ब्राह्मणों में विरोध रहा हो, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से ये दोनों भारतीय धार्मिक विकास के आधार स्तंभ रहे हैं और इसी कारण अशोक जैसे सम्राटों ने दोनों का आदर किया। वैदिक दर्शनों के साथ-साथ जैन और बौद्ध अवैदिक दर्शनों का अध्ययन करने की भी परिपाटी रहीं है। वैदिक परम्परा में संस्कृत भाषा का ही विशेष रूप से आदर रहा। भगवान महावीर और कुछ श्रमणों ने लोक भाषाओं में उपदेश दिया और उनके अनुयायियों ने प्राकृत व पाली भाषा में ग्रंथ रचना की। जैन परम्परा के बल से प्राकृत भाषा और साहित्य खूब परिपुष्ट हुआ जिसके अध्ययन किये बिना न तो भारतीय संस्कृति का पूरा ज्ञान हो सकता है और न आधुनिक युग की भाषाओं का विकास ही शास्त्रीय रीति से समझ में आता है। इसीलिये तो बिहार सरकार ने वैदिक व संस्कृत के उच्च अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ पाली व प्राकृत के भी स्नानकोत्तर अध्यापन व अनुसंधान के लिये क्रमशः नालंदा और वैशाली में अलग-अलग संस्थायें स्थापित की हैं। जो कंधें से कंधा मिला कर चल रहीं हैं।

प्राकृत नामक लोक भाषाओं को यह प्रतिष्ठा देने वाले व जैन तत्व ज्ञान की ज्ञान गंगा को देश में प्रवाहित कर भारतीय चिन्तन को हरा-भरा बनाने वाले उन्हीं भगवान महावीर तीर्थंकर की २६००वीं जन्म जयन्ती तीसरी सहस्राब्दी के प्रथम वर्ष में मनाई जा रही है।

क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद हैं?

जैन समाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो सम्प्रदाय मुख्य हैं। इन सम्प्रदायों में शास्त्रीय मान्यता सम्बन्धी जो भेद हैं उनमें प्रधानतः तीन बातों में मतभेद पाये जाते हैं। एक स्त्रीमुक्ति के विषय पर, दूसरे संयमी मुनि के लिये नग्नता के विषय पर और तीसरे केवलज्ञानी को भूख-प्यास आदि वेदनाएं होती हैं या नहीं इस विषय पर। इन विषयों पर क्रमशः विचार करने की आवश्यकता है।

१. स्त्रीमुक्ति

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्ष का अधिकारी है, उसी प्रकार स्त्री भी है। पर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया। इस बात का स्वयं दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य शास्त्रों से कहां तक समर्थन होता है यह बात विचारणीय है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है। किन्तु उन्होंने व्यवस्था से न तो गुणस्थान की चर्चा की है और न कर्मसिद्धान्त का विवेचन किया है, जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय चिन्तन शेष रह जाता है। शास्त्रीय व्यवस्था से इस विषय की परीक्षा गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त के आधार पर ही की जा सकती है। तदनुसार जब हम विचार करते हैं तो निम्न परिस्थिति हमारे सन्मुख उपस्थित होती है—

(१) दिगम्बर आम्नाय के प्राचीनतम ग्रंथ षट्खंडागम के सूत्रों में मनुष्य और मनुष्यनी अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों के अलग-अलग चौदहों गुणस्थान बतलाये गये हैं। देखो सत्प्र. सूत्र ९३; द्रव्य प्र. ४९, १२४-१२६; क्षेत्र पं. ४३; स्पर्शन प्र. ३४-३८, १०२-११०; काल प्र. ६८-८२, २२७-२३५; अन्तर प्र. ५७-७७, १७८-१९२; भाव प्र. २२, ४१, ५३-८०, १४४-१६१).

(२) पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि टीका तथा नेमिचन्द्र कृत गोम्मटसार ग्रंथ में भी तीनों वेदों से चौदहों गुणस्थानों की प्राप्ति स्वीकार की गई है। किन्तु इन ग्रंथों में संकेत यह किया गया है कि यह बात केवल भाववेद की अपेक्षा से

घटित होती है। इसका पूर्ण स्पष्टीकरण अमितगति व गोम्मटसार के टीकाकारों ने यह किया है कि तीनों भाव वेदों का तीनों द्रव्यवेदों के साथ पृथक्-पृथक् संयोग हो सकता है जिससे नौ प्रकार के प्राणी होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य द्रव्य से पुरुष होता है वही तीनों वेदों में से किसी भी वेद के साथ क्षपक श्रेणी चढ़ सकता है।

(३) किन्तु यह व्याख्यान संतोषजनक नहीं है क्योंकि—

(अ) सूत्रों में जो योनिनी शब्द का उपयोग किया गया है वह द्रव्य स्त्री को छोड़ अन्यत्र घटित ही नहीं हो सकता।

(ब) जहां वेद मात्र की विवक्षा से कथन किया गया है वहां ८वें गुणस्थान तक का ही कथन है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है।

(स) कर्म सिद्धान्त के अनुसार वेद-वैषम्य सिद्ध नहीं होता। भिन्न-भिन्न इन्द्रिय संबंधी उपांगों की उत्पत्ति सम्बन्धी यह नियम बतलाया गया है कि जीव के जिस प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का क्षयोपशम होगा उसी के अनुकूल वह पुद्गल रचना करके उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा। चक्षुइन्द्रिय आवरण के क्षयोपशम से कर्ण इन्द्रिय की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी और न कभी उसके द्वारा रूप का ज्ञान हो सकेगा। इसी प्रकार जीव में जिस वेद का बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल-रचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में नहीं आ सकेगा। इसी कारण तो जीवनभर वेद बदल नहीं सकता। यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कषायों व अन्य नोकषायों के समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है?

(द) नौ प्रकार के जीवों की तो कोई संगति ही नहीं बैठती, क्योंकि द्रव्य में पुरुष और स्त्रीलिंग के सिवाय तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता, जिससे द्रव्यनपुंसक के तीन अलग भेद बन सकें। पुरुष और स्त्री वेद में भी द्रव्य और भाव के वैषम्य मानने में ऊपर बताई हुई कठिनाई के अतिरिक्त और भी अनेक प्रश्न खड़े होते हैं। यदि वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भाव भेद का तात्पर्य ही क्या रहा? किसी भी उपांग विशेष को पुरुष या स्त्री कहा ही क्यों जाय? अपने विशेष उपांग के बिना अमुक वेद उदय में आयेगा ही किस प्रकार? यदि आ सकता है तो इसी प्रकार पांचों इंद्रियज्ञान भी पांचों द्रव्येन्द्रियों के परस्पर संयोग से पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो जाते? इत्यादि।

इस प्रकार विचार करने से जान पड़ता है कि या तो स्त्रीवेद से ही क्षपकश्रेणी चढ़ना नहीं मानना चाहिये, और यदि माना जाय तो स्त्रीमुक्ति के

प्रसंग से बचा नहीं जा सकता। उपलब्ध शास्त्रीय गुणस्थान विवेचन और कर्म सिद्धान्त में स्त्रीमुक्ति के निषेध की मान्यता नहीं बनती।

२. संयमी और वस्त्रत्याग

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार मनुष्य वस्त्र त्याग करके ही सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और वस्त्र का सर्वथा त्याग न करके भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। पर प्रचलित दिगम्बर मान्यतानुसार वस्त्र के सम्पूर्ण त्याग से ही संयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अतएव इस विषय का शास्त्रीय चिन्तन आवश्यक है।

(१) दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ भगवती आराधना में मुनि के उत्सर्ग और उपवाद मार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है (देखो गाथा ७९-८३)।

(२) तत्त्वार्थसूत्र में पांच प्रकार के निर्ग्रंथों का निर्देश किया गया है जिनका विशेष स्वरूप सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक टीका में समझाया गया है (देखों अध्याय ९, सूत्र ४६-४७)। इसके अनुसार कहीं भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता। बल्कि बकुश निग्रंथ तो शरीरसंस्कार के विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं। यद्यपि प्रतिसेवना कुशील के मूलगुणों की विराधना न होने का उल्लेख किया गया है, तथापि द्रव्यलिंग से पांचों ही निर्ग्रंथों में विकल्प स्वीकार किया गया है "भावलिंग प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति। द्रव्यलिंग प्रतीत्य भाज्याः"। (त. सू. ९, ४७ स. सि.) इसका टीकाकारों ने यही अर्थ किया है कि कभी-कभी मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं। मुक्ति भी सग्रंथ और निर्ग्रन्थ दोनों लिंगों से कही गई है। "निर्ग्रंथलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया" (त. १०, ९ सं. सि.)। यहां भूतपूर्वनय का अभिप्राय सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व का है।

(३) धवलाकार ने प्रमत्तसंयतों का स्वरूप बतलाते हुए जो संयम की परिभाषा दी है उसमें केवल पांच व्रतों के पालन का ही उल्लेख है— "संयमों नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः।"

इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रानुसार भी मुनि के लिये एकान्ततः वस्त्रत्याग का दिधान नहीं पाया जाता। हां, कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा विधान किया है, पर उस विधान का उक्त प्रमाण ग्रंथों से मेल नहीं बैठता।

३. केवली के भूख-प्यासादि की वेदना

कुन्दकुन्दाचार्य ने केवली के भूख-प्यासादि की वेदना का निषेध किया

है। पर तत्त्वार्थसूत्रकार ने सबलता से कर्मसिद्धान्तानुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदय जन्य क्षुधा-पिपासादि ग्यारह परीषह केवली के भी होती हैं (देखो अध्याय ९ सूत्र ८-१७)। सर्वार्थसिद्धिकार एवं राजवार्तिकार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मों के अभाव में वेदनीय का प्रभाव जर्जरित हो जाता है इससे वे वेदनाएं केवली के नहीं होती। पर कर्मसिद्धान्त से यह बात सिद्ध नहीं होती। मोहनीय के अभाव में रागद्वेष परिणति का अभाव अवश्य होगा पर वेदनीय जन्य वेदना का अभाव नहीं हो सकेगा। यदि वैसा होता तो फिर मोहनीय कर्म के अभाव के पश्चात् वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता? वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसके मानते हुए तत्संबंधी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्रसम्मत नहीं ठहरता।

दूसरे, समन्तभद्रस्वामी ने आप्तमीमांसा में वीतराग के सुख और दुःख का सद्भाव स्वीकार किया है यथा—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः।।९३।।

सरस्वती अमरावती।

जैनधर्म की विशेषताएँ

गांधीजी ने हर दृष्टि से प्राचीन भारतीय संस्कृति की वास्तविकताओं की ओर हमारी दृष्टि मोड़ी है और हमारी धारणाओं के सतत, निरन्तर भावों के अनुकूल उन्होंने समस्याओं का हल देखा और यह सर्व-धर्म-सम्मेलन की प्रवृत्तियों के बहुत अनुकूल है। जैनधर्म की विशेषताओं की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं और इस दृष्टि से भारतीय परम्पराओं में धर्म का जो स्थान है, उसका विश्लेषण मैं करना चाहता हूं। धर्म को अंग्रेजी में Religion Conception कहते हैं, किंतु यह धर्म शब्द का सच्चा अनुवाद नहीं है। ईश्वर के प्रति कर्मकाण्ड व चिंतन में आते है लेकिन अनासक्ति आदि अन्य बातों का समावेश उसमें नहीं होता। जो हमें धारण किये हुए है, वह धर्म है। सब धर्मों की वास्तविकतायें हमें उन व्यापक से व्यापक वृत्तियों से बचाये हैं जो हमें नीचे गिराती हैं और उन प्रवृत्तियों की ओर हमारी दृष्टि खींचती हैं जो हमें ऊपर उठाती हैं।

जैनधर्म के निषेधात्मक और विधानात्मक दो पहलू हैं। कौन-सी ऐसी वृत्तियां हैं, जिन्हें छोड़ने की आवश्यकता है और कौन ऐसे काम हैं, जो हमें करने चाहिए किन्तु हम नहीं करते। अपने यहां चार पुरुषार्थ माने गये हैं यथा, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनकी प्राप्ति के लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए; और यदि हम प्रयत्न कर सके तो हमारा जीवन सफल हो सकता है। इनको हम और देखें तो यथार्थ में दो पु षार्थ हैं और अन्य दो उनके साधन हैं। काम और मोक्ष पुरुषार्थ हैं और धर्म और अर्थ इनके साधन है। सांसारिक सुखों का संग्रह काम है और वह साधन जो हमें सांसारिक व्याधियों से बचाये मोक्ष है। जो प्रवृत्तियां हमारे जीवन में निरन्तर चला करती हैं और हमारे जीवन में जो संघर्ष चला करता हैं। रोज उसका अनुभव हमें होता है। धर्म में दो प्रवृत्तियां मुख्य हैं। श्रेय और प्रिय। श्रेय वृत्ति अर्थात् धार्मिक वृत्ति और मोक्ष की कामना और प्रिय यानि सांसारिक भोग विलासों की तृष्णा। इन दोनों प्रवृत्तियों के संघर्ष से जीवन में तनाव उत्पन्न होता है। इस तनाव में हमारी शक्ति काफी खर्च होती हैं जिसका मैं यदि उदाहरण दूं तो ऐसा खेल जिसमें दोनो और से रस्सा खींचा जाता है। जो अच्छा करना

चाहिए वही अच्छा लगे यह योगावस्था है। बुरा अच्छा न लगे यह संयम है। श्रेय और प्रेय के संघर्ष को मिटाना ही धर्म का ध्येय है। सांसारिक वासना और क्षणिक सुख तथा स्थाई सुख का योग करना और मनुष्य में ऐसी प्रवृति उत्पन्न करना कि वह श्रेय ही श्रेय समझे। वह धर्म का मूल है। जो करना चाहिए और जो करते हैं, उनमें एकत्व भाव ही योग वृत्ति है और बुरी तृष्णाओं का दमन ही संयम है। जिसको एक दृष्टि प्राप्त हो गई वही जीवन यथार्थ है और उसका नाम है सम्यकदृष्टि। इस कारण सम्यकदृष्टि जब तक प्राप्त नहीं होती तब तक धार्मिक जीवन प्राप्त नहीं हो सकता। धार्मिक दृष्टि की यह विशेषता है कि मेरे जीवन में भौतिक तत्वों का अधिक महत्व नहीं है। वह बाह्य संसार तक ही सीमित नहीं है। इसके अतिरिक्त जो तत्व मेरे भीतर शाश्वत हैं, जो स्वयं मैं हूं और जो तत्व न केवल मुझ में वरन् प्राणिमात्र में और समस्त जीव-जगत मं विद्यमान है। यह दृष्टि जब हो जाती है तब सम्यक दृष्टि कहलाती है। इसी दृष्टि से जैनत्व आरम्भ होता है। इस दृष्टि का प्राप्त न होना मिथ्यादृष्टि है। इसका उससे कौन सा संबंध है। जब वस्तु अच्छी होती है तो हमको उसकी रक्षा करनी चाहिए। यह ज्ञान प्राप्त न होने तक हममें सम्यक-दृष्टि नहीं आई। पहली बात जहां से धार्मिक जीवन का आरम्भ होता है, वह यह है कि हमारे जीवन को सम्यक जीवन प्राप्त हो जाय। जिसके विकास के लिए मैं प्रयत्न कर रहा हूं, वही सब जीवधारियों में है। यह दृष्टि तो सबमें हैं, लेकिन जैनधर्म कहता है कि वह दृष्टि हम केवल मनुष्य समाज मात्र तक सीमित न रखें बल्कि उसे समस्त कीड़े, पतंगे, जीवधारियों तक व्यापक बनायें। चूंकि हम सब एक ही पथ के पथिक हैं, अतः हममें भाई चारे का संबंध है। हमें देखना यह है कि इस राह में कौन कहां तक पहुंच पाया है। अहिंसा धर्म का यथार्थ तत्व यह है कि प्रत्येक जीव में जब हम ईश्वरीय तत्व स्वीकार करते हैं, तो यह कहां तक उचित है कि हम उसका वध करें। "जियो और जीनो दो।" यथाशक्ति दूसरे को हानि न पहुंचाते हुए अपने सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। हम आगे बढ़ें और उनको बिना बाधा-पहुंचाये आगे बढ़े। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय राजनीति में अहिंसा वृत्ति स्वीकार कर ली है। और इसे सारे संसार को देने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह दृष्टि बहुत अंश में समस्त मानव समाज ने स्वीकार कर ली है। एक दिन आयेगा और आना चाहिए कि यदि यह दृष्टि जीव मात्र तक व्यापक कर दी गई तो जीवन सफल हो जायेगा। अहिंसा का सिद्धान्त तो हमें अच्छा लगता है, लेकिन व्यावहारिकता में बड़ा ही संघर्ष होता है। हमें सब जीवों में अनेकांत-दृष्टि की व्यवस्था करनी चाहिए। इस संघर्ष के निवारण में अनेकांत-दृष्टि का आभास होना चाहिए। सर्वत्र एक व्यवस्था हो, ऐसा कभी

संभव नहीं है। वैचित्र्य का मजा तभी आता है जब विभिन्नता होती है और प्रकृति का नियम तो यही है कि एक वृक्ष के दो पत्ते एक रूप में नहीं होते। यदि हम विचार करके देखें कि जहां समानता नहीं ऐसी जगह संसार में नहीं और जहां समानता हो ऐसी जगह संसार में नहीं है। विरोध के साथ समन्वय स्थापित करो। विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय करना ही सत्य है। हाथी और अंधों की कहानी संसार के मतभेदों का एक अच्छा उदाहरण है। जिसको हम विरोध समझते हैं वह दूर हो जाये और उसमें समन्वय हो जाय इसका मनुष्य को सदैव ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य रोज की समस्याओं को सुलझा सकता है। इस समन्वय में संघर्ष आता है और वह यह है कि संसार की भौतिक वस्तुऐं तो प्राण हैं, और अर्थशास्त्र की दृष्टि से अर्थ तो मनुष्य के बढ़ाने का कारण और धार्मिक दृष्टि से तो यह है कि मनुष्य की वासना अतृप्त है और मनुष्य के तृष्णा के गड्ढे की तुलना में संसार भी एक अणु के समान है। इसके लिए हमें अपनी आवश्यकताओं को सीमित बनाना चाहिए। अपरिग्रह अर्थात् अकिंचन वृत्ति का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् कम से कम आर्थिक वृत्ति धार्मिक को हानि न पहुंचायें इसका ध्यान रखना चाहिए। आजकल विलासिता का स्तर बहुत बढ़ गया है और मनुष्य के जीवन में भेद बढ़ गया है। इसका मूल कारण सांसारिक वृत्ति है। वस्तुओं के गुण उत्पादन, व्यय, क्षय और सत (सत्ता) हैं। द्रव्य का लक्षण सत्ता है। उसमें कुछ व्यय और कुछ क्षय हो सकता है और उसकी सत्ता का कुछ भाग शेष रहता है। हर एक व्यवस्था परिवर्तनशील है, किन्तु उसमें ध्रुवत्व अवश्य रहेगा किन्तु वह किस तरह रहेगा यह काल और परिस्थितियाँ बतायेंगी।

सब व्यवस्थाएं मानने योग्य हैं—जब सम्यक्-दृष्टि में भेद न पड़े। दैनिक जीवन कार्यों के बाद संध्या को जीवन के समस्त कार्यों पर दृष्टि डालना चाहिए तथा विपरीत अर्थात् बुरे कार्यों पर पश्चाताप और अच्छे कार्यों पर संतोष करना चाहिए। धार्मिक वृत्ति के प्रतिकूल कार्य का प्रतिक्रमण करना चाहिए। गलती की है तो उसको लौटा आओ अर्थात् उसका अतिक्रमण करो। अपनी योग्यता से गांधीजी चाहते तो बड़े से बड़ा पद ले सकते थे। किन्तु वे तो विनोबाजी के समान अपरिग्रही थे। जब तक यह बात अपने जीवन में उतारी नहीं जा सकती तो उसका प्रभाव मनुष्य पर नहीं पड़ सकता।

यथा द्यौश्च पृथिवीच न विभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा विभे।

यह उन्नत आकाश और यह धरती जैसे,
भीति रहित हैं और निरंतर रहते अक्षय,
वैसे ही हे प्राण! अबाधित गति तेरी हो,
नष्ट न होना और सदा तू रहना निर्भय।

ऋषि परिचय

डॉ. हीरालाल जैन

संस्थापक आचार्य एवं अध्यक्ष
डॉ. हीरालाल जैन संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

इस महादेश के मध्यप्रदेश में नरसिंहपुर जिले में अंतर्गत गांगई ग्राम के प्रतिष्ठित मोदी परिवार में ५ अक्टूबर १८९९ को जन्में मेधावी हीरालाल ने राबर्टसन कालेज, जबलपुर, आगरा कालेज, आगरा और इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद से १९२२ में एम.ए. और एल.एल.बी. की शिक्षा प्राप्त की। उन्हें नागपुर विश्वविद्यालय ने १९४८ में डी.लिट. की उपाधि से अलंकृत किया।

डॉ. हीरालाल जैन, जबलपुर विश्वविद्यालय की सेवा में १९६१ से १९६९ तक आचार्य और अध्यक्ष पद पर कार्यरत रहे। पूर्व में, अधोदर्शित पदों पर उन्होंने १९२४ से १९६० तक अध्यापन और शोध-निर्देशन किया।

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती

आचार्य, संस्कृत विभाग, मारिस कालेज, नागपुर

प्राचार्य, नागपुर महाविद्यालय, नागपुर

निदेशक, प्राकृत व जैनालॉजी अध्ययन और शोध संस्थान, मुजफ्फरपुर (बिहार)

डॉ. हीरालाल जैन ने अपने जीवनकाल में १४ हजार पृष्ठों की शोध-सामग्री और २७ मूल्यवान ग्रंथों की रचनाकर प्राच्य भारतीय इतिहास, संस्कृति, भाषाशास्त्र और शिलालेखीय साहित्य की सर्वाधिक जटिल दिशा में अद्वितीय कार्य किया है।

आचार्य डॉ. हीरालाल जैन

डॉ. हीरालाल जैन प्राच्य विद्या के विशिष्ठ क्षेत्र 'जैन सिद्धान्त' तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा साहित्य के अप्रतिम और समर्पित विद्वान थे। ईसा की दूसरी शताब्दी में रचित षट्खंडागम का सात्विक श्रमसाध्य सम्पादन और आठवीं शती में लिखी गई उसकी धवलाटीका के भाष्य,

भाषानुवाद और शास्त्रीय भूमिका के साथ पोड़शिक प्रस्फोटन उनकी अन्य उपलब्धि है। जैन धर्म, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में अपने अद्वितीय योगदान के कारण वे जैन मनीषा की परम्परा में 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' पदवी से विभूषित किये जाने के अनन्य अधिकारी हैं।

उत्तर मध्ययुगीन लुप्त प्रायः अपभ्रंश साहित्य की विविध विधाओं की प्रतिनिधि रचनाओं की खोज, सम्पादन और उनकी संरचनात्मक भूमिका के साथ पुनारचना डॉ. हीरालाल जैन की अनुपम देन है। इस उपलब्धि से हिन्दी और आधुनिक भाषाओं के साहित्य की पूर्व परम्परा की टूटी कड़ियाँ जुड़ती हैं और भाषिक विकास तथा भारतीय चिंताधारा की रससिद्ध परम्परा पुष्ट होती है।

डॉ. हीरालाल जैन का व्यक्तित्व प्रभावशाली था। देव-गन्धर्वों की तरह सांचे में ढली उनकी गौरवर्णी देहयष्टि, उन्नत ललाट, आजानुबाहु, भव्य तन और दिव्य मन के हीरालाल किसी भी परिधान में मनमोहक थे। अनुपमेय थे। वे अनन्वय अलंकार की तरह अपनी उपमा आप ही थे। उनमें अपूर्व विद्वता थी जो अध्यापक की गरिमा और चिंतन की गुरुता से सदैव भासमान रही। मधुरालाप, सहजानुराग, ज्ञान के प्रति आग्रह, सहज जिज्ञासा, समताभाव, आडम्बर-शून्य सहज, सरल बौद्धिक तरलता, व्यक्ति को परखने की अद्भुत क्षमता, आसक्ति और कषायों पर सहज नियंत्रण, उनका प्रकृत रूप था नियमित प्राणायाम और योगाभ्यास से जीवन पर्यंत उनकी देह आकर्षक और चित्त सुकुमार बना रहा।

५ अक्टूबर १९९९ को डॉ. हीरालाल जैन की जन्म शताब्दी पूरी होती है और ५ अक्टूबर २००० को शताब्दी वर्ष। शतवार्षिकी आयोजनों में उनके प्रकशित साहित्य का प्रकाशन प्रमुख उद्यम है। शतवार्षिकी प्रकाशन के अंतर्गत उनके जीवन, व्यक्तित्व, कृतित्व और कुल परम्परा आदि की संक्षिप्त जानकारी हमारी योजना का अनिवार्य हिस्सा रहा है।

जीवन क्रम और रचनात्मक वर्ष

१८९९- पूर्व गोंडवाना राज्य (अब जिला-नरसिंहपुर तहसील गाडरवारा) के गांगई ग्राम के सुप्रसिद्ध मोदी कुल के धर्मपुरुष मोदी बालचंद जैन की सहधर्मिणी झुतरोदेवी की कोख से ५ अक्टूबर को जन्म।

१९०९- गांगई ग्राम की प्राथमिक शाला से प्राइमरी परीक्षा शतप्रतिशत अंकों से उत्तीर्ण। इसी वर्ष गाडरवारा के मिडिल स्कूल में प्रवेश। सप्ताहांत

में पितृगृह जाकर अगले ६ दिनों के लिये पूड़ी और आचार ले आते। अंततः आश्रयस्थल राममंदिर की पुजारिन से अन्न पकाना सीखकर शेष विद्यार्जन काल में स्वपाकी रहकर संतुष्ट।

१९१३- गाडरवारा से मिडिल परीक्षा सर्वोच्च अंकों में उत्तीर्ण कर जिला सदर मुकाम नरसिंहपुर में हाई स्कूल में प्रवेश। अब तक के छात्र हीरालाल को हेडमास्टर महोदय द्वारा उत्कृष्ट छात्र होने के फलस्वरूप में जैन सरनेम (कुलनाम) लिखने का निर्देश दिया। इसी वर्ष जमुनिया (गोटेगांव) वासी श्री शिवप्रसाद की सुकन्या सोनाबाई, जो पतिगृह में 'खिलौना' नाम के ख्यात हुई, से १४ वर्ष की अल्पायु में पाणिग्रहण।

१९१७- मैट्रिक की परीक्षा उच्चतम श्रेणी से उत्तीर्ण कर जबलपुर के राबर्टसन कॉलेज में उच्च शिक्षार्थ प्रवेश लिया। इसी वर्ष उन्हें प्रथम कन्या की उपलब्धि हुई जो भरे यौवन में पति और दो संतानों को छोड़कर स्वर्गवासी हुई। इस कालेज के अध्ययन काल में उन्हें जो दूसरी उपलब्धि हुई वह जीवनपर्यंत सुखकारी थी। यह उपलब्धि थी पं० कुंजीलाल दुबे, श्री भट्ट और न्यायमूर्ति श्री ताराचंद श्रीवास्तव की मैत्री।

१९२०- बी.ए. प्रथम श्रेणी उत्तीर्ण में करने के बाद वे पहले आगरा कालेज आगरा में पढ़ने गये। किन्तु प्राच्य विद्या तथा संस्कृत भाषा और साहित्य में विशेषज्ञता प्राप्त करने की ललक के कारण आगरा छोड़कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्ययन हेतु प्रवेश मिला। उनके इस अध्ययन काल की अन्य उपलब्धि थी- श्री जमनाप्रसाद सब जज और श्री लक्ष्मीचंद से मैत्री।

१९२२- उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में विशेष योग्यता के साथ एम.ए. और पिता की आज्ञा के परिपालन में एल.एल.बी. परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष उन्हें एक मात्र पुत्र की प्राप्ति हुई जिसने पिता के आचार-विचार को जीवन-पाथेय बनाकर प्रोफेसर, प्रशासक, प्राचार्य और विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर रहकर शिक्षाजगत की श्लाध्य सेवा की।

१९२४- इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने शोध-वृत्ति प्रदान कर शोधकार्य हेतु प्रेरित किया। इन्हीं दिनों उन्होंने जस्टिस जुगमंदर लाल जैन को गोम्मटसार के अनुवाद में सहयोग दिया। यही समय था जब वे कारंजा ग्रंथभण्डार का निरीक्षण कर अपभ्रंश भाषा में रचित ग्रंथों के चिंतन, गांभीर्य और

अभिव्यक्ति सौन्दर्य से परिचित हुये और उन्होंने प्राच्य विद्या के लुप्त रत्नों के उद्धार का मौन संकल्प लिया। इसी संकल्प की परिणति देश-विदेश में समादृत प्राच्यविद्याचार्य के रूप में दिखाई देती है।

१९२५- इस वर्ष उन्हें इंदौर राज्य की न्यायिक सेवा, विश्वविद्यालय की उच्चतम शोध-वृत्ति और म.प्र. एवं बरार शासन की महाविद्यालय सेवा के निमंत्रण मिले। रायबहादुर डॉ. हीरालाल के आत्मीय आदेश को स्वीकार कर उन्होंने किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती में असि. प्रोफेसर पद का कार्यभार ग्रहण किया।

१९२६- कारंजा ग्रंथ भंडार के ग्रंथों की विषयवार व्यवस्थित सूची तैयार की।

१९२७- अमरावती के जैन और विद्वत समाज में समादृत हुये।

१९२८- 'जैन शिलालेख संग्रह' पुस्तक का प्रकाशन और प्रथम कन्या का विवाह।

१९३२- 'सावयधम्म दोहा' और 'पाहुड़ दोहा' का सम्पादन और पांचवी कन्या की प्राप्ति।

१९३३- 'णायकुमारचरिउ' का सम्पादन। पं. नाथूराम प्रेमी से भ्रातृवत मैत्री का समारंभ।

१९३५- 'षट्खंडागम' का विश्लेषण और वीरसेन रचित 'धवला टीका' का सम्पादन कार्यारम्भ।

१९३८- धर्मपत्नी सोनाबाई उर्फ खिलौना का बिछोह। ज्ञानयज्ञ के संकल्प को पूरा करने में आये उपसर्गों का आरंभ।

१९३९- षट्खंडागम ग्रंथ- १ का प्रकाशन और 'जैन इतिहास की पूर्वपीठिका' कृति की रचना।

१९४०- षट्खंडागम ग्रंथ- २ का प्रकाशन तथा एकमात्र पुत्र का विवाह।

१९४१- षट्खंडागम ग्रंथ- ३ का प्रकाशन। पारिवारिक विवादों से मुक्ति।

१९४२- षट्खंडागम ग्रंथ- ४ और ५ का प्रकाशन।

१९४३- षट्खंडागम ग्रंथ- ६ का प्रकाशन। बनारस में आयोजित ओरियेन्टल कान्फरेन्स के प्राकृत और जैन अनुभाग की अध्यक्षता की तथा अपनी शोध और तर्क पूर्ण निष्पत्तियों से स्त्री-मोक्ष की पात्रता प्रमाणित की।

१९४४- अमरावती से मॉरिस कालेज, नागपुर में स्थानान्तरण। होस्टल वार्डन का दायित्व। प्रथम पौत्र की उपलब्धि।

१९४५- षट्खंडागम ग्रंथ- ७ का प्रकाशन। अमरावती के कालेज में पिता द्वारा रिक्त किये गये पद पर पुत्र की गौरवमयी पदस्थापना।

१९४७- षट्खंडागम ग्रंथ- ८ का प्रकाशन।

१९४८- नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा सर्वोच्च शोध-उपाधि डी.लिट् से अलंकृत। जन्मदात्री मां और प्राणप्रिय पौत्र का बिछोह।

१९४९- षट्खंडागम ग्रंथ- ९ का प्रकाशन।

१९५२- तत्वसमुच्चय कृति का प्रकाशन।

१९५३- स्नेही पिता का अवसान।

१९५४- षट्खंडागम ग्रंथ- १० का प्रकाशन। शासकीय सेवा में प्राचार्य पद से निवृत्ति।

१९५५- षट्खंडागम ग्रंथ- ११ का प्रकाशन। बिहार शासन अनुरोध पर नवनिर्मित "वैशाली इंस्टीट्यूट ऑफ संस्कृत, पालि, प्राकृत एण्ड जैनोलॉजी" के डायरेक्टर का पद ग्रहण। षट्खंडागम- १२ और १३ का प्रकाशन।

१९५७- षट्खंडागम जिल्द १४ और १५ का प्रकाशन।

१९५८- षट्खंडागम की अंतिम जिल्द का प्रकाशन।

१९६१- वैशाली इंस्टीट्यूट से त्यागपत्र देकर जबलपुर विश्वविद्यालय के अनुरोध पर संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग के प्रोफेसर और संस्थापक अध्यक्ष का पदभार ग्रहण।

१९६३- 'मयणपराजय' का प्रकाशन। 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' कृति का प्रकाशन।

१९६६- 'सुगंधदशमी कथा' रचना का प्रकाशन।

१९६९- विश्वविद्यालय की सेवा से निवृत्ति। पुत्र की कर्मस्थली धार में विश्राम।

१९७०- मोटर यान से देशाटन। इसी वर्ष 'सुदंसणचरिउ' और 'सुदर्शनचरित' रचनाओं का प्रकाशन।

१९७३- पुत्र की कर्मस्थली बालाघाट में विश्राम और लेखन। 'जसहरचिउ' के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन। मोदीवंश दोहावली का प्रकाशन। १३ मार्च-१९७३ को देहत्याग।

कुल परम्परा

मूल पुरूष-

महारानी दुर्गावती के पश्चात् गढ़ मण्डला के राजाओं की एक शाखा चौगान दुर्ग से गोंडल देश का राज्य शासन चलाती रही। यह दुर्ग गाडरवारा से १० मील दक्षिण में सतपुड़ा पर्वत पर निर्मित है। विक्रम की अठारवीं शताब्दी की समाप्ति के समय गोंडल नरेश के कृपापात्र एवं विश्वासप्राप्त थे एक श्रेष्ठी- श्री मचल मोदी। बुंदेल राजा प्रतापसिंह ने जब चौगान दुर्ग को अपने आक्रमण से तहस-नहस कर दिया तब गोंडल नरेश चीचली आ गये। अपने साथ वे लाये श्री मचल मोदी को। इन्होंने अपनी कर्मठता, सद्व्यवहार और धर्मप्रेम से धनसम्पत्ति, सम्मान और यश अर्जित किया। अपने धर्म-प्रेम को मूर्तरूप देने हेतु उन्होंने एक जिन मन्दिर का निर्माण कराया। मोदी मचल मोदीवंश के मूलपुरुष हैं।

ध्वज पुरुज़-

मोदी मचल के द्वितीय पुत्र थे खेतसिंह जिनके ज्येष्ठ पुत्र हुये जवाहर। जिनदेव पर इनकी अगाध श्रद्धा थी। वे जैन समाज के कर्णधार रहे और प्रतिष्ठा पाई। अपनी धार्मिक आस्थाओं को अपने वंशजों में प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से इन्होंने जिन-मंदिर की प्रतिष्ठा करवाकर उनमें पार्श्वनाथ की मनोरम प्रतिमा स्थापित कराई।

धर्म पुरुष-

खेतसिंह के चौथे सुत थे बालचंद। जब ये केवल चार वर्ष के थे तब इनके अग्रज इन्हें लेकर गांगई आ गये थे। गांगई में भी गोंडल नरेशों की एक शाखा राज्य करती थी। बालचंद बुद्धि और कौशल के धनी थे तथा अपने धर्म के प्रति इनकी विशेष लगन थी। मात्र १६ वर्ष की आयु में ये श्रद्धालुओं का एक संघ लेकर तीर्थयात्रा पर निकल पड़े तथा गिरनार, आबू, जयपुर, मक्सी, सिद्धवरकूट आदि तीर्थों की भक्ति-भाव से वंदना की। वहां से लौटकर ये स्वतंत्र रूप से व्यवसाय में जुट गये तथा विपुल धन अर्जित किया। अचल और अविनाशी सम्पत्ति के स्वामी बालचंद ने गांगई में जिन-मंदिर का निर्माण कराया। इससे गांगई नरेश अत्यंत प्रभावित हुये। मोदी बालचंद ने गोंडल राजा से सदा प्रतिष्ठा और अग्रज का मान पाया।

प्रज्ञा पुरुष-

बालचंद के छः पुत्र हुये। उनमें मझले थे हीरालाल। ये अपनी शिक्षा और

अध्ययन में विशेष रुचि रखते हुये अपनी ही टेक से आगे और आगे बढ़ते गये। गांगई से प्राथमिक, गाडरवारा से मैट्रिक जबलपुर से इन्टर और बी.ए. और इलाहाबाद से एम.ए. करने के बाद संस्कृत में शोधवृत्ति पाकर प्राचीन साहित्य में शोध की ओर अग्रसर हुये तथा प्राचीन ग्रन्थों के उद्धार का बीड़ा उठाया। पाहुड़ दोहा, सावयधम्म दोहा, करकंडचरिउ एवं णायकुमार चरिउ प्रभृत अपभ्रंश ग्रंथों के सम्पादन-प्रकाशन पर विश्वविद्यालय द्वारा इन्हें डी.लिट् की उपाधि से विभूषित किया गया। षट्खण्डागम और उसकी धवला टीका का सम्पादन इनके अध्यवसाय की चरम उपलब्धि थी। हिन्दी अनुवाद सहित यह ग्रन्थ १६ भागों में प्रकाशित है।

बिहार सरकार के आग्रह पर इन्होंने वैशाली में जैन शोध संस्थान स्थापित और विकसित किया। इसी अवधि में लिखी रचना 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' इतनी लोकप्रिय हुई कि उसका विभिन्न भाषाओं में अनुवाद किया गया। जबलपुर विश्वविद्यालय के विशेष अनुरोध पर आपने वैशाली से यहाँ आकर संस्कृत विभाग को पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के उच्चस्तरीय शोध का केन्द्र बनाया। 'तत्व समुच्चय' के प्रणयन के अतिरिक्त १५० शोधपत्रों का प्रकाशन और सुगंधदशमी कथा, सुदंसण चरिउ, मयण पराजय, कहकोसु, जसहर चरिउ का सम्पादन किया तथा अनेक ग्रंथमालाओं के सम्पादन मंडल के प्रमुख सम्पादक भी रहे। डॉ. हीरालाल मोहक व्यक्तित्व और अगाध ज्ञान के धनी थे। वस्तुतः वे तत्व दर्शन की विलुप्त विपुल सामग्री को प्रकाश में लाकर सटीक विवेचना करने वाले प्रज्ञा पुरुष थे।

मर्यादा पुरुष-

मोदी मचल की प्रस्फुटित वंशपरम्परा जिस मर्यादा-पुरुष में प्रफुल्लित हुई वह नाम, रूप, गुण में समत्व के धनी मोदी प्रफुल्ल हैं। धर्म की चेतना, ज्ञान और आचरण की सौम्यता के वंश-संस्कार उनके व्यक्तित्व में जीवन्त हैं। धर्म पुरुष डॉ. हीरालाल के एकमात्र पुत्र प्रफुल्लकुमार ने अध्ययन-अध्यापन के पैतृक दाय को प्रदेश के सबसे बड़े और देश के गिने-चुने विद्यापीठों में विशिष्ट सागर विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर प्रतिष्ठित होकर उत्कर्ष पर पहुंचाया। इस दुर्लभ शिक्षक-प्रशासक ने सिद्धांत से समझौता करने के बजाय शीर्ष काम्यपद को तृण-तुषवत त्यागकर मर्यादा-पुरुष के रूप में मोदीवंश की ख्यात और धर्म-पुरुष की आचरण-शुद्ध परम्परा को गरिमा प्रदान की।

डॉ० धरमचंद जैन भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ तथा जैनधर्म और साहित्य के वैज्ञानिक दृष्टिसम्पन्न अध्येता हैं। मध्यकालीन भाषा और साहित्य में उनकी रुचि और पकड़ श्लाध्य है। वे म० प्र० शासन के उच्चशिक्षा विभाग में लम्बे समय तक प्रोफेसर रहे हैं। भारतीय इतिहास और संस्कृति की जैन परंपरा के अध्ययन में अपनी रुचि और जुड़ाव को वे अपने पितृव्य डॉ० हीरालाल जैन के सान्निध्य की उपलब्धि मानते हैं।

25 वर्ष पूर्व डॉ० हीरालाल जैन के निधन पर उनकी अंतिम अप्रकाशित किन्तु नितांत महत्त्वपूर्ण कृति Jainism through Ages का हिन्दी अनुवाद और संक्षेपण डॉ० धरमचंद जैन ने किया था। ''प्रागैतिहासिक जैन परंपरा'' नामक इस कृति का प्रकाशन भारत जैन महामंडल, मुंबई द्वारा किया गया था। डॉ० हीरालाल जैन की जन्मशताब्दी (5 अक्टूबर 1999-5 अक्टूबर 2000) पर उनके शोध-आलेखों और अप्रकाशित रचनाओं का संकलन-सम्पादन कर डॉ० धरमचंद जैन ने जिन महत्त्वपूर्ण कृतियों को प्रबुद्ध समाज को दिया है, उनमें उल्लेखनीय हैं :

1. षट्खंडागम की शास्त्रीय भूमिका
   (प्राच्यश्रमण भारती, मुजफ्फरनगर)
2. रचना पुनर्रचना *(आगरा विश्वविद्यालय, आगरा)*
3. Jaina Tradition in Indian Thought
   (Sharada Publishing House, Delhi)
4. ''ऋषिकल्प''
   (डॉ० हीरालाल जैन स्मृति ग्रंथ)

ISBN : 81-85616-82-5

शारदा पब्लिशिंग् हाउस
दिल्ली-११० ०३५